V.F

ॐ

शल्य विज्ञान

'नव्य शल्य विज्ञान सहित'

(प्रथम भाग)

Y. M. T. & R. C. S. Ayurvedic
Medical College
Bombay-21.
Acc. No. 3706 Coll No
Date of Purchase 15/2/97

लेखक
सुरेन्द्र कुमार शर्मा
G.A.M.S.(Pb.); D.Ay.M; Ph.D.(B.H.U.);
भूतपूर्व अनुसन्धान अधिकारी, C.C.R.A.S.
प्राध्यापक, शल्य विभाग,
गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक कालेज, पटियाला (पंजाब)

आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, संस्कृत एवं
धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशक एवं विक्रेता

चौखम्भा संस्कृत संस्थान फोन 33445
CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक
पोस्ट बाक्स नं० 1139
के 37/116, गोपाल मन्दिर लेन (गालघर समीप मैदागिन)
वाराणसी - 221001 (भारत)

प्रकाशक :
नाथ पुस्तक भंडार
रेलवे रोड, रोहतक-124001
दूरभाष:- 77812, निवास 77811

नवीन संस्करण

मूल्य : 90-00

3706

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक :-
वेदव्रत शास्त्री
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस,
गोहाना रोड, रोहतक
फोन:- 74874

समर्पित

लेखक को विद्यार्थी बहुत ही प्रिय हैं, अतः उन्हीं को समर्पित है, लेखक की यह संरचना

—लेखक

प्रथम संस्करण

लेखक, अपने विद्यार्थी जीवन में शल्य तन्त्र के अध्ययन में उत्पन्न हुई कठिनाइयों को समक्ष रखते हुए, तथा अध्यापक के रूप में विद्यार्थियों को इस विज्ञान को समझाने में हो रही परेशानियों को देखते हुए ही इस पुस्तक की रचना के लिए प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत संरचना में लेखक ने अपनी विद्वता न दिखलाते हुए केवल विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ही समक्ष रखा है।

मर्म या षष्टि उपक्रमों जैसे आयुर्वेद के गम्भीर विषयों को तालिकादि के रूप में तथा नव्यमत द्वारा उन्हें अति सरल ढंग से समझाकर इस प्रकार से लिखा है जिससे कि सब विद्यार्थियों को आयुर्वेद के शल्य विषयों का पूर्ण ज्ञान हो सके। जिन शल्य विषयों का आयुर्वेद में पर्याप्त वर्णन नहीं है, उन्हें नव्य शल्य विज्ञान से पूरा किया गया है। आधुनिक विज्ञान के शब्दों को हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में दिया गया है ताकि आयुर्वेद में या आधुनिक विज्ञान में रुचि रखने वाले दोनों प्रकार के विद्यार्थी वर्ग इसे आसानी से समझ सकें। इसे अधिक सरल बनाने के लिए 100 से अधिक चित्रों को प्लेट्स रूप में या आवश्यकतानुसार भाषा प्रवाह के साथ-साथ दिया गया है।

आयुर्वेद के शल्य विज्ञान के प्रत्येक विषय को आधुनिक ढंग से शीर्षकों एवं उपशीर्षकों (Headings and sub-headings) के रूप में प्रस्तुत किया गया है, ताकि आधुनिक युग के विद्यार्थी को आयुर्वेद के शल्य तन्त्र के प्रत्येक विषय को याद करने तथा परीक्षा में प्रस्तुत करने में सुगमता रहे।

इस पुस्तक में भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् के पाठ्यक्रम का पूर्ण रूप से समावेश है। इसमें रक्ताधान (Blood transfusion), संज्ञानाश (Anaesthesia), स्तब्धता (Shock) इत्यादि आवश्यक आधुनिक विषयों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है ताकि विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति एक ही पुस्तक से हो सके।

शिक्षक, विद्यार्थी तथा अन्य पाठक गण इस पुस्तक के विषयों को और अच्छा बनाने के लिए जो स्वस्थ सुझाव देंगे, उसके लिए लेखक उनका आभारी होगा।

—लेखक

हमारे प्रकाशन एवं प्रसारित पुस्तकें

1	प्रारम्भिक पदार्थ परिचय	प्रो० ताराचन्द शर्मा
2	प्रारम्भिक रस परिचय	,, ,,
3	आयुर्वेद का परिचयात्मक इतिहास	,, ,,
4	आयुर्वेदीय पदार्थ दर्शन	,, ,,
5	आयुर्वेदीय शरीर रचना विज्ञान	,, ,,
6	आयुर्वेदीय सुभाषित साहित्यम्	,, ,,
7	शल्य विज्ञान (प्रथम भाग)	,, ,,
8	शल्य विज्ञान (द्वितीय भाग)	,, ,,
9	द्रव्यौषधि चार्ट (द्रव्यगुण विज्ञान)	रविदत्त त्रिपाठी
10	आयुर्वेदीय चिकित्सादर्श	माधोसिंह
11	सरल शिवराज विजय दीपिका	रामवासी पाण्डेय
12	कुमार सम्भव चतुर्थ सर्ग	शिवकुमार गौड़
13	आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान	,, ,,
14	अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान	,, ,,
15	स्वस्थ्यवृत्तम्	बलबीरदत्त शास्त्री
16	कौमारभृत्यम्	,, ,,
17	चिकित्सा दीपिका (प्रथम भाग)	,, ,,
18	चिकित्सा दीपिका (द्वितीय भाग)	चन्द्र प्रकाश दुबे
19	आरोग्य विज्ञान तथा जन-स्वास्थ्य	भजनदास स्वामी
20	रस दर्पण (प्रथम भाग)	,, ,,
21	रस दर्पण (द्वितीय भाग)	वत्स एवं शर्मा
22	रस शास्त्र क्रियात्मक पुस्तिका	संजय कुमार शर्मा
23	रस बिन्दु	बंसरीलाल साहनी
24	सचित्र रस शास्त्र	सुरेन्द्र क्षेत्रपाल
25	माधव निदान	अनन्तराम शर्मा
26	आपतकालिक निदान एवं चिकित्सा	शिवकुमार व्यास
27	आयुर्वेदीय द्रव्यगुण विज्ञान	सुरेन्द्र शर्मा
28	शल्य विज्ञान (प्रथम भाग)	,, ,,
29	शल्य विज्ञान (द्वितीय भाग)	विनयकुमार शास्त्री
30	रोग विज्ञान (प्रथम भाग)	,, ,,
31	रोग विज्ञान (द्वितीय भाग)	,, ,,
32	विकृति विज्ञान	गोपालकृष्ण सेनी
33	शरीर रचना पुस्तिका (प्रथम भाग)	,, ,,
34	,, ,, ,, (द्वितीय भाग)	,, ,,
35	,, ,, ,, (तृतीय भाग)	राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
36	अभिनव स्त्री रोग विज्ञान	,, ,,
37	अभिनव मानस रोग विज्ञान	,, ,,
38	संक्षिप्त शालाक्य तन्त्र	मोहनलाल पाठक
39	रासायन एवं बाजीकरण विवेचन	

विषय-सूची

अध्याय—1		पृष्ठ संख्या
	खण्ड क	
	शल्य तन्त्र की उत्पत्ति, सुश्रुत संहिता, सुश्रुत का काल, सुश्रुत के समकालीन शल्य विषयक ग्रन्थकार, बीसवीं शताब्दी में शल्य विषय पर लिखी गई पुस्तकें, सुश्रुत संहिता के टीकाकार, अष्टांगायुर्वेद में शल्य तन्त्र की अवनति के कारण, शल्य तन्त्र की उन्नति के उपाय, आधुनिक शल्य तन्त्र का इतिहास तथा आज तक हुई उन्नति।	1–24
अध्याय—2	व्याधियों का वर्गीकरण	25–31
अध्याय—3	सप्त धातु	32–39
अध्याय—4	द्रव्य संग्रह	40–46
अध्याय—5	व्रण शोथ (Inflammation)	47–56
अध्याय—6	विद्रधि (Abscess)	57–68
अध्याय—7	षष्टि उपक्रम	69–106
अध्याय—8	**खण्ड ख**	
	व्रण (Wounds and Ulcers)—व्रणपरीक्षा, व्रण अधिष्ठान, व्रण के भेद, निज व्रण, व्रण ग्रन्थि, नाड़ी व्रण, आगन्तुज व्रण, आगन्तुज व्रणों के उपद्रव—कोथ, ऊत्तीय शोफ, विसर्प, धनुस्तम्भ, जालक व्रण, दग्ध व्रण।	109–156
अध्याय—9	क्षुद्र रोग वर्णन	157–174
अध्याय—10	रक्तस्राव (Haemorrhage)	175–183
अध्याय—11	स्तब्धता (Shock)	184–191
अध्याय—12	आधान (Infusion)—रक्ताधान	192–204

		पृष्ठ संख्या
अध्याय—13	चिकित्सा कर्म (त्रिविध कर्म)	205–210
अध्याय—14	यन्त्र (Blunt instruments)—उपयन्त्र	211–229
अध्याय—15	शस्त्र (Sharp instruments)—अनुशस्त्र	230–241
अध्याय—16	योग्या (शल्य कर्माभ्यास Operative surgery)	242–244
अध्याय—17	विशिखानुप्रवेश (Entrance in medical practice)	245–248
अध्याय—18	संज्ञानाश (Anaesthesia)	249–270
अध्याय—19	निर्जीवाणुकरण (Sterilization)	271–277
अध्याय—20	क्षार कर्म	278–282
अध्याय—21	अग्नि कर्म	283–285
अध्याय—22	रक्त विस्रावण:—जलौका, शृंग, अलाबू, प्रच्छान एवं सिरावेध	286–297
अध्याय—23	मर्म (Vital organs)	298–310
अध्याय—24	प्रनष्ट शल्य (Foreign bodies)	311–318
अध्याय—25	व्रण बन्धन (Bandaging)	319–329
अध्याय—26	रोगी की सेवा (Patient's care)	330–341
अध्याय—27	प्रयोग शालीय परीक्षण	342–360
परिशिष्ट—	सुश्रुत संहिता की वर्णानुक्रमानुसार विषय सूची (Alphabetical index)	361–382

1
शल्य तन्त्र की उत्पत्ति

1. आयुर्वेद का ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा को स्वयं से हुआ था। इस ज्ञान के आधार पर ब्रह्मा ने जिस संहिता का निर्माण किया उसे ब्रह्म-संहिता कहा गया, परन्तु यह संहिता प्राप्य नहीं है।
2. सुश्रुत के अनुसार ब्रह्मा ने एक लाख श्लोक तथा दस हजार अध्यायों वाली ब्रह्म-संहिता का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया था।
3. दक्ष प्रजापति से आयुर्वेद का ज्ञान अश्विनी कुमारों को प्राप्त हुआ। इन अश्विनी कुमारों का चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान वैदिक संहिताओं में बहुतायत से उपलब्ध होता है। अश्विनी कुमार दो जुड़वाँ भाई थे जोकि अति सुन्दर थे तथा सदा ही युवा रहते थे। इन्हें स्वर्ग के वैद्य माना जाता था। अश्विनी कुमारों द्वारा देवताओं पर किए गये अनेक शल्य सम्बन्धी चिकित्सा कर्मों का उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है जैसे—
   (i) खेल राजा की पत्नी विश्पला की युद्ध में टांग कट जाने पर अश्विनी कुमारों ने उसको एक हल्की सी धातु की टाँग लगा दी थी।
   रथे शत्रुभिश्छिन्नं पादायाः खेल नृपपत्न्या
   विश्पला नामन्या अश्विनीभ्यामासं जंघा योजनम्। (ऋग्वेद)
   (ii) उपनिषदों में प्राप्त वर्णन के अनुसार रुद्र द्वारा यज्ञ का सिर काटे जाने पर अश्विनी कुमारों ने उसका सिर फिर से जोड़ दिया था।
   (iii) अश्विनी कुमारों ने ही ऋजाश्व को, पिता के शाप के कारण अन्धा होने पर आंखें प्रदान की थीं।
   (iv) इन्होंने पूषन के टूटे दांतों को ठीक किया था।
   (v) अश्विनी कुमारों ने दधीचि का सिर काटकर फिर उसे घोड़े का सिर लगाकर पुनः उसका अपना सिर लगाया था।
   (vi) अश्विनी कुमारों ने देवताओं की व्याधियों को नष्ट किया तथा उन्हें यौवन प्रदान किया था।
4. अश्विनी कुमारों से यह परम्परागत ज्ञान इन्द्र को प्राप्त हुआ, जिसे कि देवताओं का राजा माना जाता है।

5. इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान तीन विभिन्न सम्प्रदाय प्रवर्त्तक ऋषियों को प्रदान किया जो कि निम्नलिखित हैं—

(i) धन्वन्तरि (ii) भारद्वाज (iii) काश्यप

(i) धन्वन्तरि:—इनसे शल्य सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ । धन्वन्तरि 'काशी नरेश' के विषय में दो युक्तियाँ प्राप्त होती हैं जैसे : अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो ·····' (मैं ही आदि देव धन्वन्तरि हूँ) तथा मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्य' (मैंने जो यह ज्ञान याचकों को देना है) । इन अभिमानी शब्दों के अनुसार धन्वन्तरि दिवोदास से एक राजा का बोध होता है जो कि उपर्युक्त कथनानुसार काशी के राजा थे । अन्य कथा के अनुसार भगवान् धन्वन्तरि जो कि विष्णु के अंश माने जाते हैं तथा समुद्र मन्थन के समय अवतार के रूप में आविर्भूत हुए थे, वे दिवोदास धन्वन्तरि से भिन्न हैं । चरक संहिता में अनेक स्थानों पर धन्वन्तरि का मत दिया गया है तथा शल्य साध्य रोग की असाध्य अवस्था में धन्वन्तरियों का अधिकार कहा गया है, तथा सुश्रुत संहिता में अत्रि ऋषि का कोई वर्णन नहीं मिलता । इससे दिवोदास धन्वन्तरि, आत्रेय या अग्निवेश के पूर्व (1000 ई० पू०) का सिद्ध होता है । इनका समय 1000 से 1500 ई० पू० माना जाता है ।

हरिवंश पुराण के अनुसार काशीराज की वंशावली में धन्वन्तरि एक सम्प्रदाय विशेष माना गया है जो कि काशी नगरी से सम्बन्धित है । यह वंशावली इस प्रकार है ।

काश—दीर्घतपा—धन्व—धन्वन्तरि—केतुमान—भीमरथ—दिवोदास प्रतर्दन—वत्स—अलर्क । पौत्र तथा पितामह के नाम से 'धन्वन्तरि दिवोदास' नाम पड़ा ।

धन्वन्तरि को यद्यपि आयुर्वेद का पूर्ण ज्ञान था तथापि उन्होंने अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों के लिए इसे संक्षिप्त करके आठ अंगों में विभक्त कर दिया, जैसे : शल्य तन्त्र, शालाक्य तन्त्र, काय-चिकित्सा, भूत विद्या, कौमार भृत्य, अगद तंत्र, रसायन तन्त्र एवं वाजीकरण तन्त्र ।

6. धन्वन्तरि ने अपने शिष्यों की रुचि के अनुसार आयुर्वेद का ज्ञान शल्य ज्ञान को ही मुख्य रखकर, सुश्रुतादि शिष्यों को दिया था । इनमें से निम्नलिखित शिष्य मुख्य हैं—

औपधेनव	वैतरण
औरभ्र	पौष्कलावत
करवीर्य	गोपुररक्षित
सुश्रुत	

सुश्रुत इन सब शिष्यों में से अधिक बुद्धिमान था । उसने ही शल्य तन्त्र को पढ़ने की इच्छा प्रकट की थी तथा धन्वन्तरि जी से अधिकाधिक आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेकों तरह से प्रश्न किये थे । इसीलिए धन्वन्तरि दिवोदास ने शल्य ज्ञान का उपदेश अपने सभी शिष्यों में से सुश्रुत-को ही सम्बोधित करके दिया ।

शल्य तन्त्र पर सब शिष्यों ने अपनी-अपनी संहितायें लिखी थीं, परन्तु इनमें से सुश्रुत संहिता ही सबसे अधिक प्रचलित हुई ।

सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र कहे गये हैं (जिनका कि सम्बन्ध आयुर्वेद से है) । सुश्रुत से भिन्न एक वृद्ध सुश्रुत भी दिवोदास धन्वन्तरि के समय (1500 ई० पू०) में हुये माने जाते हैं । इन्होंने आद्य सुश्रुत संहिता लिखी । इसके पश्चात् द्वितीय सुश्रुत ने इसी सुश्रुत संहिता का **उपबृंहण** तथा प्रति-संस्कार किया । इसी को नागार्जुन ने चौथी शताब्दि में पुनः प्रति-संस्कारित किया तथा उत्तर तन्त्र भी साथ में जोड़ दिया, क्योंकि आज की उपलब्ध सुश्रुत संहिता के 120 अध्यायों की संख्या (जो सब आयुर्वेद की संहिताओं में पायी जाती है इसके उत्तर तन्त्र को छोड़कर ही होती है ।

सुश्रुत संहिता

सुश्रुत संहिता अनेक विषयों का सार (Encyclopedia) है । इसमें जिन विषयों का संकलन है वे केवल मात्र शल्य कर्म से ही सम्बन्धित नहीं हैं अपितु इनमें द्रव्य-गुण, काय-चिकित्सा इत्यादि विषय भी हैं । निम्नलिखित सन्दर्भों से संहिता के मुख्य विषयों का ज्ञान होता है ।

1. **शारीर** :—सुश्रुत ने ही सर्वप्रथम शारीर (Anatomy) के ज्ञान के लिए मृत शरीर (Dead body) का शवच्छेदन करने को कहा है ।

2. **उपकरण** :—इस संहिता में शल्य-कर्म सम्बन्धी उपकरणों का पर्याप्त विस्तार से वर्णन मिलता है । इसमें 20 प्रकार के शस्त्र (Sharp instruments) तथा 101 प्रकार के यन्त्र (Blunt instruments) बतलाये गये हैं । इन उपकरणों से सब प्रकार के शल्य कर्म आसानी से किये जा सकते हैं ।

3. **उपयन्त्र** :—अग्नि, क्षार, रक्त-विस्रावण (जलौका, तुम्बी, शृंग, प्रच्छना, सिरावेध) इत्यादि उपयन्त्रों का वर्णन अति सुन्दर ढंग से किया गया है ।

4. **व्रण**:—इस संहिता में अनेक तरह के व्रणों के वर्णन के साथ-साथ उनकी चिकित्सा भी विस्तृत रूप से अर्थात् साठ उपक्रमों (60 Procedures of wound treatment) में विभक्त करके बतलाई गई है ।

5. **संज्ञा-नाश** :—शल्य कर्म के समय रोगी की वेदना हरने के लिये (Anaesthesia) उसे तीक्ष्ण सुरा को पिलाने के लिए कहा गया है।

6. **शल्य कर्म** :—अश्मरी एवं आन्त्र-भेदनादि अनेक व्याधियों में शल्य कर्म करने का निर्देश किया गया है।

7. **प्रसूति विज्ञान** :—मूढ़ गर्भ की चिकित्सा (Obstetrics) तथा मृत गर्भ को निकालने की विधियों का भी पर्याप्त वर्णन किया गया है।

8. **भग्न** :—अस्थि भग्नों (Fractures) के प्रकार तथा चिकित्सा के सिद्धान्त, जो इस संहिता में बताये गये हैं वे आज भी प्रभावकारी सिद्ध हो रहे हैं।

9. **बन्ध एवं दग्ध** :—बन्धन प्रकार (Types of bandages) तथा दग्ध प्रकार (Types of burn) का जितना विस्तार सुश्रुत में मिलता है, आज के ज्ञान के आधार पर उसमें और कुछ विशेष नही जोड़ा जा सकता।

10. सुश्रुत में केवल मात्र व्याधियों की चिकित्सा का ही वर्णन नहीं मिलता बल्कि शल्य कर्म के उपरान्त उत्पन्न विकृतियों को यथा सम्भव सामान्य अवस्था में लाने की विधियाँ भी पर्याप्त रूप से वर्णित हैं जैसे—कृष्ण कर्म, रोम सञ्जनन इत्यादि। इसमें कर्णबन्ध इत्यादि प्लास्टिक सर्जरी के सिद्धान्तों का भी विशद वर्णन मिलता है।

11. इस संहिता में शालाक्य तन्त्र (Eye and E. N. T.) का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। इसमें लिंगनाश (Cataract), अधिमन्थ (Glaucoma) इत्यादि अनेक व्याधियों की शल्य विधियों का वैज्ञानिक आधार पर वर्णन किया गया है।

सुश्रुत संहिता के अध्याय :

(1) सूत्र स्थान = 46 अध्याय
(2) निदान स्थान = 16 अध्याय
(3) शारीर स्थान = 10 अध्याय
(4) चिकित्सा स्थान = 40 अध्याय
(5) कल्प स्थान = 8 अध्याय
(6) उत्तर तन्त्र = 66 अध्याय

(I) सूत्र स्थान :—

सूत्र स्थान में व्याधियों के हेतु, लिंग एवं औषधि को सूत्र (बीज रूप) में कहा गया है। इस स्थान के अध्यायों में निम्न विषयों का वर्णन मिलता है—

अध्याय क्रमांक	विषय
1.	आयुर्वेद का प्राचीनतम इतिहास एवं आयुर्वेद सम्बन्धित विषयों का परिचय
2.	आयुर्वेद के शिष्यों के प्रति उपदेश

3. संहिता के अध्याय एवं इनके विषयों का सम्यक् रूप से अध्ययन एवं प्रयोग
4. संहिता का सम्यक् अध्ययन
5. त्रिविध कर्मों का सोदाहरण वर्णन
6. विभिन्न ऋतुओं में करने योग्य कर्म (ऋतुचर्या)
7. विभिन्न यन्त्रों का उदाहरण सहित परिचय
8. विभिन्न शस्त्रों का उदाहरण सहित परिचय
9. शल्य कर्मों की अभ्यास विधि (योग्या)
10. चिकित्सा के पूर्व ध्यान देने योग्य बातें
11. क्षार वर्णन एवं इसका प्रयोग
12. अग्नि कर्म वर्णन एवं इसका प्रयोग
13. जलौका वर्णन एवम् इसका प्रयोग
14. सप्त धातु परिचय एवं रक्तमोक्षण ज्ञान
15. दोष, धातु एवं मल से क्षय एवं वृद्धि का ज्ञान
16. कर्णवेध का सविस्तार वर्णन, नासिका एव ओष्ठ की संधान विधि
17. शोथ रोग
18. बन्धन कर्म
19. व्रणित के सेवनीय एवं वर्जनीय कर्म
20. हितकर एवं अहित कर द्रव्यों का ज्ञान
21. त्रिदोष परिचय
22. व्रण एवं दुष्ट व्रण के लक्षण
23. व्रण की साध्यासाध्यता एवं व्रण के लक्षण
24. व्याधि प्रकार
25. अष्ट विध शस्त्र कर्म एवं मर्म व सिरा विद्ध के लक्षण
26. प्रनष्ट शल्य का ज्ञान
27. प्रनष्ट शल्य की निर्हरण विधियों एवं जल में डूबने पर चिकित्सा
28. व्रण के अरिष्ट लक्षण
29. दूत, शकुन एवं स्वप्न सम्बन्धी ज्ञान
30. रोगी के अरिष्ट लक्षण
31. मरणासन्न रोगी के लक्षण
32. 8 महारोग, रोगों के मृत्युकारक उपद्रव
33. विष से राजा की रक्षा के उपाय एवं चिकित्सा के 4 पाद
34. सार एवं अंग प्रत्यंग से आयु परीक्षा, अग्नि, औषध मात्रा एवं देश का ज्ञान
35. पृथ्वी परीक्षा, औषधियों का ग्रहण काल एवं ग्रहण स्थान

36. शोथ चिकित्सा के उपक्रमों में प्रयोज्य द्रव्य एवं उनकी कल्पनाएं
37. द्रव्य समूह के 37 गण
38. संशोधन एवं संशमन चिकित्सा उपयोगी द्रव्य एवं प्रयोग विधि
39. द्रव्य, रस, गुण, वीर्य एवं विपाक की प्रधानता में हेतु
40. द्रव्यों के विभिन्न वर्गीकरण (वायव्य, दीपनीय इत्यादि)
41. रस का परिचय एवं रसानुसार द्रव्य वर्ग
42. वामक द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग
43. विरेचनीय द्रव्यों का परिचय एवं प्रयोग
44. जल, दुग्ध, दही, घृत, तेल, मधु एवं इक्षु वर्ग के द्रव्यों के गुण एवं दोष
45. आहार प्रयोज्य पदार्थों (धान्य, फल, मांसादि) के प्रकार, अनुपान, आहार-विधि एवं अजीर्ण रोग

II निदान स्थान :—

निदान स्थान के 16 अध्यायों में व्याधियों के हेतु, पूर्व-रूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है।
1. वात व्याधि, 2. अर्श, 3. अश्मरी, 4 भगन्दर, 5. कुष्ठ, 6. प्रमेह एवं प्रमेह पिड़िका, 7. उदर रोग, 8. मूढ़ गर्भ, 9. विद्रधि, 10. विसर्प, नाड़ी एवं स्तन रोग, 11. ग्रन्थि, अर्बुद, गण्डमाला एवं अपची, 12. वृद्धि, उपदंश एवं श्लीपद, 13. क्षुद्र रोग, 14. शूक दोष, 15. भग्न, सन्धि-मोक्ष, अस्थि प्रकार, 16. मुख रोग

III शारीर स्थान :—

इस स्थान के 10 अध्यायों में पुरुष, प्रकृति, शुक्र, शोणित, गर्भ एवं भ्रूण से सम्बन्धित विषयों तथा शरीर के अवयवों का वर्णन किया गया है।
1. पुरुष एवं प्रकृति ज्ञान, 2. शुक्र एवं शोणित ज्ञान, सहवास विधि, गर्भाधान एवं असूग्दरादि विषयों का ज्ञान, 3. भ्रूण उत्पत्ति ज्ञान, 4. भ्रूणों के अवयवों की उत्पत्ति एवं वर्णन, निद्रा एवं देह प्रकृति ज्ञान, 5. शरीर के अवयवों की गणना, 6. मर्मज्ञान, 7. सिराओं का वर्णन, 8. सिरावेध चिकित्सा, 9. धमनी संख्या ज्ञान एवं स्रोतो विद्ध के लक्षण, 10 गर्भिणी, प्रसव एवं शिशु उपचार

IV चिकित्सा स्थान:—

चिकित्सा स्थान के 40 अध्यायों में शल्य सम्बन्धी रोगों का वर्णन किया गया है, आयुवर्द्धक कर्म, स्वस्थवृत्त एवं पञ्च कर्म का वर्णन भी मिलता है।
1. व्रण के 60 उपक्रमों द्वारा व्रण चिकित्सा एवं व्रणित के उपद्रव, 2. सद्यः व्रण के प्रकार, वर्णन एवं चिकित्सा, 3. भग्न एवं सन्धि-मोक्ष व्याधियों की

चिकित्सा, 4. वात-व्याधि चिकित्सा, 5. वात-रक्त एवं वात रोगों का वर्णन तथा चिकित्सा, 6. अर्श रोग चिकित्सा, 7. अश्मरी एवं शर्करा रोग चिकित्सा, 8 भगन्दर रोग चिकित्सा, 9. कुष्ठ रोग चिकित्सा, 10. महाकुष्ठ रोग चिकित्सा, 11. प्रमेह रोग चिकित्सा, 12. प्रमेह पिडिका चिकित्सा, 13. मधुमेह रोग चिकित्सा, 14. उदररोग चिकित्सा, 15. मूढ़-गर्भ चिकित्सा, 16. विद्रधि चिकित्सा, 17. विसर्प, नाड़ी एवं स्तन रोग की चिकित्सा, 18. ग्रन्थि, अपची, अर्बुद एवं गलगण्ड की चिकित्सा, 19. वृद्धि, उपदंश एवं श्लीपद की चिकित्सा, 20. क्षुद्र रोग चिकित्सा, 21. शूक दोष चिकित्सा, 22. मुख रोग चिकित्सा, 23. शोफ रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 24. स्वस्थवृत्त के नियम, 25. कर्ण पाली के रोग एवं पलित रोग चिकित्सा, मुख को कोमल करने का योग, 26. क्लीवता एवं वाजीकरण, 27. वय वर्द्धक आहार एवं औषधियाँ, 28. मेधा वर्द्धक योग एवं रसायन, 29. सोम प्रयोग एवं आयु वर्द्धन, 30. रसायन औषधियाँ, 31. स्नेहों का वर्णन एवं स्नेहन कर्म, 32. स्वेदन का वर्णन एवं स्वेदन कर्म, 33. वमन एवं विरेचन कर्म, 34. वमन एवं विरेचन के व्यापद्, 35. वस्ति कर्म, 36. नेत्र वस्ति के व्यापद्, 37. अनुवासन वस्ति एवं उत्तर वस्ति कर्म, 38. निरुह वस्ति कर्म. 39. पञ्चकर्म उपरान्त उत्पन्न उपद्रवों से रक्षा के लिये आहार एवं आहार-विधि, 40. धूम्रपान, नस्य एवं कवल धारण।

V कल्प स्थान :—

कल्प स्थान के 8 अध्यायों में विभिन्न प्रकार के विषों का वर्णन किया गया है। इन विषों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा भी बताई गई है।
1. विषों का वर्णन एवं इनसे रक्षा के उपाय, 2. स्थावर विषों के भेद, उनसे उत्पन्न लक्षण एवं उनकी चिकित्सा, 3 जंगम विषों के भेद. उनसे उत्पन्न लक्षण एवं उनकी चिकित्सा, 4. सर्पों का वर्णन एवं उनके दंश से उत्पन्न लक्षण, 5. सर्प-दंश विष की चिकित्सा, कीट-विष एवं चूहे के विष की चिकित्सा, 6 विष चिकित्सा के लिये प्रयुक्त योग, 7 चूहे एवं अन्य पशुओं के विषों से उत्पन्न लक्षण एवं उनकी चिकित्सा, 8. कीट, मण्डूक, बिच्छु एवं लूतादि के विषों से उत्पन्न लक्षण एवं उनकी चिकित्सा।

VI उत्तर तन्त्र :—

संहिता के इस भाग में 66 अध्यायों का समावेश है। इन अध्यायों में उन रोगों का वर्णन एवं चिकित्सा बताई गई है जो या तो किसी छोटे अवयव से सम्बन्धित हैं या वे रोग सीमित लक्षणों को ही उत्पन्न करते हैं।
1. नेत्र की रचना एवं इसके 76 रोगों की गणना, 2. नेत्र-सन्धिगत रोगों

का वर्णन, 3. नेत्र वर्त्मगत रोगों का वर्णन, 4. नेत्र शुक्ल गत रोगों का वर्णन, 5. नेत्र कृष्ण गत रोगों का वर्णन, 6. सर्व नेत्रगत रोगों का वर्णन, 7. दृष्टि गत रोगों का वर्णन, 8. नेत्र रोगों में चिकित्सा कर्म, 9 वाताभिष्यन्द एवं वात अधिमन्थ चिकित्सा, 10. पित्ताभिष्यन्द एवं पित्ताधिमन्थ चिकित्सा, 11. कफाभिष्यन्द एवं कफाधिमन्थ चिकित्सा, 12. रक्ताभिष्यन्द एवं अधिमन्थ चिकित्सा, 13. लेख्य रोग चिकित्सा, 14. भेद्य रोग चिकित्सा, 15. छेद्य रोग चिकित्सा, 16. पक्ष्म कोप चिकित्सा, 17. दृष्टि गत रोग चिकित्सा, 18. नेत्र रोगों में क्रिया-कल्प तर्पण, पुटपाक, आश्च्योतन एवं अञ्जन), 19. नेत्राभिघात एवं इसकी चिकित्सा, 20. कर्ण रोग वर्णन 21. कर्ण रोग चिकित्सा, 22. नासा रोग एवं प्रतिश्याय, 23. नासा रोग चिकित्सा, 24. प्रतिश्याय चिकित्सा, 25. शिरो रोग वर्णन, 26. शिरो रोग चिकित्सा, 27. नवग्रह लक्षण, 28. स्कन्द-ग्रह चिकित्सा, 29. स्कन्दापस्मार ग्रह चिकित्सा, 30. शकुनि ग्रह चिकित्सा, 31. रेवती ग्रह चिकित्सा, 32. पूतना ग्रह चिकित्सा, 33. अन्धपूतना ग्रह चिकित्सा, 34. शीत पूतना ग्रह चिकित्सा, 35. मुख मण्डिका ग्रह चिकित्सा, 36. नैगमेष ग्रह चिकित्सा, 37. 9 ग्रहों की उत्पत्ति, 38. योनि व्यापद् एवं उनकी चिकित्सा, 39. ज्वर रोग चिकित्सा, 40. अतिसार रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 41. शोष (यक्ष्मा) रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 42. गुल्म रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 43. हृदय रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 44. पाण्डु रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 45. रक्तपित्त रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 46. मूर्च्छा रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 47. मदात्यय रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 48. तृष्णा रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 49. छर्दि रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 50. हिक्का रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 51. श्वास रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 52. कास रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 53. स्वरभेद रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 54. कृमि रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 55. उदावर्त रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 56. विसूचिका रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 57. अरोचक रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 58. मूत्राघात रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 59. मूत्र-कृच्छ्र रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 60. उपसर्ग रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 61. अपस्मार रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 62. उन्माद रोग वर्णन एवं चिकित्सा, 63. दोष-प्रसार, मधुरादि रसों के भेद, 64. स्वस्थ-वृत्त सम्बन्धित ऋतु अनुसार आहार व्यवस्था, 65. तन्त्र की 32 युक्तियाँ, 66. दोषों के 62 भेदों के नाम।

नोट:—सुश्रुत संहिता के किसी भी विषय के सन्दर्भ को तुरन्त ढूंढने के हेतु, इस पुस्तक के अन्त में (परिशिष्ट में) वर्णानुक्रमानुसार विषय सूची (Alphabetical Index) दी गई है। इस सूची से विद्यार्थियों को मूलग्रन्थ "सुश्रुत संहिता" का अध्ययन करने में अत्यन्त सुविधा प्राप्त होगी।

सुश्रुत का काल

सुश्रुत किस काल में हुए, इसका अभी तक ठीक से निर्णय नहीं हो पाया है। कुछ विद्वान् इनका काल दूसरी या तीसरी शताब्दि मानते हैं परन्तु अन्य इन्हें 500–1000 ई० पू० मानते हैं। इनके काल के सम्बन्ध में निम्न युक्तियाँ मिलती हैं—

1. सुश्रुत में वर्णित सूतिकागार-ब्राह्मण के लिये श्वेत मिट्टी से, वैश्य के लिये पीली मिट्टी से तथा शूद्र के लिये कृष्ण मिट्टी द्वारा बनाने के लिये कहा है। इसके अतिरिक्त सुश्रुत में औषधि निर्माण के पश्चात् पूजा करने तथा ब्रह्म भोज कराने का भी उल्लेख है तथा इसमें राम और कृष्ण के सन्दर्भ मिलते हैं। इन सब युक्तियों से इसका समय बौद्ध धर्म के पश्चात् अर्थात् एक से चौथी शताब्दि का जान पड़ता है। इसी समय में हिन्दू धर्म की दूसरी क्रान्ति हुई थी तथा बौद्ध धर्म का प्रचार समाप्त हो गया था। "महेन्द्र राम कृष्णानां गवामपि" (सुश्रुत संहिता), राम कृष्ण का नाम एवं वासुदेव धर्म, जिसका चौथी शताब्दि में उत्थान हुआ, वह भी इसी काल का द्योतक है।
2. सुश्रुत में अनेक स्थानों का वर्णन आता है, जैसे—पूर्व में कलिंग देश, उत्तर में कुरु (यान शान), महेन्द्र पर्वत तथा देवगिरि, केसर के विषय में कश्मीर के वर्णन इत्यादि से भी पता चलता है कि यह समय महाभारत के आस-पास का है, क्योंकि महाभारत में उपर्युक्त देवगिरि इत्यादि पर्वतों का वर्णन मिलता है।
3. सुश्रुत का परिचय सारे भारत से था जैसा कि निम्न युक्ति से जान पड़ता है। सातवाहन युग में उत्तर का दक्षिण से परिचय हुआ था। इसी समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह रुद्रदमन द्वितीय, वाराटक के शासक (जो सातवाहन युग में हुए हैं इसे वाराटक युग भी कहते हैं) से किया था। चन्द्रगुप्त के समय में ब्राह्मणों का आदर होता था तथा जातिवाद का अधिक प्रचार था, ऐसा सन्दर्भ सुश्रुत में भी प्राप्त होता है (चन्द्रगुप्त का समय दूसरी शताब्दि का माना जाता है)।
4. अशोक तथा मौर्य वंश के पश्चात् ही सुश्रुत का प्रति-संस्कर्ता नागार्जुन हुआ जो सातवाहन राजा का मित्र था, जिसका कि वर्णन बाण ने अपने हर्ष-चरित में किया है। यह समय दूसरी शताब्दि के पास का है।

सुश्रुत के समकालीन शल्य विषयक ग्रन्थकार

सुश्रुत संहिता में प्राप्त वर्णन के अनुसार दिवोदास धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के शल्य तन्त्र का ज्ञान सुश्रुत को सम्बोधित करते हुए, वहाँ पर उपस्थित सब ऋषियों को दिया। तत्पश्चात् प्रत्येक ऋषि ने शल्य विषय पर अपना-अपना ग्रन्थ लिखा। इन

में से आज पूर्ण रूप में सुश्रुत रचित एकमात्र ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है, जो कि सुश्रुत संहिता के नाम से प्रचलित है।

अन्य ग्रन्थकारों का परिचय सुश्रुत के अध्ययन से तथा डल्हण की टीका के सन्दर्भों से प्राप्त होता है। अन्य शल्य विषयक ग्रन्थ जो सुश्रुत समकालीन लिखे गये, उनमें से मुख्य निम्न हैं :—

(1) औपधेनव तन्त्र (2) औरभ्र तन्त्र (3) बृहत् सुश्रुत तन्त्र
(4) सुश्रुत तन्त्र (5) पौष्कलावत तन्त्र (6) करवीर्य तन्त्र
(7) गोपुर रक्षित तन्त्र (8) भालुकि तन्त्र (9) कपिलबल तन्त्र
(10) सुभूति गौतम तन्त्र (11) वृद्धभोज तन्त्र (12) भोज तन्त्र
(13) कृतवीर्य तन्त्र

बीसवीं शताब्दि में शल्य विषय पर लिखी गई अन्य हिन्दी पुस्तकें

बीसवीं शताब्दि में शल्य विषय पर लिखी गई अन्य पुस्तकों की तालिका

क्रम सं०	पुस्तकों का नाम	लेखक	सन्
1.	शल्य तन्त्र समुच्चय	पं० वामदेव मिश्र	1929
2.	शल्य समन्वय (दो खण्डों में)	अनन्त राम शर्मा	1963-65
3.	सौश्रुति	रमानाथ द्विवेदी	1968
4.	शल्य-शालाक्य तन्त्र (मराठी, दो खण्डों में)	जोशी, आठवले तथा राजवाडे	1960
5.	शल्य तन्त्र में रोगी परीक्षा	प्र० ज० देशपाण्डे	1955
6.	सर्जिकल एथिक्स (Surgical ethics)	जी० डी० सिंघल	1963

आधुनिक शल्य तन्त्र के हिन्दी अनुवाद रूप में लिखे गये ग्रन्थ जैसे :—

(i) संक्षिप्त शल्य विज्ञान मुकुन्द स्वरूप वर्मा कृत
(ii) शल्य प्रदीपिका ,, ,,

सुश्रुत संहिता के टीकाकार

सुश्रुत संहिता के अनेक टीकाकार हुए हैं परन्तु इनकी टीकायें उपलब्ध नहीं हैं। डल्हण ने ऐसे बहुत से टीकाकारों का परिचय दिया है जिनके विषय में आज तक अधिक ज्ञान नहीं हो पाया है।

(1) **श्री जेज्जट** :—सुश्रुत संहिता के आदि टीकाकार, वाग्भट्ट के शिष्य,

श्री जेज्जट माने जाते हैं। इनकी सुश्रुत की टीका तो प्राप्त नहीं है परन्तु डल्हण तथा मधुकोश की व्याख्याओं में इनका निर्देश मिलता है जिससे श्री जेज्जट का बोध होता है।

(2) **गयदास** : सुश्रुत के दूसरे टीकाकार गयदास हैं जिनका समय 7वीं या 8वीं शताब्दी माना जाता है। गयदास की टीका का नाम 'पञ्जिका' टीका है।

(3) **डल्हण** :—यह सुश्रुत के मुख्य टीकाकार हैं तथा इनकी 'निबन्ध' टीका का ही अधिक प्रचार है, जो कि बहुत सरल तथा एकमात्र सुश्रुत की उपलब्ध सम्पूर्ण टीका है। डल्हण मथुरा के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भरतपाल वैद्य था जो कि मथुरा के पास भदानक ग्राम के निवासी थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना जाता है।

(4) **चक्रपाणि** :—चक्रपाणि की टीका का नाम 'भानुमती' है। इनकी टीका को तात्पर्यटीका भी कहते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इन्होंने रक्त परिभ्रमण का वर्णन एवं हृदय की रचना (Anatomy) का वर्णन आज के विज्ञान के अनुसार किया है। **'चतुः प्रकोष्ठं हृदय वामदक्षिण भागतः। तस्याधो दक्षिणौ कोष्ठौ गृहीत्वाऽशुद्ध शोणितम्···।"**

सुश्रुत के उपरोक्त चार ही मुख्य टीकाकार माने जाते हैं। डल्हण ने अपनी टीका में अपने से पूर्व के टीकाकारों का मत दिया है। इससे डल्हण के पूर्व के टीकाकारों के नामों का ज्ञान होता है परन्तु इनकी सुश्रुत संहिता पर टीकायें प्राप्य नहीं हैं। ये टीकाकार निम्नलिखित हैं :—

(i) **विप्रचण्डाचार्य**—जोकि चौथी-पाँचवीं शताब्दी में हुए।

(ii) **माधवकार**—इन्होंने सहस्र सुश्रुत विधान सुश्रुत श्लोक वार्तिक बनाया। इनका समय 7वीं–8वीं शताब्दी माना जाता है।

(iii) **कार्तिक कुण्ड वैद्य**—यह 9वीं–10वीं शताब्दी के माने जाते हैं।

(iv) **सुवीराचार्य**—यह 10वीं शताब्दी में हुए।

(v) **भास्कर भट्ट**—आपने 'पञ्जिका' टीका लिखी तथा आपका समय 10वीं–11वीं शताब्दी माना जाता है।

(vi) **ब्रह्मदेव**—इन्होंने सुश्रुत पर टिप्पणी तथा व्याख्या लिखी, इनका समय भी 11वीं शताब्दी माना जाता है।

(vii) **गदाधर**—इन्होंने सुश्रुत की व्याख्या लिखी। इनका समय 11वीं–12वीं शताब्दी माना जाता है।

(5) **हारायण चन्द्र**—हारायण चन्द्र जी 1905 ई० में हुए। ये गंगाधर के शिष्य थे। इन्होंने सुश्रुत संहिता पर टीका लिखी जिसे कि आपने 1971 ई० में पूरा किया।

नोट—डल्हण के अनुसार नागार्जुन सुश्रुत संहिता का प्रतिसंस्कर्ता है परन्तु टीकाकार नहीं।

अष्टाङ्गायुर्वेद में शल्य तन्त्र की प्रधानता

सुश्रुत ने शल्य तन्त्र को अधिक मान्य (प्रधान) कहा है—

"अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्" —सु० सू०

शल्य तन्त्र आयुर्वेद के आठों अंगों में निम्नलिखित कारणों से प्रधान माना जाता है :—

(1) **आशुकारी चिकित्सा**—शल्य तन्त्र में यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, रक्त विस्रावण इत्यादि से सिद्ध होने वाली अनेक प्रकार की आशुकारी चिकित्साओं का वर्णन किया गया है। इसके विपरीत अन्य तन्त्रों में चिकित्सा औषधि द्वारा की जाती है जिससे लाभ होने में अधिक समय लगता है।

(2) **विविध प्रकार की चिकित्सायें**—इस तन्त्र में लगभग प्रत्येक रोग के लिये अनेक प्रकार की चिकित्सायें बताई गयी हैं जैसे अर्श की शल्य चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा, क्षार चिकित्सा इत्यादि। इनमें से चिकित्सक रोग तथा रोगी के अनुसार किसी भी एक या अनेक चिकित्साओं का आश्रय ले सकता है।

(3) **व्याधियों का समूल नाश**—शल्य कर्म द्वारा नष्ट की गयी व्याधियाँ प्रायः समूल समाप्त हो जाती हैं (जैसे अर्बुद का छेदन कर्म)। परन्तु औषध चिकित्सा के उपरान्त व्याधियों का प्रायः पुनः प्रादुर्भाव हो जाया करता है।

(4) **गम्भीर अवस्था में प्रभावकारी**—अनेक रोगों की गम्भीर अवस्था में या अनेक मृत्यु आसन्न रोगियों में शल्य कर्म द्वारा तुरन्त लाभ होता है, जैसे मूत्र-जठर (Retention of Urine), छिद्रोदर (Perforation of intestine) इत्यादि में।

(5) **औषध-असाध्य रोगों की सफल चिकित्सा**—औषधि से न ठीक होने वाले रोग जिनमें कि अवयवों में विकृति (Organic defects) आ जाती है वे रोग प्रायः शल्य कर्म से ठीक हो जाते हैं, जैसे चरक ने अर्श, उदर तथा गुल्म रोगों में शल्य चिकित्सा का आश्रय लेने के लिये कहा है।

(6) **शल्य कर्म एकमात्र चिकित्सा**—कुछ व्याधियाँ केवल मात्र शस्त्र साध्य होती हैं जैसे नासा-सन्धान, कर्ण-सन्धानादि, प्लास्टिक सर्जरी (Plastic surgery) तथा मूढ़ गर्भ की चिकित्सा (Obstetric surgery) इत्यादि।

(7) **आघातज अवस्थाओं में आपात्-चिकित्सा** (Traumatic emergencies)—अनेक प्रकार की आघातज अवस्थाओं में जैसे छिद्रोदर (Traumatic perforation of intestine), सव्रण भग्न (Compound fractures), अन्तः रक्त-स्राव इत्यादि में केवल मात्र शल्य कर्म चिकित्सा ही उपयोगी सिद्ध होती है।

(8) **अर्थ तथा यश देने वाली चिकित्सा**—इस चिकित्सा द्वारा रोगी भयानक रोग से भी तुरन्त लाभ पाकर शल्य चिकित्सक का सदैव कृतज्ञ रहता है तथा चिकित्सक को रोगी से धन और यश की प्राप्ति होती है।

शल्य तन्त्र की अवनति के कारण

शल्य तन्त्र सुश्रुत काल में उन्नति की चरम सीमा पर था। इसके पश्चात् इस तन्त्र की कोई विशेष उन्नति हुई, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, परन्तु इस तन्त्र की अवनति अवश्य हुई है। धीरे-धीरे इस तन्त्र का चिकित्सकों द्वारा प्रभावकारी अर्थात् शल्य कर्म करना प्रायः लुप्त हो गया, जिसके निम्नलिखित अनेक कारण माने जाते हैं।

(1) **प्रभावकारी संज्ञाहर औषधि का अभाव** (Lack of effective anaesthetic agent)—सुश्रुत काल में जो शल्य कर्म होते थे वे रोगी को तीक्ष्ण मद्य पिलाकर किये जाते थे। क्योंकि वेदना हरने के लिये अन्य कोई प्रभावकारी संज्ञाहर औषधि उपलब्ध नहीं थी, जैसा कि आज के युग में ईथर इत्यादि सार्वदैहिक संज्ञाहर औषधियाँ प्राप्त हैं। इसी कारण इस तन्त्र में कोई उन्नति नहीं हो पायी, परन्तु इसका ह्रास ही होता रहा।

(2) **प्रभावकारी जीवाणुनाशक तथा प्रतिजीवी औषधियों** (Antiseptics and antibiotics) **का अभाव**—आजकल की तरह तीव्र जीवाणुनाशक औषधियों के अभाव के कारण प्राचीन चिकित्सकों द्वारा किये गये शल्य कर्मों में अनेक घातक उपद्रव उत्पन्न हो जाते होंगे। इसीलिये बड़े-बड़े शल्य कर्म (Major operations) उसी अवस्था में किये जाते थे जब शल्य कर्म न करने से रोगी की मृत्यु निश्चित समझी जाती थी, जैसे मूत्राश्मरी के शल्य कर्म में कहा गया है **'अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्**·····अर्थात् शल्य कर्म न करने से रोगी निश्चित ही मर जायेगा तथा शल्य कर्म करने से हो सकता है जीवित रह सके। इसीलिये प्रभावकारी जीवाणुनाशक तथा प्रतिजीवी औषधियों का अभाव इस तन्त्र की उन्नति में ह्रास का कारण माना गया है।

(3) **शवच्छेदन** (Disection) **कर्म का अभाव**—सुश्रुत ने शरीर की रचना का ज्ञान मृत शरीर से करने को कहा है, क्योंकि शरीर रचना के ज्ञान के बिना शल्य कर्म नहीं हो सकते। सुश्रुत के पश्चात् काल में शवच्छेदन (Disection on dead body) का कोई प्रमाण नहीं मिलता जोकि इस तन्त्र के ह्रास का एक कारण कहा जा सकता है।

(4) **बाह्य आक्रमण** (Foreign invasions)—सातवीं-आठवीं शताब्दी में देश पर अनेक बाह्य आक्रमण हुए इससे हमारे विज्ञान तथा संस्कृति का नाश हुआ। इन आक्रमणों का प्रभाव आयुर्वेद के शल्य तन्त्र पर भी समान रूप से पड़ा।

(5) **मुसलमानों का आधिपत्य**—देश पर मुसलमानों का राज्य हो गया था जोकि बहुत ही विलासी थे। इस काल में रस तथा वाजीकरण चिकित्सा का ही

अधिक प्रयोग हुआ। इससे आयुर्वेद के अन्य अंगों के साथ-साथ शल्य तन्त्र का भी ह्रास हुआ।

(6) **अंग्रेजों का भारत में आगमन**—अंग्रेजों के भारत में आने पर मुसलमानों ने अपनी चिकित्सा आधुनिक पद्धति (Allopathy) से करवानी शुरू कर दी। इससे आयुर्वेद के अन्य अंगों के साथ-साथ आयुर्वेदीय शल्य तन्त्र में भी राजाओं ने रुचि लेनी बन्द कर दी जिससे राजकीय शरण (Govt. recognition) मिलनी भी बन्द हो गयी।

(7) **शल्य विज्ञान का अध्ययन**—मुसलमानों के काल में आयुर्वेद की अवनति होने के कारण यह व्यवसाय केवल कुछ ही लोगों के हाथ में रह गया, जिस कारण शल्य तन्त्र का प्रायोगिक ज्ञान लुप्त हो गया।

(8) **बौद्ध धर्म**—अशोक के काल में बौद्ध धर्म के अहिंसा के नारों के कारण शल्य कर्म को आसुरी कर्म समझा जाने लगा। इसी कारण चिरकाल तक शल्य चिकित्सा का कर्माभ्यास तथा शिक्षा बन्द रही।

(9) **सुश्रुत संहिता का अभाव**—बौद्ध काल के उपरान्त शल्य तन्त्र का थोड़ा बहुत ज्ञान जीविकोपार्जन के लिये जो वैद्यों को मिलता था वह केवल क्षेत्रीय भाषाओं में लिखी छोटी पुस्तकों से प्राप्त होता था। इनके आधार पर शल्य कर्म करने कदापि सम्भव नहीं हो सकते थे। यादव जी त्रिक्रम जी ने सुश्रुत संहिता को 1836 में संशोधन करके छपवाया। यह संहिता इसी समय आम वैद्यों को प्राप्त हुई तथा इस समय तक इस क्रियात्मक ज्ञान का चिरकाल से प्रयोग न होने के कारण प्रायः लोप हो चुका था।

शल्य तन्त्र की उन्नति के उपाय

(1) **योग्यता** (Practical training)—शल्य तन्त्र के अष्टविध कर्मों (Eight surgical procedures) को फलों, सब्जियों तथा मृत पशुओं के अतिरिक्त प्रयोगात्मक जन्तुओं (Experimental animals, as dog, guinea pig etc.) पर भी विद्यार्थियों द्वारा योग्या (practical training) करवाना चाहिये। इस विधि से छात्र का हाथ स्थिर (Balanced hand) होने पर ही उसे रोगियों पर शल्य कर्म करने की आज्ञा देनी चाहिये। सुश्रुत ने योग्या को एक पूर्ण अध्याय में लिखा है जिसमें इस कर्म की महत्ता दर्शित होती है।

(2) **प्राचीन शल्य विधियों की उपयोगिता** (Utility of Ayurvedic operative techniques)—सुश्रुत संहिता में अनेक रोगों के लिये वर्णित शल्य विधियों को प्रायोगिक जन्तुओं (Experimental animals) पर अध्ययन करके, उन विधियों की प्रायोगिक उपादेयता (Practical utility) की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

(3) **प्राचीन शल्य विधियों की कमियों को पूरा करना**—प्राचीन शल्य

विधियों का प्रायोगिक जन्तुओं पर अध्ययन करके इन विधियों की कमियों (Drawbacks) को आधुनिक विज्ञान के आधार पर पूरा कर लेना चाहिये।

(4) **शल्य तन्त्र को पूर्ण रूप से व्यावहारिक बनाना**—सुश्रुत संहिता में जिन शल्यज व्याधियों (Surgical diseases) की सन्तोषप्रद चिकित्सा नहीं है या जिन शल्य कर्मों का अभाव है, उन शल्य विधियों (Operative techniques) को आधुनिक शल्य विज्ञान (Modern surgery) से लेकर आयुर्वेद के शल्य तन्त्र में समावेश करके इसे पूर्ण व्यावहारिक रूप दे देना चाहिये। इसके अतिरिक्त शल्य कर्म सम्बन्धी अन्य अभाव वाले विषयों का भी समावेश कर लेना चाहिये, जैसे आधुनिक निर्जीवाणुकरण विधियाँ (Sterilization techniques), संज्ञानाश (Anaesthesia) इत्यादि।

(5) **आस्थायुक्त होकर अध्ययन करना**—सुश्रुत में वर्णित शल्य कर्म जिनको शारीर विज्ञान की दृष्टि से रोग शान्ति के लिये युक्ति-संगत (Rationale) नहीं माना जा सकता, उन शल्य कर्मों में आस्था रखकर उनका प्रत्येक दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिये; जैसे चीन देश में प्रचलित एक्कूपन्क्चर शरीर तथा क्रिया शरीर की दृष्टि से युक्ति संगत प्रतीत न होता हुआ भी पूर्णरूप से प्रभावकारी है। इसी तरह सुश्रुत संहिता के अनुसार अपची रोग की शान्ति इन्द्रवस्ति को बचाकर वहाँ से मत्स्याण्ड जाल को निकालने से होती है तथा आन्त्र वृद्धि (Inguinal hernia) विपरीत पाद की अंगुष्ठ तथा अंगुली के मध्य की त्वचा का भेदन करके अग्नि से जलाने पर ठीक हो जाती है, इत्यादि की शारीर विज्ञान की दृष्टि से जानकारी करनी चाहिये या इसकी प्रायोगिक उपादेयता का पूर्ण रूप से विवेचन करना चाहिये।

(6) **कृच्छ्रसाध्य या असाध्य रोगों की चिकित्सा**—आधुनिक चिकित्सा पद्धति जिन व्याधियों में पूर्णरूप से सफल नहीं हो रही है, ऐसे रोगों पर सुश्रुत द्वारा कही गई चिकित्सा का प्रयोग करके देखना चाहिये, जैसे भगन्दर रोग में क्षार सूत्र चिकित्सा का प्रयोग आधुनिक आपरेशन की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुआ है।

(7) **शल्य उपकरणों का मानकीकरण** (Standardization of surgical instruments)—यन्त्र तथा शस्त्रों को सुश्रुत कथनानुसार बनाकर उनकी कार्य क्षमता का मूल्यांकन करना चाहिये तथा उनमें आवश्यक सुधार भी लाने चाहियें। क्षार, अग्नि, जलौका, शृंग, तुम्बी, सिरावेध इत्यादि उपयन्त्रों (Para surgical Methods) का विभिन्न रोगों पर क्या प्रभाव होता है इसकी भी जानकारी करके उनकी प्रायोगिक उपादेयता (Practical utility) को जानना चाहिये।

(8) **मर्मों की पूर्ण जानकारी**—मर्मों की पूर्ण जानकारी करके उनकी शल्य की दृष्टि से महत्ता तथा उन पर आघात का प्रभाव इत्यादि की क्रियात्मक उपादेयता

(Practical utility) को बताना चाहिये।

(9) व्रणशोधन तथा रोपण औषधियों का अध्ययन—व्रणशोधन तथा व्रण रोपण औषधियाँ, जिनको कि सुश्रुत संहिता में महत्ता दी गई है, उनकी शोधन तथा रोपण योग्यताओं का स्तरीकरण (Gradation of healing drugs and debriding drugs) करना चाहिये। इससे इन औषधियों की शोधन तथा रोपण क्षमता के अनुसार ठीक प्रयोग किया जा सकता है।

(10) शल्य तन्त्र में प्रयुक्त औषधियों का विश्लेषण—शल्य तन्त्र में प्रयुक्त होने वाली औषधियों का सब दृष्टिकोण से विश्लेषण करना चाहिये जिससे उन औषधियों का ठीक से तथा विश्वास पूर्ण उपयोग हो सके।

आधुनिक शल्य तन्त्र का इतिहास तथा इसकी आज तक हुई उन्नति

आधुनिक शल्य तन्त्र का जो रूप हम आज देखते हैं, इसका वास्तविक इतिहास अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस काल से इसकी शृंखलाबद्ध उन्नति (Continuous progress) प्रारम्भ हुई जिस कारण इसे आज की विशिष्ट चिकित्साओं (Specialities) का रूप मिला।

(क)

अति प्राचीन काल में शल्य चिकित्सा का क्या स्वरूप था, इसकी जानकारी प्राप्त करना भी आवश्यक है।

फ्रांस, जापान, जर्मनी इत्यादि अनेक देशों में प्राचीन युग की जानकारी प्राप्त करने के लिये स्थान-स्थान पर खण्डहरों की खोदाई की गयी। इस खोदाई से सुघरे हुए अश्म काल (Polished stone age) के प्राप्त कपालों के आधार पर, आज हमें अति प्राचीन समय में प्रचलित शल्य कर्मों का ज्ञान होता है। इन कपालों (skulls) के एक पार्श्व में अस्थि-रिक्तता देखने से उस समय में मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों के लिये किये गये ट्रेफाईनिंग (Trephyning) शल्य कर्म (इसमें कपाल अस्थि का एक छोटा-सा टुकड़ा निकाल लिया जाता है) का बोध होता है। यह शल्य कर्म सम्भवतः भूतादि (Evil spirits), जोकि उस समय रोग के कारण माने जाते थे, उनसे बचने के लिये किया जाता था। परन्तु यह समय ईसा से कितने वर्ष पूर्व का हैं, इसकी जानकारी नहीं हो पाई है।

1. बेबिलोनिया में शस्त्रकर्म (Babylonian surgery)

ईसा से लगभग 1,000 वर्ष पूर्व ब्रोंज के चाकू (Bronze operation knife) से फोड़े (Abscess) पर घाव किया जाता था, आँख पर और टूटी हुई अस्थियों पर भी कुछ शल्यकर्म किये जाते थे तथा इन सब शल्यकर्मों की शुल्क (Fees) निर्धारित होती थी।

2. मिश्र में शल्यकर्म (Egyptian surgery)

ईसा से लगभग 3,000 वर्ष पूर्व सिर के आघात (Head injuries) तथा मेरुदण्ड के विकारों (Sprains of vertebral column) की शल्य कर्म द्वारा चिकित्सा की जाती थी।

3. चीन में शल्यकर्म (Chinese-surgery)

चीन में 3,000 वर्ष ईसा पूर्व, केवल मात्र एक्कूपन्कचर (Accupuncture) और मोक्सिबशन (Moxiebustion) अर्थात् रोग ग्रस्त अङ्ग पर Moxae (शंकु के आकार का शस्त्र) के द्वारा लेखन कर्म करना ही प्रचलित था। 1,000 वर्ष ईसा पूर्व बन्ध्यत्वकर्म (Castration) के लिये प्रयुक्त शल्यकर्म ही एक वास्तविक शल्यकर्म होता था।

4. जापान में शल्यकर्म (Japanese surgery)

1,500 वर्ष ईसा पूर्व जापान में सिरावेध द्वारा रक्त-विस्रावण (Blood letting) किया जाता था तथा देव, भूतादि (Good and evil spirits) चिकित्सा के विषय होते थे।

5. ग्रीस में शल्यकर्म (Greek surgery)

ग्रीस में 1,000 वर्ष ईसा पूर्व केवल मात्र व्रणशोधन (wound cleaning) के लिये ही शल्य का आश्रय लिया जाता था।

6. भारत में शल्यकर्म (Hindu surgery)

वैदिक काल में दिव्य शल्य चिकित्सक (Supernatural surgeons) अश्विनी कुमारों ने अनेक बृहत् शल्यकर्म किये, जैसे—सिर काटकर जोड़ देना, अन्ध्यत्व की चिकित्सा, कृत्रिम टाँग लगाना इत्यादि। इसके पश्चात् सुश्रुत काल में (500-1000 वर्ष ईसा पूर्व) अश्मरी की शल्य चिकित्सा, मूढ़ गर्भ की शल्य चिकित्सा (Obstetric surgery), कर्णबन्ध (Earplasty), इत्यादि अनेक प्रकार के शल्यकर्म होते थे। इन्हें प्राचीन काल के अन्य देशों के शल्य कर्मों की अपेक्षा अति उन्नत शल्यकर्म (Advanced surgery) माना जाता है।

7. हिप्पोक्रेट्स (Hippocrates)

260 से 360 वर्ष ईसा पूर्व हिप्पोक्रेट्स के समय में चिकित्सा कर्म में प्रशंसनीय उन्नति हुई। इस काल में अस्थि भग्न (Fractures), मूढ़ गर्भ (Obstetrics), भगन्दर (Fistula), अर्श (piles) इत्यादि की चिकित्सा शल्य कर्म द्वारा की जाती थी। इसके अतिरिक्त वृक्क तथा यकृत की विद्रधि का भेदन तथा विस्रावण (Incision and drainage) और पेट तथा वक्ष से पानी (Ascites and hydrothorax) निकालना (Paracentesis) इत्यादि शल्य कर्म भी किए जाते थे।

8. अलेग्जेन्ड्रियन शल्य कर्म (Alexandrian surgery)

यह समय ईसा से 300 वर्ष पूर्व का है। इस काल में हेरोफिलस (Herophilus), शारीर विज्ञान के ज्ञाता (Anatomist) अति प्रसिद्ध हुए थे। इन्होंने डियुडेनम् (Duodenum) एवं प्रौस्टेट (Prostate) की जानकारी दी थी। इरासिसट्रेटस (Erasistratus) एक प्रमुख शारीर क्रिया विज्ञान के ज्ञाता (Physiologist) हुए हैं। इन्होंने मस्तिष्कावरण, चौथा वैन्ट्रिकल (Fourth ventricle), मस्तिष्क का कोरायड प्लैक्सिस (Choroid plexus of brain) और संवेदनावाही तथा चेष्टावाही तन्त्रिकाओं का परिचय दिया। इस काल में मूत्राश्मरी, आन्त्रवृद्धि (Hernia) तथा मोतिया बिन्दु (cataract) के शल्य कर्म किये जाते थे।

9. रोमानिया में शल्य कर्म (Romanian surgery)

यह समय ईसा से 100 वर्ष पूर्व का माना जाता है। पहले यहाँ पर परम्परागत चिकित्सा (Folk medicine) चलती थी, परन्तु ग्रीक चिकित्सा के आने से लेरिन्जोटोमी (Laryngotomy) तथा ट्रेक्योस्टोमी (Tracheostomy) शल्य कर्म भी किये जाने लगे।

10. सेलसस (Celsus)

सेलसस ने चिकित्सा विज्ञान पर एक सार संग्रह (Encyclopedia) लिखा, जो कि प्रथम प्रकाशित पुस्तक मानी जाती है। इसमें शल्य कर्म पर दो अध्याय इस ढंग से लिखे हुये हैं जैसे लेखक ने अपने हाथों से ही शल्य कर्म किये हों। इसमें रक्तस्राव चिकित्सा पर एक पूरा अध्याय लिखा हुआ है। इसमें कोथ (Gangrene), अङ्गविच्छेद (Amputation), विकृत अस्थि का छेदन, पशुंका का छेदन, दाँत निकालने से पूर्व उसे दन्तवेष्ट (Gums) से ढीला कर लेना इत्यादि शल्य कर्मों का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त सेलसस को टोन्सिलेक्टोमि (Tonsiliectomy), प्लास्टिक सर्जरी (Plastic surgery), कैन्सर की पुनरावृत्ति (Recurrence of cancer) इत्यादि का भी ज्ञान था।

11. गैलन (Gallen)

इसका समय 130 से 200 वर्ष ईसा पश्चात् माना जाता है। इसने जानवरों पर शल्य कर्म करके शरीर (Anatomy) का ज्ञान प्राप्त किया था। यह ज्ञान शल्य अर्थात विजातीय पदार्थों (Foreign bodies) को निकालने के लिये बहुत आवश्यक माना जाता था। इसे इस बात का भी ज्ञान था कि धमनियों के अन्दर रक्त रहता है, वायु नहीं। इस काल में नाक एवं कान की विकृतियों के भी शल्य कर्म होते थे। इसे कैन्सर के रेडिकल आपरेशन (Radical Operation of

cancer) की भी जानकारी थी। इसके अतिरिक्त फुफ्फुस-शोथ, फुफ्फुसावरण-शोथ, वात-रक्त (Gout) इत्यादि व्याधियों की भी चिकित्सा की जाती थी।

12. एण्ड्रज (Andreas)

इसे प्रथम इंगलिश (English) शल्य चिकित्सक माना जाता है। इसका समय प्रथम शताब्दी माना गया है। इसने व्रणरोपण चिकित्सा को फिर से जीवित (revive) किया।

13. एण्ड्रज वेजलिस (Andreas Vaeslius)

इसका काल 1514-1564 ई० तक है। इसने रक्त परिभ्रमण की जानकारी दी तथा सिरा में गन्दा रक्त होता है यह भी बताया। इसने एन्युरीजम (Aneurysm) तथा स्तन के कैन्सर की छेदन (Excise) चिकित्सा की और ओमन्टल हर्निया (Omental hernia) के बारे में जानकारी दी।

14. एम्ब्रोस पारे (Ambroise pare)

इसने 1579 में व्रण चिकित्सा पर विशेष कार्य किया। व्रण को विस्तृत करके उसमें से विजातीय पदार्थों को निकालकर तारपीन का तेल लगाने तथा ऐसे व्रणों में सीवन कर्म न करने के लिये कहा। उबलते तेल से निर्जीवाणुकरण करने तथा इसे अङ्ग-विच्छेद किये हुए स्थान पर डालने के लिये निषेध किया है।

15. जोहन हन्टर (John Hunter)

1728 ई० में इसने शल्य विकृति-विज्ञान (Surgical Pathology) की नींव रखी तथा हन्टर-कैनाल में फिमोरल आरट्री को बाँधकर (Ligated the femoral artery in hunter Canal) समपार्श्वी रक्त परिभ्रमण (Collateral circulation) की जानकारी दी।

सेलसस (Celsus) से जोहन हन्टर (Johan Hunter) तक सब अपने-अपने समय के महान चिकित्सक माने जाते हैं।

(ख)

आधुनिक युग को हम विशिष्ट शल्य चिकित्साओं का युग (Age of specialised surgery) मानते हैं। इस युग की क्रमबद्ध उन्नति का इतिहास अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है, जैसा कि निम्नलिखित से विदित है।

(1) 1741 में निकोलस एण्ड्रि (Nicholas Andry) ने "एल-ओरथो-पेडिक' (L-Orthopaedic) नाम से अस्थि सम्बन्धित शल्य कर्मों पर एक पुस्तक लिखी थी। यह अपने समय की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इसके अन्तर्गत उस समय में प्रचलित सब तरह के अस्थि-सम्बन्धी शल्य कर्मों का समावेश है।

(2) नाइट्रस ऑक्साइड (Nitrous Oxide) का अनुसंधान, संज्ञाहरण (Anaesthesia) की प्रगति में प्रथम चरण माना जाता है।

1772 में सर्वप्रथम संज्ञाहर औषध, Nitrous Oxide का आविष्कार जोसफ प्रीस्टले (Joseph priestly) ने किया तथा हम्फरी डेवी (Humphery Davy) ने इसे लोकप्रिय बनाया था। फिर इसके बहुत समय के पश्चात 1842 में अमरीका के क्राफोर्ड लोंग (Crawford Long of U. S. A.) ने दूसरी संज्ञाहरण औषधि "ईथर" (Ether) का आविष्कार किया, जिसका कि प्रयोग मोर्टन (Mortan) ने 16 अक्टूबर 1946 में किया। इस औषधि के द्वारा सार्वदैहिक संज्ञाहरण देकर, सर्वप्रथम डा० जोहन कोलिन्ज ने शल्य कर्म किया था।

(3) 1878 से 1883 तक उदर के तथा मस्तिष्क के मैनैन्जिओमा (Meningioma) के अनेक शल्य कर्म हुए।

उदर के शल्य कर्मों का प्रारम्भ तो कुछ देर पहले से ही हो चुका था, परन्तु वोन वोकमैन (Von Volkman) ने 1887 में मलाशय के कैन्सर का सर्वप्रथम छेदन-कर्म किया। फिर मिकूलिक्ज (Mikuilcz) ने इस शल्य कर्म को दो भागों में विभक्त कर दिया। इसमें प्रथमावस्था में कोलोस्टोमि (Colostomy) करने का तथा द्वितीय अवस्था में कैन्सर का उदरीय-मूलाधार रास्ते (Abdomino-perineal route) से छेदन-कर्म करने का विधान बताया।

1879 में लोसन टेट (Lowson Tait) ने सर्वप्रथम सफलतापूर्वक पित्ताशय (Gall bladder) का छेदन कर्म किया। इसी वर्ष में मस्तिष्क के पूर्व पिण्ड के रक्तार्बुद (Meningioma of frontal lobe of the brain) का, विलियम मेस्वेन (William Macewen) ने छेदन-कर्म किया तथा मस्तिष्क के शल्यकर्म करने में प्रथम पग रखा।

1881 के थिडोर बिलरोथ (Theodor bilroth) जिसे आमाशय के शल्य-कर्मों का जन्मदाता (Father) माना जाता है, उसने आमाशय के जठरनिर्गम के अर्बुद (Tumour of Pyloric end) का शल्यकर्म किया। इस शल्यकर्म को बिलरोथ-I (Bilroth-I) के नाम से कहते हैं। कुछ वर्षों पश्चात् उसने बिलरोथ-II (Bilroth-II) शल्यकर्म भी बताया जो कि आज भी एक महत्वपूर्ण शल्यकर्म माना जाता है।

(4) पाश्चर एवं कोक (Pasteur and Koch) ने बताया कि जीवाणुओं की उपस्थिति सर्वस्थानगत होती है और उनसे बचने के लिये भी कहा।

1882 में पाश्चर ने इस बात की जानकारी दी कि जीवाणु सब स्थानों पर उपस्थित रहते हैं। कोक (Koch) ने अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं तथा क्षय के जीवाणुओं का वर्णन किया है। इसने शल्य कर्म के सब उपकरणों को कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) के द्वारा निर्जीवाणुकरण (Sterilize) करने पर बल दिया तथा दस्ताने (Gl... मुखाच्छादक (Mask), एप्रन

(Apron) इत्यादि का निर्जीवाणुकरण करने का भी निर्देश दिया।

(5) 1883 में आमाशय के अन्य शल्य कर्म किये गए,

लुडविग जे० कोरवाइजर (Ludwig J. Corvoisior) ने 1883 में पश्चिम आमाशय-मध्यान्त्र-सम्मिलन (Posterior gastrojejunostomy) शल्य कर्म किया तथा इसके कुछ वर्ष पश्चात् रिडजियर (Rydygier) ने आमाशय व्रण के लिये आमाशय का छेदन कर्म (Gastric resection) किया।

(6) 1885 में निटज (Nitz) ने मूत्राशयदर्शी यन्त्र का अन्वेषण किया। यह यन्त्र इस स्रोत के शल्यकर्मों की प्रगति में एक मुख्य कारण माना जाता है। इससे पूर्व केवल मूत्राशय अश्मरी तथा मूत्रमार्ग संकोचन (Uretheral structure) का ही शल्यकर्म किया जाता था।

(7) 1895 में क्ष-किरण का आविष्कार हुआ। यह आविष्कार भग्न-चिकित्सा में हुई उन्नति का मुख्य कारण है।

रोन्जन (Roentgen) — इसने 1895 में क्ष-किरण (X-ray) का आविष्कार किया। इसके पश्चात् अस्थियों पर होने वाले अनेक प्रकार के शल्यकर्म तीव्रता से होने लगे। इसके फलस्वरूप विकलाँग विज्ञान (Orthopaedics) की विशेष उन्नति हुई। सर आरबुथनाट लेन (Sir Arbuthnot Lane) ने अव्रण भग्न (Closed fracture) में शल्य कर्म द्वारा पुनः स्थापन (Reduction) तथा स्थिरीकरण (Fixation) के लिये रजत की तार, पेच एवं पट्ट (Screw and plate) का प्रयोग किया तथा अस्थि को संक्रमण से बचाने के लिये अस्पर्श विधि (No touch technique) का भी प्रयोग शुरू किया।

(8) 1901 में रक्त वर्गीकरण (Blood grouping) का आविष्कार रक्त-आधान (Blood transfusion) की ओर एक अति आवश्यक चरण था।

1901 में कार्ल लैन्डस्टेनर (Karl Landsteinr) ने रक्त को A, B, AB तथा O, नाम से चार वर्गों में विभाजित किया, इससे रक्ताधान (Blood transfusion) करने के लिये एक रास्ता खुल गया।

(9) 1903 में आमाशय तथा बृहदान्त्र के महत्वपूर्ण शल्य कर्म हुये।

1903 में फ्रैंक पाल (Frank Paul of Liverpool) तथा मिकुलिक्ज Mikulicz) ने पर्युदर्या शोथ (Peritonitis) से बचने के लिये बृहदान्त्र के कैन्सर का 'बाह्य-पर्युदर्या छेदन" (Extra peritonal resection) करने का उपयुक्त शल्य कर्म बताया।

(10) 1910 में फ्रेडिट् (Fredt) तथा 1912 में रामस्टेड (Ramstedt) ने आमाशय निर्गम (Pyloric end) की अतिवृद्धि (Hypertrophy) के लिये एक अति साधारण शल्य कर्म बताया। इस शल्य कर्म को उसी के नाम से ही रामस्टेड का आपरेशन कहा जाने लगा।

(11) बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही मस्तिष्क के अर्बुद, वृक्क प्रत्यारोपण (Kidney transplantation) तथा कृत्रिम वृक्क (Artificial kidney) पर विशेष रूप से कार्य हुआ।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हारवे कुशिंग (Harvey cushing) के प्रयास द्वारा मस्तिष्क के शल्य कर्मों में विशेष प्रगति हुई। इस काल में अन्तः कपालीय (Intra cranial) अर्बुद तथा पीयूष ग्रन्थि के अर्बुदों के भी शल्यकर्म होने लगे। इधर वृक्क प्रत्यारोपण, कृत्रिम-वृक्क तथा वृक्क-रक्षण (kidney preservation) के आविष्कारों से एरलिक (Erlic) की रासायनिक चिकित्सा (Chemotherapy) की जानकारी से शल्य चिकित्सा प्रगति के एक विशाल पथ पर आ गई। 1903 में टोरोक (Torok) ने अन्ननलिका (Oesophagus) के कैंसर का छेदन कर्म (Resection) किया तथा स्मिथ पैटर्सन (Smith petrson) ने भग्न के लिये (Trifine Nail) का आविष्कार किया।

(12) 1913 में प्रत्यारोपण शल्य कर्मों में भी पर्याप्त उन्नति हुई। सर हैरोल्ड गिल्स, लेक्सर, इत्यादि (Sir Harold Gills, Lexer etc.) द्वारा किये गये गये प्रत्यारोपण के प्राथमिक आविष्कारों के पश्चात् ब्लेयर, ब्राउन तथा गिल्स (Blair, Brown and Gills) ने ऊतियों को बदलने का (Tissue transfer) तथा उनका प्रत्यारोपण कर्म प्रारम्भ कर दिया।

(13) 1920 में मस्तिष्कीय वाहिका के चित्रण (Cerebral angeography) का आविष्कार हुआ तथा फुफ्फुस खण्डों का छेदन कर्म (Lobectomy) किया गया।

1885 में क्ष-किरण का आविष्कार हो चुकने के पश्चात् वाल्टर डान्डी (Walter Dandi) ने 1920 में सब-अरेक्नायड (Sub arachnoid space) में हवा का सूचिवेध करके पूर्व-मस्तिष्क के अर्बुदों के निदान करने की विधि बताई। 1931 में ईगास मोनिज (Egas Moniz) जो पुर्तगाल का वासी था, उसने क्ष-किरण अपारदर्शक पदार्थ (Radio-opaque material) को धमनी में सूचिवेध कर मस्तिष्क के रक्त सञ्चार संस्थान का चित्र लिया। फिर इलैक्ट्रो माइलोग्राफी (Electro mylography) के आविष्कार के कारण मस्तिष्क के शल्य कर्मों में उन्नति होने लगी। तथा 1929 में ब्रूनू (Brunu) ने श्वास नलिका का विस्फार किया तथा फुफ्फुस खण्ड का छेदन किया।

(14) 1935 से 1941 तक सल्फा औषधियाँ (Sulpha drugs) तथा पैन्सिलीन इत्यादि (Penicillin etc.) अनेक प्रतिजीवी औषधियाँ सामने आयीं।

1935 में डोमार्क (Domark) ने स्ट्रेप्टोकाकस (Streptoccccus) के प्रतिरोधी तत्व प्रोन्टोसिल (Prontocil) का आविष्कार किया। इसके पश्चात् अनेक सल्फोनामाइड (Sulphonamide) सामने आये। एलेग्जेन्डर फ्लेमिंग

(Alexander Fleming) की पैन्सिलीन की खोज के उपरान्त, एक के पश्चात् एक प्रतिजीवी औषधियाँ (Antibiotics) सामने आने लगी।

(15) 1938 से 1947 तक हृदय के शल्यकर्म हुए तथा प्लावि विस्फारक (Plasma expander) और रक्ताधान (Blood transfusion) का पूर्ण रूप से प्रयोग होने लगा।

1938 में रोबर्ट ग्रौस (Robert gross) ने पेटेण्ट डक्टस आरटीरीयोसस (Patent ductus arteriosus) को बाँधकर हृदय के शल्य कर्मों का प्रारम्भ किया। 1940 में लेन्डस्टीनर तथा विनेर (Land Steiner and winer) के रक्त रिएक्ष घटक (Rh. factor) के विषय में बताया तथा फिर बलालौक और टासिंग (Blalock and Tausing) ने अध : अक्षका शिरा एवं फुफ्फुसीय धमनी (Subciavian vein and pulmonary artery) का सम्मिलन (Anastomosis) किया। 1947 में बेली (Baily) तथा कई अन्य लोगों ने द्विकपर्दी संकीर्णता (Mitral stenosis) के सफल शल्य कर्म किए।

(16) 1947 में संज्ञाहरण पर सराहनीय कार्य हुआ :—

1947 में जेम्स सिम्पसन (Sir James Simpson) ने ब्रिटेन में सार्वदैहिक संज्ञाहरण के लिये क्लोरोफार्म (Chloroform) का प्रयोग किया, इसके पश्चात् अन्य स्थानीय संज्ञाहरण तथा प्रादेशीय संज्ञाहरण Regional anaesthesia) औषधियों के अनेक आविष्कार हुये।

(17) 1952 में अस्थिभग्न के स्थिरीकरण के लिये अनेक तरह की कुशायों (Splints) के आविष्कार हुये।

1952 में अस्थिभग्न चिकित्सा के लिये एक डच्च (Dutch) शल्य चिकित्सक 'एण्टोनस मैथिसन' (Antonus Mathisen) ने प्लास्टर ऑफ पेरिस (Plaster of paris) के पट्ट का भग्न के लिये प्रयोग किया तथा हाइओन थोमस (Highowen Thomas) ने भग्न के लिए अनेक कुशाए (Splints) बताई।

(18) 1953 में हृदय के अन्य शल्य कर्म हुए—

हाफनोजल (Hafnogel) ने महाधमनी में प्लास्टिक का वाल्व (Valve) लगाया तथा डे बेकी (De Bakey) और उसके अन्य साथियों ने महा धमनी के विस्फार (Aortic aneurysm) का छेदन करके प्रत्यारोपण (Grafting) शल्य कर्म किया।

(18) नए अन्वेषण —

ड्रेगस्टेड (Dragsted) ने आमाशय व्रण (Peptic ulcer) के लिए वेगोटोमी (Vagotomy) करने के लिये कहा। आइसोटोप्स (Isotopes) का प्रयोग होने

लगा। अस्थियों के रक्षण के लिये अस्थि बैंक बनने लगे। उर्वस्थि के सिर के स्थान पर कृत्रिम सिर (Prosthetic head) लगने लगा। बरनार्ड ने अपने सहयोगियों के साथ मिलकर हृदय का प्रत्यारोपण किया। कृत्रिम वृक्क रक्षण (Preservation) भी होने लगा। कोलर, मेरीओट (Coller, Marriot, etc.) इत्यादि ने इलेक्ट्रोलाइट्स (Electrolytes) तथा प्लावि-विस्फारक (Plasma expanders) द्रवों की आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला। अब तो पार्श्वीय धमनी-विस्फार (Peripheral aneurysm) के ज्ञानार्थ अल्ट्रा साऊंड स्कैन (Ultra sound scan) का भी प्रयोग होने लगा है (Devis et al, Arch surg, Vol. 112, Jan 1977)। नवीन आधान स्थिरीकरण यन्त्र (New infusion stabilizer) आधान द्रवों को नियन्त्रित गति से चलाता है जिससे कि परिचारक (Nurse) को उसे नियन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं रहती। आज भी इस तरह के नवीन शल्य कर्मों तथा इससे सम्बन्धित विषयों पर अनेक अन्वेषण चल रहे हैं।

———

2

व्याधियों का वर्गीकरण

व्याधियों में भेद का कारण :—

तीनों दोषों के प्रकोपक कारणों के भेद से, दोष दूष्य के स्थान भेद से, दूष्य तथा धातुओं में अनेक भेद होने से, मल भेद से तथा इन्द्रिय भेद से अनेक तरह की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

रोग उत्पत्ति में कारण :

"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते"।

अर्थात् प्रकुपित दोष उन स्रोतों में जाकर रुकते हैं जहाँ पर रोग प्रतिरोध शक्ति का ह्रास होता है। स्रोतों में दोषों के रुक जाने से धात्वग्नि विषम होकर तथा इससे धातु का क्षय या उसकी साम वृद्धि होकर रोग उत्पन्न होते हैं।

वर्गीकरण :—

रोगों का वर्गीकरण अनेक तरह से हो सकता है। जैसे—

1. प्रभाव भेद से	—साध्य एवं असाध्य
2. बल भेद से	—मृदु एवं दारुण
3. अधिष्ठान भेद से	—मानसिक एवं शारीरिक
4. कारण भेद से	—निज एवं आगन्तुज
5. आश्रय भेद से	—आमाशय समुत्थं (साम) पक्वाशय समुत्थं (निराम)
6. तीन प्रकार के रोग	—निज, आगन्तुज, मानसिक
7. चार प्रकार के रोग	—शारीरिक, मानसिक, आगन्तुज एवं स्वाभाविक
8. रोग-मार्ग भेद से	—बाह्य, मध्यम तथा आभ्यन्तर रोग मार्ग।

इनमें से मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं।

निज और आगन्तुज भेद से व्याधियों का वर्गीकरण

(सुश्रुत मतानुसार)

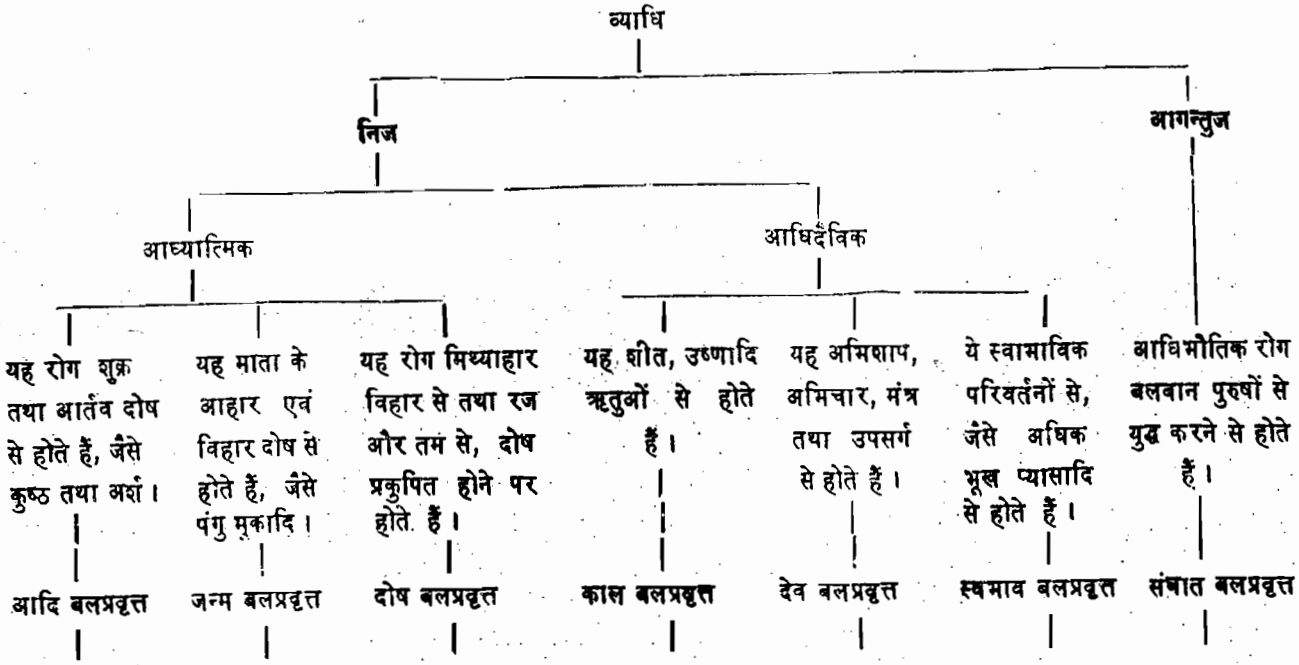

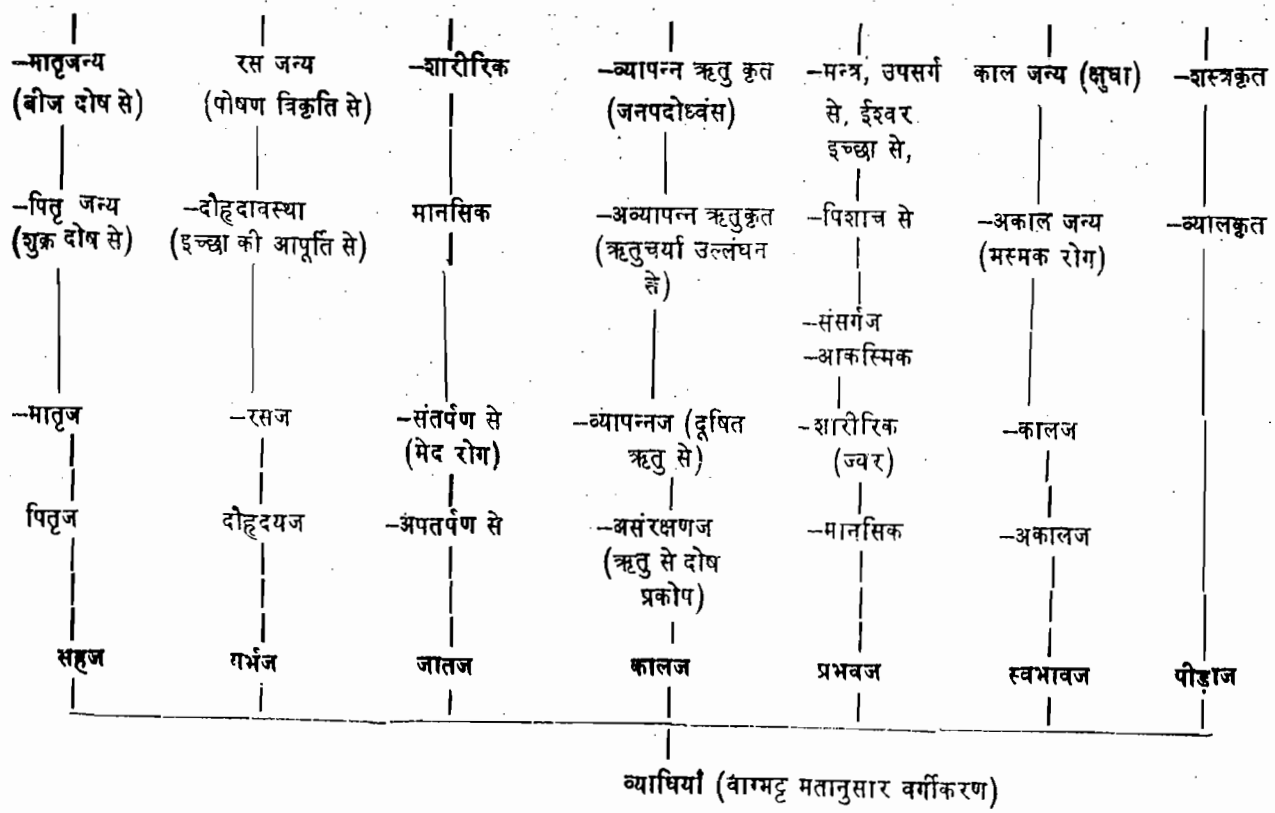

साध्य एवं असाध्य भेद से व्याधियों का वर्गीकरण

उत्पत्ति भेद से
- लिंग साध्य :—सम्पूर्ण लक्षण प्रकट होने पर
- उपद्रव साध्य : सम्पूर्ण उपद्रव उत्पन्न होने पर
- अरिष्ट साध्य : अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होने पर

व्याधियाँ

साध्य		असाध्य	
सुखसाध्य (यह सामान्य चिकित्सा से शीघ्र ठीक हो जाती है)	**कृच्छ्रसाध्य** (यह अधिक प्रयत्न करने पर व देर से ठीक होती है)।	**याप्य रोग** (अधिक प्रयत्न करने पर कुछ समय के लिये दब जाते है)	**प्रत्याख्येय** (इन व्यक्तियों में किसी भी प्रकार की चिकित्सा से लाभ नहीं होता)
1. एक दोषज व्याधि होने पर।	1. द्विदोषज व्याधियाँ।	1. त्रिदोषज व्याधियाँ	1. ये त्रिदोषज व्याधियाँ होती हैं।
2. दोष की गति एक रोग मार्ग में होने पर।	2. दोष की गति दो मार्गों में होने पर।	2. दोष की गति तीन मार्गों में होने पर।	2. दोष की गति तीनों मार्गों में होने पर।
3. रोग के हेतु पूर्वरूप व रूप अल्प होने पर।	3. हेतु, पूर्वरूप व रूप मध्यम होने पर।	3. हेतु, पूर्वरूप व रूप अनेक होने पर।	3. हेतु, पूर्वरूप व रूप सब उपस्थित रहते हैं।
4. पुरुष बलवान होने पर।	4. वृद्ध, बालक व गर्भिणी की व्याधियाँ।	4. रोगी कृश होने पर, वह तीक्ष्ण औषध नहीं ले सकता।	4. रोगी अति दुर्बल होने पर।
5. रोगी जितेन्द्रिय होने पर।	5. रोगी बलवान तो हो पर जितेन्द्रिय न हो।	5. रोग गम्भीर परन्तु रोगी जितेन्द्रिय तथा युवा होने पर।	5. जब रोगी की बुद्धि, शक्ति तथा इन्द्रियों का ह्रास हो जाता है।

सुख साध्य	कृच्छ्र साध्य	याप्य	प्रत्याख्येय
6. दोष संचय अपने स्थान में न होने पर, जैसे यदि वात का संचय पक्वाशय में न हो।	6. दोष संचय अपने स्थान में होने पर।	6. दोषों का संचय मर्म एवं सन्धि में होने पर।	6. दोष, दूष्य, स्थान, काल सब दोष के अनुकूल होने पर।
7. रोग तरुण (एक वर्ष से कम) होने पर।	7. रोग जीर्ण होने से।	7. रोग जीर्ण होने पर।	7. रोग जीर्ण होने पर।
8. दोष रोगी की प्रकृति से भिन्न होने से।	8. दोष रोगी की प्रकृति के अनुकूल होने से।	8. दोष एवं दूष्य दोनों प्रकृति के अनुकूल होने से।	8. दोष, दूष्य, स्थान, काल इत्यादि सब प्रकृति के अनुकूल होने से।
9. नक्षत्र अनुकूल होने से।	9. नक्षत्र साधारण होने से।	9. नक्षत्र साधारण होने से।	9. नक्षत्र प्रतिकूल होने से।
10. रोग उपद्रव रहित होने से।	10. उपद्रव थोड़े होने पर।	10. उपद्रव अधिक होने से।	10. सब उपद्रव उत्पन्न होने पर।
11. रोग औषध साध्य होने से।	11. रोग क्षार, अग्नि या शस्त्र साध्य होने पर।	11. चिकित्सा से रोग दब जाए परन्तु अनुकूल परिस्थिति में पुनः जागृत हो जाए।	11. किसी भी चिकित्सा से लाभ न होने पर।
12. महाकुष्ठ, अश्मरी, अर्श, भगन्दर, मूढ़-गर्भ, प्रमोह पक्षाघात तथा अपतानकादि वात रोग न हों अपितु अन्य साध्य रोग हों।	12. रोगी कुष्ठादि रोगों से पीड़ित होने से।	12. महा कुष्ठादि रोग होने पर तथा उपद्रव भी साथ में रहने से।	12. महा कुष्ठादि रोगों के साथ में अधिक उपद्रव होने पर, जैसे मूर्च्छा, हिक्का इत्यादि भी साथ में होने पर।

व्याधियों का रोग-मार्ग भेद से वर्गीकरण

बाह्य रोग मार्ग (शाखानुसारी)

उत्तान धातुओं की व्याधियां जैसे त्वचा, रस रक्त, मांस और मेद में होने वाली व्याधियाँ (गम्भीर धातु अस्थि, मज्जा, शुक्र को छोड़ कर) तथा बाह्य अर्श (आभ्यन्तरिक अर्श कोष्ठाश्रित रोगों में आ जाने से यह बाह्य रोग मार्ग में नहीं आता)।

त्वचा गत रोग :—व्यंग, तिलकालक, नीलिका इत्यादि।

रस गत रोग :—अरुचि, अङ्गमर्द, हृल्लास पाण्डु, गौरवता, क्लैब्य, पालित्य।

रक्त गत रोग :—कुष्ठ, विसर्प, गुदपाक, स्रोतों की विद्रधि, रक्तपित्त तथा वातरक्तादि।

मांस गत रोग :—अधिमांस, मांसार्बुद, गलशुण्डिका, अर्बुद, अलजी, गण्डमाला इत्यादि।

मध्य रोग मार्ग (मध्यमार्गानुसारी)

गम्भीर धातु, (जैसे अस्थि, मज्जा, शुक्र) आश्रित व्याधियां, इन्द्रिय आश्रित व्याधियां, स्नायु: आश्रित व्याधियां, माँसाश्रित व्याधियां (परन्तु कोष्ठगत तथा गुहा युक्त मर्मों को छोड़कर) तथा सन्धि आश्रित व्याधियां (सन्धि से सम्बन्धित शिरा स्नायु, धमनी, कण्डरा, नाड़ी इत्यादि व्याधियाँ भी ले लेनी चाहियें)। अस्थि गत रोग—अस्थितोद, अध्यास्थि, कुनख, अधिदन्त, केश-नखादि के विकार श्मश्रु इत्यादि।

मज्जा गत रोग :—मूर्च्छा, भ्रम, पर्ववेदना गौरवता इत्यादि।

शुक्रज :—क्लैब्य, अप्रहर्ष, शुक्रमेह, शुक्राश्मरी इत्यादि।

इन्द्रियाश्रित :—इन्द्रियों का नाश, अप्रवृत्ति,

आभ्यन्तरिक रोग मार्ग (कोष्ठानुसारी)

कोष्ठाश्रित रोग (इसमें गुहा युक्त, अवयव आ जाते हैं जैसे महा-स्रोत में आमाशय, उण्डुक, पक्वाशयादि), शरीर के मध्य मर्म (मूत्राशय, हृदय, फुफ्फुस), रुधिराशय (यकृत और प्लीहा) इत्यादि अवयवों की शोफ तथा विद्रधि इत्यादि रोग।

कोष्ठ गत रोग :—गुल्म, अतिसार, कास श्वास, प्लीहा-वृद्धि इत्यादि।

मेद गत रोग :—मधुमेह, गलगण्ड, अतिस्वेद, मेदोग्रन्थि, मेदोबुंद इत्यादि।

विषम प्रवृत्ति तथा इनके अन्य विकार।

स्नायु व सन्धि गत रोग :—इनकी सुप्तता, स्फुरण, खल्ली पड़ना, सन्धि जकड़ाहट।

मर्माश्रित रोग:—गुहा युक्त मर्मों को छोड़ कर अन्य मर्मों के रोग।

निज व्याधियों के प्रकार

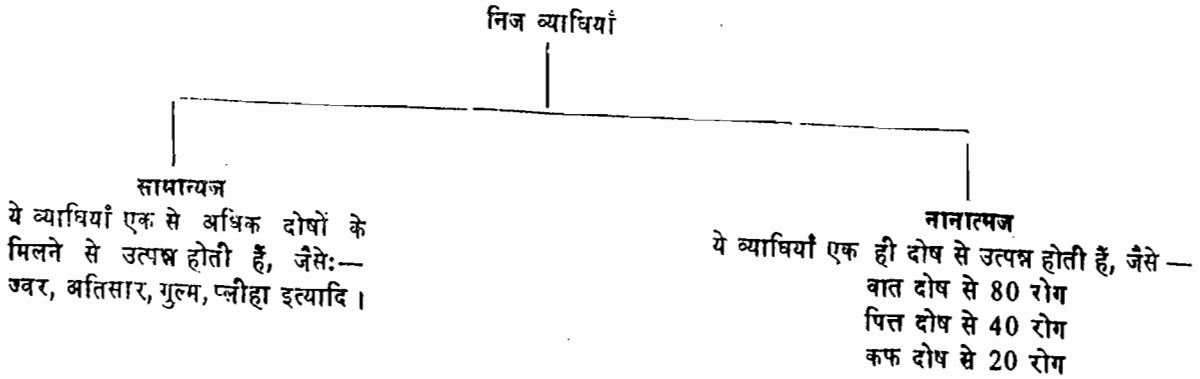

3

सप्त धातु

उत्पत्ति—

आहार रूप में ग्रहण किये गये पदार्थों का पहले पाचकाग्नि द्वारा पाक होता है, फिर उससे उत्पन्न सार भाग से अन्नरस की तथा किट्ट भाग से मूत्र और पुरीष की उत्पत्ति होती है। किट्ट भाग का शरीर से विसर्जन हो जाता है एवं अन्न रस धात्वग्नियों की क्रिया के फलस्वरूप पुनः दो भागों में विभक्त हो जाता है—एक किट्ट भाग होता है जो कि शरीर के मलों (कफ, पित्त, लोम, स्वेद इत्यादि) का पोषण करता है तथा दूसरा प्रसाद भाग, इससे धातुओं (जैसे रस, रक्त, मांस मेदादि) एवं उपधातुओं (जैसे आर्त्तव, कण्डरा, स्नायु इत्यादि) का पोषण होता है। अन्त में शुक्र का शुक्राग्नि से पाक होने पर केवल ओज का ही निर्माण होता है। शुक्र से कोई मल नहीं बनता।

धातु निर्माण क्रम—

ग्रहण किये आहार के पाचन होने के उपरान्त उसके सार एवं किट्ट दो भाग बनते हैं। किट्ट भाग का शरीर से विसर्जन हो जाता है तथा सार भाग का धात्वग्नियों द्वारा पाचन होने पर शरीर की धातुओं का निर्माण होता है। धातुओं के निर्माण क्रम के विषय में निम्न तीन न्याय प्रसिद्ध हैं, तथा अरुणदत्त अपना एक विशेष न्याय मानते हैं।

1. क्षीर-दधि न्याय।
2. केदारी कुल्या न्याय।
3. खले कपोत न्याय।
4. एक काल धातु-पोषण पक्ष (अरुणदत्त)।

1. क्षीर-दधि न्याय—

इस मतानुसार, जिस प्रकार सम्पूर्ण दुग्ध दधि में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार से अन्नरस का धात्वग्नि से पाक होने पर वह मांस धातु में, रक्त का रक्ताग्नि से पाक होने पर वह मांस धातु में तथा इसी प्रकार पूर्व-2 धातु का तत्सद् धात्वग्नि से पाक होने पर वह उत्तरोत्तर धातुओं में परिवर्तित होती जाती है।

इस न्याय के अनुसार जब पूर्व धातु सम्पूर्ण रूप से उत्तर धातु में परिवर्तित हो जाती है (जैसे सम्पूर्ण दुग्ध दधि में परिवर्तित हो जाता है) तो उपवास करने से

एक समय ऐसा आ जाना चाहिए जबकि परिवर्तन के परिणाम स्वरूप केवल शुक्र धातु ही शेष रह जानी चाहिये!

इस न्याय के पक्ष में विद्वानों की युक्ति है कि अन्नरस का रसाग्नि से पाक होने पर उससे बने सार भाग के स्थूल-सार अंश एवं सूक्ष्म-सार अंश दो भाग होते हैं। स्थूल भाग रस धातु का पोषण करता है तथा सूक्ष्म सार अंश इसकी उपधातु (आर्त्तव व स्तन्य) तथा रक्त का (धात्वग्नि से पाक होने पर) निर्माण करता है। इस प्रकार सूक्ष्म सार भाग से अन्य धातुओं का निर्माण होता रहता है और स्थूल सार भाग धातु रूप में बना रहता है।

2. केदारी-कुल्या न्याय—

जिस प्रकार कुल्या से प्रथम पूर्व स्थित क्यारी (केदारी) भरती है उसी प्रकार अन्नरस से सर्वप्रथम रस धातु का पोषण तथा उसका निर्माण होता है। इसके पश्चात् शेष अन्नरस रक्ताशय में जाकर रक्त का निर्माण करता है। इसी प्रकार से अन्नरस धातु-सधर्मी अंशों से क्रम से उत्तरोत्तर धातुओं के आशयों में जाने से उन-उन धातुओं का उसी क्रम से निर्माण करता है।

पहले एक धातु का निर्माण होकर फिर उसके पश्चात् दूसरी धातु का निर्माण होता है। पूर्वकी धातु के (जैसे मांस) पूर्ण रूप से बनने के पश्चात् ही दूसरी धातु (मेद धातु) बनती है अर्थात् पुरुष में किसी एक समय में मांस धातु तो अधिक हो जबकि मेद धातु का निर्माण होना शेष हो (जैसे पानी से पहली क्यारी के भरने के समय तक दूसरी क्यारी पूर्णतया सूखी रहती है) परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह न्याय भी अधिक युक्ति संगत नहीं है। सुश्रुत ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि अन्नरस प्रत्येक धातु में 3015 कला तक रुकता है।

3. खले कपोत न्याय—

किसी खलिहान में दाना चुगने के लिए आए कबूतर तृप्त होकर उड़ जाते हैं, उनके घोंसलों की दूरी तथा रास्ता भिन्न होने से उन्हें वहाँ तक पहुँचने में समय भी भिन्न-भिन्न लगता है। इसी प्रकार से अन्नरस अपने अधिष्ठान से धातुओं के स्रोतों द्वारा उन धातुओं में स्रोत की सूक्ष्मता तथा उनकी दूरी के अनुसार शीघ्र या विलम्ब से पहुँचकर उन-उन धातुओं का निर्माण करता है। इस न्याय के अनुसार अन्नरस सब धातुओं के स्रोतों में एक साथ जाता है परन्तु उत्तरोत्तर धातु का स्रोत सूक्ष्म होने पर उन धातुओं का निर्माण क्रम से देर में होता है। (प्रत्येक धातु का स्रोत अन्नरस में से अपने पोषक अंश को ही ग्रहण करता है।) यह न्याय ही अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है।

4. एक काल धातु पोषक मत—

टीकाकार अरुणदत्त के अनुसार अन्नरस व्यान वायु द्वारा एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। इससे एक साथ ही सब धातुओं का निर्माण होता

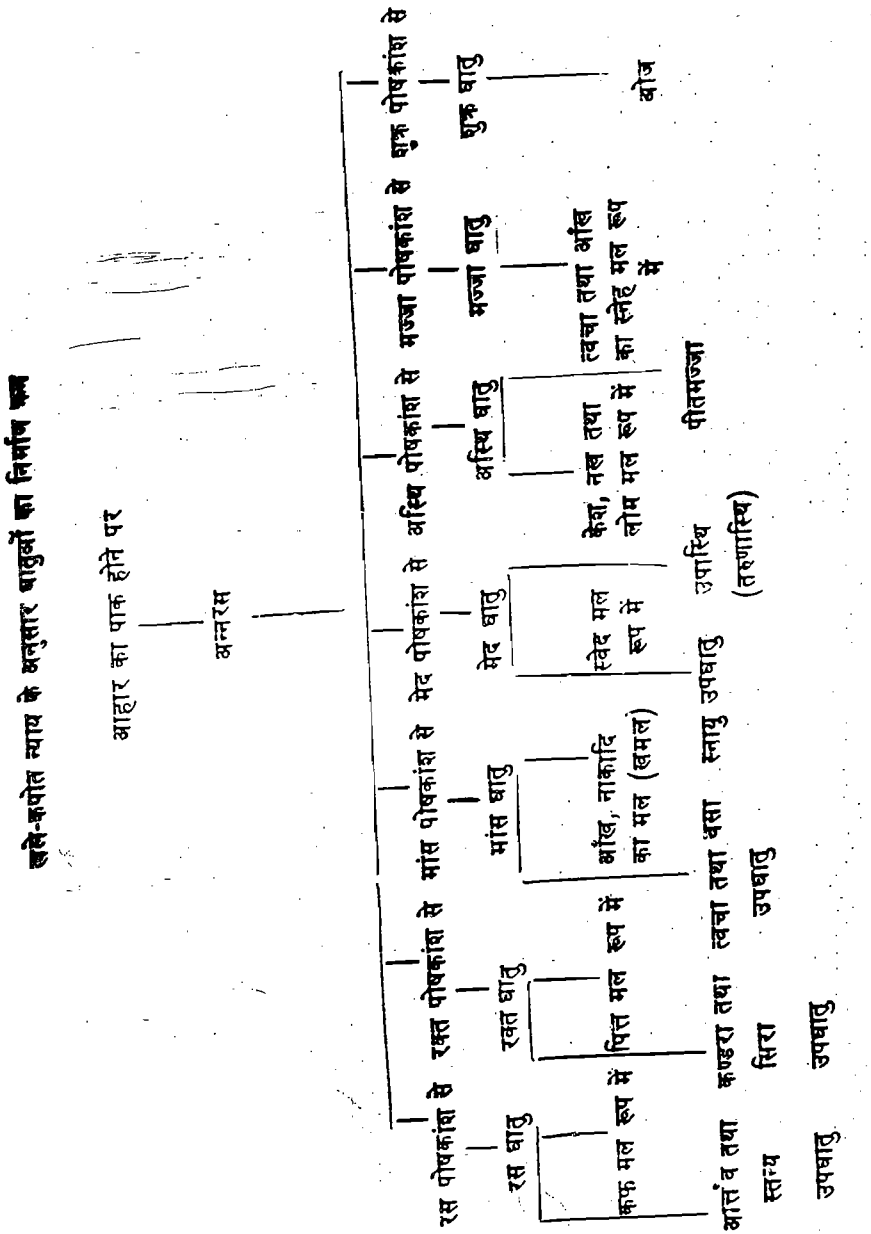

है (जैसे खलिहान में से सब कबूतर एक साथ दाना उठाते हैं) ऐसे ही अन्न का सार भाग शोषित होकर प्लाज्मा के रूप में सारे शरीर में एक साथ पहुंचता है। यह न्याय भी खले कपोत न्याय का ही अप्रत्यक्ष रूप में समर्थन करता है।

धातुओं का उत्पत्ति काल

अन्नरस से रस धातु एक दिन में बन जाती है परन्तु रस धातु से शुक्रधातु बनने में कितना समय लगता है, इस पर आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं जैसे :— सुश्रुतमतानुसार शुक्र बनने में 18090 कला (एक मास) समय लगता हैं, अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार कुछ लोग रस से शुक्रधातु एक दिन और एक रात (24 घन्टे) में बनती है, ऐसा मानते हैं। आचार्य चरक लिखते हैं कि कुछ लोग प्रत्येक धातु का परिवर्तन 6 अहोरात्र (6 दिन) में पूरा हो जाता है ऐसा मानते हैं। चक्रपाणि धातु परिवर्तन का समय अग्निबल पर निर्भर मानते हैं, जैसे तीव्राग्नि होने पर यह परिवर्तन शीघ्र होता है तथा मन्दाग्नि रहने पर देर में होता है। यह परिवर्तन द्रव्यों पर भी निर्भर करता है, जैसे वृष्य द्रव्य शीघ्र बल देते हैं।

धातुओं से रोगोत्पत्ति—

(i) अन्नरस का पाचन करने वाली पाचकाग्नि के क्षय या वृद्धि होने से भूताग्नियों व धात्वग्नियों की भी तदानुसार उत्तरोत्तर क्षय या वृद्धि होती रहती है, जैसे रसाग्नि तीव्र होने से रस का क्षय फिर उससे रक्त का क्षय तथा उत्तरोत्तर धातुओं के कम मात्रा में बनने से उनका भी क्षय हो जाता है। इसके विपरीत रसाग्नि के मन्द होने से आमरस की वृद्धि होती है जिससे उत्तरोत्तर धातुओं की भी आमवृद्धि होने लगती है। धात्वग्नि विषमता से धातुओं का क्षय या वृद्धि होकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(ii) प्रकुपित दोष जब शरीर में परिभ्रमण करते हैं तो जिस धातु के स्रोत में विगुणता (आघात या विषों से) होती है उसी धातु के स्रोतों (धातु) में दोष अपना स्थान संश्रय कर लेते हैं।

'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते॥

प्रकुपित कफ दोष स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके व्याधि उत्पन्न करता है।

पित्त दोष स्रोत की क्रिया या अग्नि को तीव्र करके रोग उत्पन्न करता है।

वात दोष स्रोतों की क्रियाओं को विषम करके अनेक विकार उत्पन्न करता है।

सप्तधातु वर्णन—

रस रक्तादि सातों धातुओं का वर्णन निम्न तालिका में देखें, इस तालिका में इनकी महत्ता, इनके क्षय होने के लक्षण, वृद्धि के लक्षण तथा इनकी सामान्य चिकित्सा दी गई है।

सप्तधातु की व्याख्या, महत्त्व, क्षय, वृद्धि तथा चिकित्सा की तालिका

धातु	व्याख्या तथा महत्त्व	धातु क्षय	धातु वृद्धि	सामान्य चिकित्सा सूत्र
1. रस	आहार में सेवन किए पदार्थों का जठराग्नि द्वारा पाक होने पर जो सार भाग बनता है उसे अन्नरस या रस कहते हैं। यह 24 धमनियों द्वारा सारे शरीर में फैल जाता है। गुण :—स्नेह, द्रव तथा सौम्य। रस शरीर में कफ के रूप में रहता है। इसके पाक के पश्चात् यह अन्नवह स्रोत से शोषित होकर रस के रूप में अर्थात् एमिनो एसिड्ज (Amino acids), शर्करा (Sugar) तथा Fatty acid, and Glycerol के रूप में शरीर का तर्पण (Nutrition), वृद्धि (Growth) तथा इसे धारण (Maintenance) करते हैं, एवं रक्त का पोषण करता है, Iron + Protein (Haem + Globin = Haemoglobin)	रस के क्षय होने से उसके मूल स्थान हृदय में शूल, शरीर में कम्पन तथा शून्यता, तृषा, रूक्षता एवं ग्लानि होती है, जैसे :—इन्सुलिन (Insulin) सूची-वेध से रक्ताग्नि तीव्र होकर अधिक शर्करा का पाचन कर देती है, इससे रस क्षय (Hypoglycaemia) के उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं (तृषा, कम्पन, मूर्च्छादि)। विकृत पोषण (Malnutrition) से भी रस क्षय के लक्षण उत्पन्न होते हैं।	रसाग्नि के मन्द होने पर आम रस की वृद्धि होती है जिससे कि‍ट्ट भाग अधिक बनता है (जैसे प्रतिश्याय एवं आमवात में कफ अधिक बनता है)। अधिक मधुर पदार्थों के सेवन से रसाग्नि मन्द होकर वह मधुर रस को मल रूप में बाहर निकालने लगती है, जैसे मुख से पानी आना, मिचली आना तथा मल, मूत्र, नेत्र, नख त्वचादि श्वेत हो जाते हैं।	**रस वर्धक द्रव्य** :—मधुर एवं शीत वीर्य द्रव्य, जैसे क्षीर। **रस क्षय कारक द्रव्य**—रुक्ष व कठिन द्रव्य (आकाश, वायु तथा अग्नि गुण वाले), जैसे यव।
2. रक्त	रस के तेजस तथा पित्त की उष्मा से (रसाग्नि से पाक होने पर) रस रक्त में परिणत हो जाता है। इसके पश्चात् यकृत एवं प्लीहा इसे लाल बना देते हैं (जब बच्चा गर्भ में होता है)। गुण: यह गुंजा के समान लाल वर्ण का निर्मल तरल, न अति घन, न अति पतला तथा शरीर को बल व वर्ण देता है (रक्ताल्पता होने पर पुरुष बल एवं वर्णहीन हो जाता है)। रक्त से मेद का पोषण होता है।	रक्त क्षय होने पर पाण्डुता, शिथिलता, मन्दाग्नि, त्वचा में रूक्षता (Dryness), अम्ल तथा शीत पदार्थों की इच्छा जागृत होना (रक्ताल्पता होने पर भी यही लक्षण पाए जाते हैं) इत्यादि लक्षण होते हैं।	रक्त वृद्धि से नेत्रादि में लालिमा, सिराओं में पूर्णता (रक्त भार के बढ़ने से भी यही लक्षण होते हैं) तथा इसके अतिरिक्त विसर्प, विद्रधि व कुष्ठादि संक्रमण जन्य रोग, वात-रक्त, रक्तपित्त, रक्तगुल्म, कामला, व्यंग एवं अग्निमान्द्य इत्यादि रोगों के लक्षण उत्पन्न होते हैं।	**रक्त वर्धक द्रव्य** अति शीत, लघु तथा स्निग्ध द्रव्य (जैसे मधु, मिश्री काकोल्यादि गण)। ये द्रव्य आग्नेय तथा जलीय गुण युक्त होते हैं। **क्षय कारक द्रव्य** कटु, अम्ल तीक्ष्ण एवं विदाहि द्रव्य जैसे, सोमज।
3. मांस	वायु, जल, तेज और उष्मा के मिलने से रक्त संघात रूप धारण करके मांस धातु में परिवर्तित हो जाता है तथा रक्त मेद का पोषण करता है।	मांसक्षय से नितम्ब, गण्ड, वक्ष, उदर ग्रीवादि प्रदेशों की पेशियों में तोद होती है एवं इनमें शिथिलता आ जाती है। धमनियों में भी शिथिलता आ जाती है, अवयव एवं सन्धियों में वेदना होती है।	नितम्ब, उदर, कपोल, शिश्न, जिह्वा, तालु, अंसादि पेशियों में वृद्धि (परन्तु बलहीनता, जैसे मोटे पुरुषों में होता है), गलगण्ड, अर्बुद की तथा मांस पिण्ड की उत्पत्ति एवं ग्रन्थियाँ भी आकार में बढ़ जाती हैं।	**मांस वर्धक द्रव्य** :—बृंहणीय द्रव्य **मांस क्षय कारक**—लेखन द्रव्य, जैसे यव, बच एवं मधु।

धातु	व्याख्या तथा महत्व	धातु क्षय	धातु वृद्धि	सामान्य चिकित्सा सूत्र
4. मेद	मांस का मांसाग्नि से पाक होने पर उसमें तेज, जलीय व स्निग्ध गुण की वृद्धि होने से मेद धातु का निर्माण होता है।	मेद क्षय से प्लीहा वृद्धि, सन्धि-शून्यता, रूक्षता, उदर तथा त्वचा में मेद क्षीण हो जाता है (ऐसे लक्षण जीर्ण व्याधियों में या Collagen रोग से पीड़ित रोगियों में मिलते है) इससे रोगी कृश हो जाता है।	इसमें मेद की वृद्धि, उदर एवं त्वचादि मेद युक्त स्थानों की वृद्धि तथा उनमें स्निग्धता, स्वेद में दुर्गन्धता तथा श्वास कासादि लक्षण मिलते हैं। (ऐसे लक्षण मोटे पुरुषों में मिलते हैं)।	**मेद वर्धक द्रव्य—** घृत तथा वसादि बृहंण द्रव्य **मेद ह्रासक द्रव्य—** तीक्ष्ण, रुक्ष, लेखन, छेदन व वायव्य, गुण वाले द्रव्य जैसे— यवादि।
5. अस्थि	मेद का मेदाग्नि से पाक होकर फिर उसके साथ अग्नि, पृथ्वी व वायु के मेल से वह संघात रूप होकर खर गुण वाली अस्थि को उत्पन्न करती है। इसका कार्य शरीर को धारण करना है।	अस्थि क्षय से तोदादि, वेदना व अस्थि, लोम, नखादि वेदना भग्न होता है (Cracks), जैसे Osteomalacia में केश एवं लोमों का पतन (Alopacia), सन्धियों की शिथिलता होती है तथा श्मश्रु पतन होता है।	वृद्धि होने पर अस्थि में उभार (Osteophytes) उत्पन्न हो जाते हैं। अस्थि बढ़ने लगती है। इन रोगियों में दांतों की भी अस्वाभाविक वृद्धि होती है।	**अस्थि वर्धक द्रव्य—** कठिन एवं स्थिर गुण वाले द्रव्य जैसे प्रवाल, मुक्ता, अण्डा इत्यादि। **अस्थि ह्रासक द्रव्य—** खटिक तत्वों रहित आहार का सेवन।
6. मज्जा	अस्थियों के वायु द्वारा खोखला हो जाने पर उसमें मेद भर जाती है, इसी स्नेह को मज्जा कहते हैं। गुण—यह शरीर में बल एवं प्रीति उत्पन्न करती हैं तथा शुक्र का पोषण करती है।	मज्जा ह्रास से पर्वभेद, अस्थि शून्यता, अस्थि स्थूलता एवं शुक्र की कमी हो जाती है। रक्त तथा मज्जा क्षय से मूर्च्छा भ्रम एवं तमो दर्शन होता है।	मज्जा वृद्धि से सर्वांग में गौरवता, अवयवों में स्थूलता एवं कृच्छ्रसाध्य पीड़िकायें उत्पन्न होती हैं।	**मज्जा वर्धक द्रव्य—** स्निग्ध पदार्थ, मज्जा, वसा स्नेह इत्यादि। **मज्जा ह्रासक द्रव्य—** सब रुक्ष द्रव्य मज्जा का ह्रास करते हैं।
7. शुक्र	शुक्र का निर्माण मज्जा के स्नेह से होता है। **गुण**—शरीर में शौर्य, शुक्र का शीघ्र क्षरण, स्त्रियों में प्रीति, स्नेह, गर्भ को उत्पन्न करने वाला तथा देह एवं बल का वर्धक होता है।	शुक्र के ह्रास से मेढ एवं वृषण में वेदना, मैथुन में अशक्ति होना, देर से शुक्र पतन होना, दौर्बल्य, शिथिलता तथा क्लैब्य उत्पन्न होता है।	शुक्र की वृद्धि से शुक्राश्मरी की उत्पत्ति तथा शुक्र का प्रादुर्भाव होता है।	**शुक्रल द्रव्य—** दुग्ध, तक्र, शुक्र, चिड़िया का अण्डा एवं घृत शुक्र को उत्पन्न करता है। **शुक्र ह्रासक द्रव्य—** कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण तथा मन्द गुण वाले द्रव्यों का सेवन शुक्र का ह्रास करता है।

4

द्रव्य संग्रह

सुश्रुत ने अनेक प्रकार के शल्य सम्बन्धी कर्मों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को उपक्रमों के अनुसार लिखा है तथा इन्हें एकत्रित करके विभिन्न समूहों में विभाजित किया है, जैसे—लेपन द्रव्य पाचन व दारण द्रव्य, पीड़न द्रव्य, शोधन द्रव्य, रोपण द्रव्य इत्यादि—इन्हें 60 उपक्रम अध्याय में देखें। यहाँ पर सुश्रुत मतानुसार द्रव्य समूह के 37 गणों का वर्णन किया गया है। इन गणों का नाम समूह के आदि द्रव्य के नाम पर रखा गया है। इन्हें दोषों के अनुसार विभाजित करके इनके मुख्य द्रव्य तथा सामान्य गुण कर्म निम्न तालिका में दिखाये गये हैं।

गणों के द्रव्य तथा सामान्य गुण कर्म

गण	मुख्य द्रव्य	गुण तथा कर्म
1. वात हर गण (1) वीरतर्वादि	अर्जुन, दोनों झिण्टी, कुशा, काश पाषाणभेद, अरणी, मूर्वा, अपामार्ग, सुवर्चला, गोक्षुर इत्यादि।	यह गण वात विकारहर, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात अश्मरी तथा शर्करा इत्यादि की पीड़ा का नाशक होता है।
(2) परुषकादि	परुषक (फालसा), कटफल, अनार, निर्मली, त्रिफला इत्यादि।	यह गण वायुनाशक, मूत्रदोष हर, तृषाहर, हृदय प्रिय तथा रुचि उत्पन्न करता है।
II पित्तहर गण (1) उत्पलादि	उत्पल (कमल), लाल व श्वेत तथा थोड़ा लाल-श्वेत कमल, पुण्डरीक तथा मुलहठी।	यह गण दाह-पित्त तथा रक्त रोग नाशक है, तृषा, विष, हृदय रोग, छर्दि तथा मूर्च्छा हरने वाला होता है।
(2) अञ्जनादि	स्रोतांजन, रसाञ्जन, नागकेसर, प्रियंगु, नील-कमल, उशीर, पद्मकेसर तथा मुलहठी।	यह रक्त-पित्त तथा दाह नाशक होता है।
(3) गुडूच्यादि	गिलोय, नीम, धनियाँ, चन्दन तथा पद्माख।	यह गण दाह, तृषा, अरुचि, वमन, हृल्लास तथा सब प्रकार के ज्वरों का नाशक होता है।
(4) न्यग्रोधादि	न्यग्रोधादि व पंचक्षीरी वृक्ष, अर्जुन, आम्र, जामुन, मुलैठी, बेर, पलाश, मिलावा इत्यादि द्रव्य।	इस गण के द्रव्य योनि-रोग नाशक, व्रण तथा अस्थि को जोड़ने वाले होते हैं।
(5) प्रियंग्वादि	प्रियंगु, मंजीठ, धाय, नागकेसर, चन्दन, लाल चन्दन, रसाञ्जन एवं पद्मकेसरादि।	यह गण पित्त-नाशक, वर्ण्य तथा टूटी अस्थि को जोड़ने वाला होता है।
(6) अम्बष्ठादि	अम्बष्ठा (पाठा), धाय पुष्प, मधुयष्ठि, पठानी लोध्र, ढाक तथा नागकेसरादि।	इसके गुण कर्म प्रियंग्वादि गण की तरह होते हैं।
(7) तृण पञ्चमूल	कुश, काश, नल, दर्भ तथा इक्षु (गन्ना)।	यह रक्त, पित्त तथा मूत्र दोष हर होता है।

गण	मुख्य द्रव्य	गुण तथा कर्म
III कफहर गण		
(1) आरग्वधादि	आरग्वध (अमलतास), मैनफल, कुटज, पाठा, पाटला, इन्द्रयव, निम्ब, सप्तपर्ण, गिलोय, चित्रक, करंज, चिरायता, करेलादि।	यह गण कफ, विष, कुष्ठ, कण्डु, प्रमेह, वमन तथा ज्वर नाशक और व्रणशोधक होता है।
(2) ऊषकादि	उषक (क्षारमृतिका), सेन्धा, शिलाजीत, दोनों कासीस, तुत्थ तथा हींग।	यह गण कफ व मेद नाशक, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, शूल एवं गुल्म को नष्ट करता है।
(3) पिप्पल्यादि	पिप्पली, मिर्च और सोंठ अर्थात् त्रिकटु।	यह गण कफ, मेद, कुष्ठ, त्वचा रोग तथा प्रमेह नाशक है, अग्निमान्द्य, गुल्म और पीनस हर होता है।
(4) लोध्रादिगण	लोध्र, पलाश, श्योनाक, अशोक, कटफल कदम्ब, केला, सालादि।	यह गण कफ, मेद, विष तथा योनिदोष नाशक, स्तम्भक और वर्ण के लिये हितकर होता है।
(5) सुरसादि	सुरसा (तुलसी), मरुवा, द्रोणपुष्पी, कासमर्द, नकछींकनी, वायविड्ङ्ग, कायफल, निर्गुण्डी, मकोय, कुचलादि।	यह गण कफ, कृमि, प्रतिश्याय, कास व श्वास नाशक, अरुचि हर तथा वर्ण शोधक होता है।
(6) मुष्कादि	मुष्क, पलाश, चित्रक, मैनफल, कुटज, शीशम, सेहुण्ड तथा त्रिफला।	यह गण मेद, अर्श, प्रमेह, पाण्डु, शर्करा तथा शुक्र दोष नाशक है।
(7) सालसारादि	सालसार, सर्ज, खदिर, सुपारी, भोजपत्र, दोनों चन्दन, शीशम, शिरीष, अर्जुन, ताड़, करञ्ज, अगुरु इत्यादि।	यह गण कफ, मेद, कुष्ठ, प्रमेह तथा पाण्डु रोग नाशक होता है।

गण	मुख्य द्रव्य	गुण तथा कर्म
(8) वरुणादि	वरुण शिग्रु, जयन्ती, मेढाश्रृङ्गी, पूतीक (करञ्ज), चित्रक, बिल्व, कुश तथा कटेरी।	यह, गण कफ, मेद अन्तर्विद्रधि, गुल्म तथा शिरः शूल हर होता है।
(9) अर्कादि	अर्क (दोनों), दोनों करञ्ज, जमालगोटा, अपामार्ग, लांगली, रासना, ज्योतिष्मती इत्यादि।	यह गण कफ, मेद, कुष्ठ, कृमि, विषनाशक तथा व्रण शोषक होता है।
(10) मुस्तादि	मुस्तक (नागर मोथा), दोनों हरिद्रा, त्रिफला, कुटकी, अतीस, एला, मिलावा, चित्रकादि।	यह गण कफ एवं योनि-रोग नाशक, दुग्ध शोधक तथा पाचक होता है।
IV कफ पित्त हर गण		
(1) सारिवादि	सारिवा, मुलहठी, दोनों चन्दन, पद्मक, गम्भारीफल, महुवापुष्प तथा उशीर।	यह गण रक्त पित्त व कफ नाशक, पित्त एवं ज्वर शामक तथा दाह नाशक है।
(2) पटोलादि	पटोल (परवल), दोनों चन्दन, मूर्वा गिलोय, पाठा और कुटकी।	यह पित्त, कफ, अरुचि तथा ज्वर नाशक, विष, कण्डु एवं छर्दिहर तथा व्रणों के लिये हितकर होता है।
(3) लाक्षादि	लाक्षा, कुटज, कनेर, कट्फल, दोनों हरिद्रा, निम्ब, चमेली, त्रिफलादि।	यह गण कफ, पित्त, कुष्ठ, कृमि नाशक, व्रण-शोधक एवं तिक्त, मधुर और कषाय रस युक्त होता है।
(4) त्रिफला	हरड़, बहेड़ा, आँवला।	यह गण कफ, पित्त, प्रमेह, कुष्ठ एवं विषम ज्वर नाशक होता है तथा अग्निदीपक व नेत्रों के लिये हितकर होता है।

गण	मुख्य द्रव्य	गुण तथा कर्म
V वातपित्तहर गण		
(1) विदारीगन्धादि	विदारीगन्ध (शालपर्णी), गंगेरन, सहदेवी, गोक्षुर, पृश्निपर्णी शतावर, सारिवा, जीवक, ऋषभक, कटेरी इत्यादि।	यह गण वात, उर्ध्वश्वास, कास एवं गुल्म नाशक है तथा अंगों की पीड़ा को हरता है।
(2) काकोल्यादि	काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, मुद्गपर्णी (अर्थात् अष्ट वर्ग), वंशलोचन, पद्माख, जीवन्ती, मुलहठी, द्राक्षा, ऋद्धि, वृद्धि इत्यादि।	यह गण पित्त, रक्त दोष तथा वायु का नाशक है, वृंहण, वृष्य, दुग्ध तथा कफ वर्द्धक होता है।
(3) लघुपञ्चमूल	गोक्षुर, दोनों कटेरी, विदारीगन्ध और पृश्निपर्णी।	यह गण वात शामक, पित्त नाशक, बलवर्द्धक, तिक्त, कषाय और मधुर रस युक्त होता है।
VI वातकफहर गण		
(1) पिप्पल्यादि	पिप्पली, पिपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ (अर्थात् पंचकोल), मरिच, गजपिप्पली, एला, अजमोद, पाठा, जीरा, हींग, अतीस, वच, कुटकी इत्यादि।	यह गण कफ, वायु, प्रतिश्याय, अरुचि, गुल्म एवं शूलनाशक तथा आम पाचक होता है।
(2) एलादि	एला, अगुरु, तगर, कुष्ठ, जटामांसी, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेसर, रेणुका, मृद्वेष्टक, गुग्गुलु, राल, देवदारू, केसरादि।	यह गण वायु, कफ, विष, कण्डु, पिडिका एवं कोठ नाशक है तथा वर्ण को स्वच्छ करता है।
(3) बृहत् पंचमूल	बिल्व, अरणी, पाटला, गाम्भारी और श्योनाक।	यह गण कफ व वात नाशक, अग्नि वर्द्धक, तिक्त रस, मधुर अनुरस युक्त तथा लघु गुण वाला होता है।

गण	मुख्य द्रव्य	गुण तथा कर्म
VII त्रिदोषहर गण		
(1) वल्लीपञ्चमूल	विदारीकन्द, सारिवा, हल्दी, गिलोय अजशृंगी।	यह गण रक्त व पित्त शामक, वात, पित्त तथा कफज शोथ नाशक, प्रमेह तथा शुक्र दोष हरता है।
(2) कण्टकपञ्चमूल	करौंदा, गोक्षुर, झिण्टी, शतावर और गृध्रनख।	इसके गुण कर्म भी वल्लीपंचमूल के समान होते हैं।
(3) दशमूल	लघु तथा बृहत् पंचमूल के द्रव्य।	यह वर्ग वात, पित्त, कफ श्वास, आम तथा ज्वर नाशक और पाचक होता है।
दि गण	बृहती (बड़ी कटेरी), कुटज, पाठा, मुलहठी इत्यादि।	यह वर्ग वायु, पित्त, कफ, हृदय रोग, मूत्रकृच्छ्र नाशक तथा पाचक होता है।
VIII अन्य गण		
(1) श्यामादि	श्यामा (काली त्रिवृत), विधारा, निशोथ, दन्ती, सुपारी, गवाक्षि, अमलतास, गिलोय, दोनों करञ्ज, सेहुण्ड इत्यादि।	यह गण मलविरेचक, आनाह, गुल्म, विष, उदर रोग तथा उदावर्त नाशक होता है।
IX अतिसार नाशक गण		
(1) वचादि	वच, नागरमोथा, अतीस, हरड़, देवदारु, नागकेसर इत्यादि।	यह गण अतिसार नाशक, दोषों का पाचक तथा स्तन्य शोधक होता है।
(2) हरिद्रादि	दोनों हरिद्रा, पृश्निपर्णी, इन्द्रयव तथा मुलहठी।	इस गण के गुण कर्म वचादि गण के समान होते हैं।
(3) त्रपुष्यादि	त्रपु, सीसक, ताम्र, रजत, कृष्णलौह, स्वर्ण एवं लौह किट्ट।	यह गण गरविष, विष, कृमि, पाण्डु, प्रमेह, हृदय रोग तथा तृषा नाशक होता है।

उपर्युक्त गणों को उनके सामान्य कर्मों के अनुसार निम्न विधि से विभाजित किया जा सकता है जैसे—

(1) कुष्ठ विसर्प तथा विषनाशक गण:—

आरग्वधादि, सालसारादि, लोध्रादि, अर्कादि, एलादि, श्यामादि, पटोलादि, त्रिफला, पिप्पल्यादि, न्यग्वादि (धातुगण) एवं लाक्षादि गण।

(2) व्रणों का शोधन करने वाले गण:—

अर्कादि, सुरसादि, पटोलादि, न्यग्रोधादि तथा लाक्षादि।

(3) कण्डू, पिड़िकादि नाशक :—एलादि, पटोलादि।

(4) मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघातादि नाशक गण :—वरुणादि, वृहत्यादि, उषकादि, परुषकादि, तृणपंचमूल।

(5) अश्मरी तथा शर्कराहर गण :—वीरतर्वादि, मुष्कादि, ऊषकादि।

(6) त्वग्रोगहर तथा वर्ण्य गण :—लोध्रादि, एलादि, प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि।

(7) संधान कर गण (टूटी हड्डी जोड़ने वाले) :—प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि, न्यग्रोधादि।

(8) अन्तर्विद्रधि नाशक गण :—वरुणादि गण।

—:—

5

व्रण-शोथ

(Inflammation)

व्याख्या :—

"शोफसमुत्थानं: ग्रन्थिविद्रधिव्रणजीमूतिमि: विसर्पाणां: पृथुपंचित सभो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघात: शरीरंकदेशोत्थित: शोफ इत्युच्यते।"

—सु० सू० 17

व्रणशोथ भी ग्रन्थि, अलजी, गलगण्ड इत्यादि व्याधियों के सदृश उत्सेधयुक्त (Swelling) होती है, परन्तु अन्य लक्षणों के आधार पर यह व्याधि ग्रन्थि इत्यादि रोगों से पूर्णतया भिन्न होती है। दोष त्वचा या मांस के आश्रित होकर, एक स्थान में इकट्ठे होने से अनेक प्रकार की अर्थात् कभी ग्रथित (पिण्डकार) कभी सम तथा कभी विषम आकृति की व्रणशोथ को उत्पन्न करते हैं।

शोथ :— उत्सेध युक्त रोगों के लिये शोथ एक सामान्य नाम दिया गया है। अधिमांस, अर्बुद, ग्रन्थि इत्यादि में उत्सेध एक सामान्य चिन्ह होने के कारण, चरक ने इन सब रोगों के लिये 'शोथ' एक सामान्य नाम दिया है। शोथ तथा शोफ में भ्रम दूर करने अर्थात् इनके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये माधव जी ने सुश्रुत की शोफ अवस्था को व्रण-शोथ (Inflammation) कहा है। परन्तु सामान्यत: चिकित्सक व्रणशोथ को शोफ न कहकर शोथ ही कह देते हैं, इसलिए शोथ को भी व्रण-शोथ (Inflammation ही मान लेना चाहिये।

किसी भी उत्तेजक वस्तु के प्रति (In response to an irritant substance) जो शरीर की ऊतियों की प्रतिक्रिया (Tissue reaction) होती है उसे शोफ या व्रण-शोथ (Inflammation) कहते हैं।

हेतु :—

(1) मिथ्याहार-विहार— मिथ्या आहार तथा मिथ्या विहार से प्रकुपित दोष, संघात (इकट्ठे) रूप में त्वचा तथा मांस धातु में आश्रित होकर अर्थात् इन धातुओं में रुककर व्रणशोथ उत्पन्न करते हैं। मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न होने वाले निज व्रणों में पहले शोफ होता है तथा इसके पकने के पश्चात् व्रण बनता है **(व्रणाय शोफ:)**।

(2) **आघात (Trauma)** :—शस्त्र से या जीवों के दंशादि के आघात से कुछ देर (घण्टों) के पश्चात् आघात की प्रतिक्रिया के रूप में व्रणशोथ उत्पन्न होने लगती है। इसमें पहले व्रण बनता है फिर शोफ उत्पन्न होती है (**शोफाय व्रणः**)।

(3) **शीत अनिल** :—अति शीत वायु से शीत दग्ध (Frost bite) होने के कारण (ऊतीय नाश से) शोफ उत्पन्न हो जाती है।

(4 **उत्तेजक पदार्थ** :—भल्लातक, क्षोभक रासायनिक पदार्थ, दाहक क्षार (Caustics), अम्ल (Acids), कौंच का स्वरस या शूक तथा मकड़ी इत्यादि जीवों या वनस्पति विषों का शरीर से सम्पर्क होने पर, इनकी प्रतिक्रिया (Reaction) के फलस्वरूप ऊतियों में शोफ उत्पन्न होती है।

(5) **संक्रमण (Infection)** : व्रण पर मक्खियाँ बैठने से वहाँ पर कृमि उत्पन्न होते हैं इस व्रण में अत्यधिक शोफ व तीव्र वेदना होती है। व्रण को संक्रमित करने वाले मुख्य जीवाणु निम्नलिखित हैं।

(क) **विशेष संक्रमण** (Specific infections) :—जैसे क्षय के दण्डाणु (Mycobacterium tuberculosis), फिरंग के जीवाणु इत्यादि।

(ख) **अविशेष संक्रमण** (Non specific infection) :—इस वर्ग में मुख्यतया पूयोत्पादक जीवाणु आते हैं जैसे :—

(i) **स्टेफिलो कोकाई** (Staphylococci) :—इनके द्वारा त्वचा में पिड़िकायें (boils) तथा अधः त्वचा में प्रेमहपिड़िकायें (Carbuncle) बनती हैं।

(ii) **स्ट्रेप्टोकोकाई** (Strepto cocci) :—इन जीवाणुओं से मुख्यतया विसर्प (Erysipelas), रसवाहिनी शोफ (Lymphangitis) तथा तुण्डिका शोफ (Tonsilitis) उत्पन्न होती है।

(iii) **न्युमो कोकाई** (Pneumo cocci) :—इनसे निमोनिया (Pneumonia), तीव्र सन्धि-शोफ (Acute arthritis), मस्तिष्कावरण-शोफ (Meningitis), मध्यकर्ण-शोफ (Ottitis media), पर्युदर्या-शोफ (Peritonitis) इत्यादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

(iv) **एसचरेचिया कोकाई** (Escherichia cocci :—यह जीवाणु स्वस्थ पुरुष की आन्त्र में पाए जाते हैं परन्तु ये अन्य स्थानों में संक्रमण करके पर्युदर्या शोफ (Peritonitis , पित्ताशय-शोफ (Cholecystitis), वृक्कशोफ (nephritis) इत्यादि विकार उत्पन्न करते हैं।

(v) **सालमोनेलि** (Salmonalae) :—यह आन्त्र शोफ (Enteritis) पित्ताशय शोफ (Cholecystitis) तथा आहार विषाक्तता (Food poisoning) उत्पन्न करता है।

(vi) **स्युडोमोनास पायोसनि** (Pseudomonas pyocyanea) :—यह हरे वर्ण की पूय का निर्माण करता है तथा खुले व्रणों में द्वितीय संक्रमण (secondary infection) उत्पन्न करता है।

(vii) **निसेरिया गोनोरिया** (Neisseria gonorrhoea)—इससे मूत्र प्रसेक-शोफ (Urethritis), नेत्रावरण-शोफ (Conjunctivitis), गुद-शोफ (Proctitis), हृदयान्तावरण-शोफ (Endocarditis) इत्यादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

सम्प्राप्ति :—

विद्रधि (Deep abscess) की सम्प्राप्ति बतलाते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि वातादि दोष प्रकुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और मेद को दूषित करके वे विद्रधि का रूप धारण कर लेते हैं। **त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः। दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥ महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्ययवा ऽऽयतम्। तमाहुर्विद्रधिं धीरा, विज्ञेयः स च षड्विधः। सु०नि०। ये दोष त्वचा तथा** मांसाश्रित होकर शोफ को उत्पन्न करते हैं। यह शोफ उत्तान धातुओं (Superficial tissues) के अर्थात् त्वचा व मांसआश्रित होने से विद्रधि को उत्पन्न करने वाली (गम्भीर धातुओं के आश्रित) शोफ से कम भयानक होती है तथा इसका आकार भी छोटा होता है।

चिकित्सक को शोफ की सामान्य सम्प्राप्ति जानने के लिये [जोकि प्रायः सब रोगों में सामान्य रूप से पायी जाती है तथा जिसका सुश्रुत ने शोफ व्याधि के सन्दर्भ (Reference) में वर्णन किया है], दोषों की संचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान-संश्रय, व्यक्ति और भेद अवस्थाओं की अर्थात् क्रियाकाल की जानकारी प्राप्त करनी अति आवश्यक है (**संचयश्च प्रकोपंचप्रसरं स्थानसंश्रयम्। व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥ सु० सू० 21**)

क्रियाकाल :

(1) **सञ्चय अवस्था**—इस अवस्था में दोष, ऋतुओं की अवहेलना करने से अपने-अपने स्थान में (कफ आमाशय में, वायु पक्वाशय में इत्यादि) सञ्चित होने लगते हैं।

(2) **प्रकोपावस्था**—जब उपर्युक्त विधि से संचित हुए दोष मिथ्याहार विहार से अपने ही स्थान में रहते हुए प्रकुपित (Excited) होते हैं तो इसे प्रकोपावस्था कहते हैं (जैसे दूध अग्नि के सम्पर्क से उफान के रूप में प्रकुपित होता है)।

(3) **प्रसरावस्था**—इस अवस्था में प्रकुपित दोष अपने-अपने स्थान से निकलकर वाहिनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करने लगते हैं (जैसे कि दूध में उफान आने पर दूध बाहर गिरकर नाली में बहने लगता है)। इस अवस्था में व्याधि के सामान्य पूर्व रूप उत्पन्न होते हैं, जैसे पित्तज शोफ में ओष, क्लोष, दाहादि लक्षण, वातज में सर्वाङ्गपीड़ा व पेट में क्षोभ तथा कफज में अंगों में शिथिलता

एवं वमनादि लक्षण। इस अवस्था के लक्षण दोषों के अनुसार सब रोगों में एक जैसे पाये जाते हैं।

(4) **स्थान-संश्रय**—जब परिभ्रमणशील दोष विगुणता (विकृति) वाले स्थान पर संचित होते हैं (Accumulate in tissues of low vitality) तो इसे स्थान-संश्रयावस्था कहते हैं। इसमें व्याधि के विशिष्ट पूर्व-रूप (जैसे व्रण-शोथ में आमावस्था के लक्षण) उत्पन्न होते हैं।

(5) **व्यक्ति अवस्था**—इस अवस्था में विगुण स्थान में संचित हुए दोषों के प्रति, शरीर की ऊतियों की तीव्र प्रतिक्रिया होती है। जैसे व्रण-शोथ में संचित दोषों के कारण, ऊतियों की प्रतिक्रिया से, इसकी पच्यमान अवस्था (Acute stage) के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(6) **भेदावस्था**—अन्य व्याधियों के समान यह अवस्था व्रण-शोथ की अन्तिम अवस्था अर्थात् पववावस्था (भेदावस्था) होती है। इसे व्याधि की अति उन्नतावस्था (Advanced stage) भी कहते हैं। इस अवस्था में अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था का विस्तृत विवरण विद्रधि अध्याय में देखें।

विशेष कथन :

आघात से या दोषों के प्रकोप से वायु की वृद्धि होती है, इससे त्वचा की केशिकायें (Cutaneous vessels) विस्फारित हो जाती हैं। इसका कारण वाहिका संकोचक पेशियों का घात (Paralysis of vaso constrictor muscles) होता है। इस कारण रक्त वाहिनियों में रक्त संचार मन्द पड़ जाता है, इसे मार्गावरोध कह सकते हैं। इससे रक्ताणु (W. B. C. and R. B. C.) जो सामान्यतया वाहिका के मध्य से होकर जाते हैं वे वाहिनी के परिसरीय भाग (Periphery) में आ जाते हैं। अब पित्त दोष के कारण अर्थात् अनेक प्रकार के विषों (Leucotoxins and nitrogenous substances) के प्रभाव से रक्त वाहिनियों का विस्फार हो जाता है तथा इनकी पारगम्यता (Permeability) बढ़ जाती है इससे रक्त के द्रव अंश का तथा श्वेताणुओं का केशिकापारण (Diapedesis and emigration of W. B. C.) होने लगता है, अर्थात् उनके केशिकाओं से बाहर आ जाने से ऊतियों में उत्सेध (Tumour), रक्तिमा (Rubor), उष्णता (Calor) तथा वेदना (Dalor) इत्यादि और कार्यक्षमता में ह्रास (Loss of functions), शैत्य (Rigor), अङ्गमर्द (Malaise) तथा बच्चों में आक्षेप (Convulsions) मुख्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। कफ दोष के कारण जब तीव्रावस्था समाप्त हो जाती है तो दोषों से नष्ट हुई ऊतियों तथा मृत जीवाणुओं से पूय (Pus) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार व्रण-शोथ के प्रारम्भ से पूयोत्पादन काल तक तीनों दोषों का अनुबन्धन रहता है **"वातावृते नास्ति रुजा न पाकः पित्तावृते नास्ति कफाच्च पूयः॥ तस्मात् समस्तानः परिपाक काले पच्यन्ति शोफास्त्रयमेवं दोषाः॥" सु० सू० 17** अर्थात् वेदना वायु के

के बिना नहीं होती, पाक पित्त के बिना नहीं होता तथा पूय कफ के बिना नहीं बनती, यह तीनों दोष इकट्ठे होकर शोफ को पकाते हैं।

भेद :—

आयुर्वेद मतानुसार व्रण-शोथ छः प्रकार की होती है। जैसे—(i) वातिक, (ii) पैत्तिक, (iii) कफज, (iv) सन्निपातज, (v) रक्तज, (vi) आगन्तुज।

अवस्थानुसार शोफ तीन प्रकार की होती है। जैसे—(i) आमावस्था, (ii) पच्यमानावस्था, (iii) पक्वावस्था।

आधुनिक मतानुसार इनके अनेक भेद होते हैं जैसे—(i) तीव्र (Acute), (ii) अनुतीव्र (Subacute), (iii) जीर्ण (Chronic)। इसके अतिरिक्त शोथ स्थानानुसार भी अनेक प्रकार की होती है जैसे :—

(क) सीरमी शोफ (Serous inflamm ation)। (ख) तान्तवीय शोफ (Fibrous inflammation)। (ग) श्लेष्मस्रावज शोफ (Catarrhal inflammation)। (घ) प्रत्यूर्जा जन्य शोफ (Allergic inflammation)।

लक्षण :—

(1) **वातिक**—इसमें शोफ लाल तथा काले वर्ण की, कठिन या कोमल, अस्थिर, तोद, छेदन इत्यादि वेदनाओं से युक्त होती है। इस प्रकार के लक्षण कठिन या मोटी त्वचा वाले स्थानों की शोफ में पाये जाते हैं जैसे ऐड़ी की शोफ में (Inflammation of heel) यह शोफ कठिन तथा तीव्र वेदना से युक्त होती है।

(2) **पैत्तिक**—यह शोफ पीले वर्ण की, कोमल, रक्तिमा युक्त, शीघ्र फैलने वाली तथा ओष, चोष, दाहादि पैत्तिक वेदनाओं से युक्त होती है। इस तरह के लक्षण कोमल स्थानों पर पाई जाने वाली तीव्र शोफ में मिलते हैं, जैसे तीव्र वर्त्म-शोफ (Acute inflammation of eye lid), तीव्र स्तन शोफ (Acute inflammation of Breast) इत्यादि। इन स्थानों में शोफ शीघ्र फैलती है तथा ओष, चोषादि वेदनाओं से युक्त होती है। संक्रमण के अति तीव्र होने पर [जैसे स्फूर्जक संक्रमण (Fulminating infection) में] पित्तज शोफ के समान लक्षण पाये जाते हैं।

(3) **कफज**—इस शोफ में पाण्डुता, श्वेतता, कठिनता, शीतलता, स्निग्धता, कण्डु, गुरुता, सुप्ति इत्यादि कफज लक्षण मिलते हैं। यह शोफ धीरे-धीरे फैलती है। इस प्रकार के लक्षण जीर्ण शोफ (Chronic inflammation) में पाये जाते हैं, जैसा कि शोफ का देर में बढ़ना, पान्डुता, शीतलता, कम वेदना इत्यादि लक्षण ऊतियों की प्रतिक्रिया में मन्दता होने से उत्पन्न होते हैं (जैसे शोफ की आमावस्था के लक्षण होते हैं)।

(4) **सन्निपातिक**—इस शोफ में सब दोषों के वर्ण तथा वेदनायें रहती हैं। यह अवस्था, जीर्ण शोफ में, अनेक प्रकार के पूय उत्पादक जीवाणुओं या स्फूर्जा

(Fulminating infection) के द्वितीय रूप से संक्रमण (Secondary infection) होने से उत्पन्न हो सकती है।

(5) **रक्तज**—इस शोफ का रंग अत्यधिक काला होता है तथा पित्त दोष के लक्षण मिलते हैं। ऐसे ही लक्षण रक्तगुल्म में तीव्र संक्रमण होने पर मिलते हैं (As in acutely infected heamatoma)।

(6) **आगन्तुज**—इसमें पित्तज तथा रक्तज शोफ के मिश्रित लक्षण होते हैं। इस प्रकार के लक्षण उस अवस्था में मिलते हैं जब आघातज व्रण में तीव्र संक्रमण हो जाता है।

शोफ की अवस्थाओं के अनुसार लक्षण :

(i) **आमावस्था**—व्रण शोफ की इस अवस्था में अल्प उष्णता, अनिश्चित उत्सेध (Indefinite swelling) तथा शोफ युक्त स्थान में कठिनता, विवर्णता एवं अल्प वेदना रहती है। यह व्रण शोथ की प्रारम्भिक अवस्था है, इसमें ऊतियों की प्रतिक्रिया अल्प (Tissue reaction) रहती है।

(ii) **पच्यमानावस्था** (Stage of acute inflammation)—इस अवस्था में पित्त की प्रधानता रहती है, इसके कारण दोषों का पाचन अर्थात् तीव्र प्रतिक्रिया (Acute reaction) होती है। इस अवस्था में शोथ में अनेक प्रकार की वेदनाएं (जैसे चींटियों के चलने के समान प्रतीति, सुई चुभने, काटने तथा जलाने के समान वेदना) होती है। त्वचा तनाव तथा रक्तिमायुक्त रहती है, पित्त की ऊष्मा के कारण रोगी को ज्वर, पिपासा, बेचैनी, क्षुधानाश तथा उठने, बैठने, लेटने इत्यादि किसी भी स्थिति में आराम नहीं मिलता।

(iii) **पक्वावस्था** (Stage of pus formation)—पक्वावस्था में सब दोषों का पाचन हो जाता है, इससे वहाँ की ऊतियों की प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है। इससे तीव्र अवस्था शान्त होकर शोथ विद्रधि या पक्व व्रणशोथ का रूप धारण कर लेती है। इस अवस्था में कण्डू होती है, उत्सेध में कमी आ जाने से वहाँ की त्वचा पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं तथा भीतर पूय होने के कारण त्वचा का वर्ण श्वेत हो जाता है एवं एक अंगुली के दबाने पर दूसरी अंगुली को पूय तरंग की प्रतीति होती है (Fluctuation test becomes positive)।

आधुनिक मतानुसार शोफ के विभिन्न भेदों के लक्षण :

(i) **तीव्र व्रण-शोथ** (Acute inflammation)—इसकी सम्प्राप्ति कुछ दिन से लेकर 2 या 3 सप्ताह तक चलती है। पहले इसके लक्षण तीव्रता से बढ़ते फिर शोफ के तीव्रावस्था में पहुँचने पर ये लक्षण धीरे-धीरे कम होने लगते और अन्त में व्रण शोथ शमन (Resolve) हो जाती है (शोथ की तीव्र अवस्था पहले चढ़ाव तथा फिर उसका उतार इस शोफ का विशेष लक्षण है)। यह शोथ

निश्चित व थोड़े समय के लिये होती है। इसके हेतु तीव्र उत्तेजक पदार्थ होते हैं, इस कारण शोफ में ऊतियों का नाश भी तीव्रता से होता है।

(ii) **अणुतीव्र व्रण-शोथ** (Sub acute inflammation)—इस शोफ की सम्प्राप्ति 2 से 3 सप्ताह से भी अधिक समय तक चलती है। इस शोफ में उत्पन्न विकृति को केवल ऊतक विज्ञान (Histology) के द्वारा ही जाना जा सकता है। यह शोफ तीव्र शोफ के विपरीत होती है, इसमें न्युट्रोफिल्ज (Neutrophils) नहीं बढ़ते, परन्तु इयोसिनज (Eosins) तथा लिम्फोसाइट्स (Lymphocytes) की संख्या में वृद्धि होती है। इसमें निस्राव (Exudation) कम होता है परन्तु रक्त-वाहिनियों तथा संयोजक तन्तुओं (Connective Tissues) का प्रफुल्लन (Peroliferation) अधिक होता है, जैसे जीवाणुज हृदय अन्तावरण शोफ (Bacterial endocarditis) में होता है, यह छः सप्ताह तक चलने वाली एक अनुतीव्र शोफ है।

(iii) **जीर्ण शोफ** (Chronic inflammation)—इस शोफ की सम्प्राप्ति कुछ माह से लेकर कुछ वर्षों तक चलती है। इसके हेतु, जैसे सौम्य उत्तेजक पदार्थ (Mild irritants) या सौम्य जीवाणुओं (Mild bacterial infection) का सम्पर्क लगातार ऊतियों से बना रहता है। इस शोफ में ऊतियों की प्रतिक्रिया सौम्य (Mild reaction) होने के कारण यह दोषों का पाचन (विषों का विनाश) करने में असमर्थ रहती है। इसमें संयोजक तन्तुओं का अधिक प्रफुल्लन होने के कारण व्रण-चिह्न (Scar) अधिक बनता है।

अन्य भेद :—

(क) **सीरमी शोफ** (Serous inflammation)—इस शोफ में स्राव अधिक निकलता है, जैसे आर्द्र फुफ्फुसावरण शोफ (Wet pleurisy) होती है।

(ख) **तान्वीय शोफ** (Fibrous inflammation)—इसमें फाईब्रीन (Fibrine) अधिक निस्रावित होती है, जैसे रोहिणी (Diptheria) में होता है।

(ग) **श्लेष्मस्रावज शोफ** (Catarrhal inflammation)—यह श्लेष्मकला (Mucous membrane) के शोफ की सौम्य अवस्था है। इसमें श्लेष्मा का स्राव अधिक निकलता है।

(घ) **प्रत्यूर्जा शोफ** (Allergic inflammation)—यह शोफ ऊतियों के किसी विशिष्ट पदार्थ के प्रति सूक्ष्म ग्राही (Sensitive) होने से उत्पन्न होती है। इसमें स्राव तथा ऊतकनाश (Necrosis) अत्यधिक होता है। इस शोथ में रक्त के श्वेताणुओं (W. B. C.) की भक्षण क्रिया (Phagocytosis) अधिक प्रबल रहती है। इससे वहाँ पर संक्रमण रहने से उसका शीघ्रता से नाश हो जाता है।

उपद्रव :—

व्रणशोथ (शोथ) की चिकित्सा यदि प्रारम्भिक अवस्था (आमावस्था, में ही

कर दी जाये तो शोफ के शमन होने की सम्भावना बनी रहती है, अन्यथा यह पक्वावस्था (Abscess) को प्राप्त हो जाती है। पक्व अवस्था में यदि इसकी पूय को न निकाला जाये तो अनेक प्रकार के निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं—

(1) जब पूय मांस, सिरा, स्नायु इत्यादि को नष्ट कर देती है तो इससे वहाँ पर क्रिया हीनता (Loss of function) उत्पन्न हो जाती है, जैसे सन्धियों में पूय भरने से उसमें क्रिया हीनता आ जाती है।

(2) पक्व व्रण-शोथ के पश्चात् इसकी पूय से नाड़ीव्रणों (Sinuses) की उत्पत्ति होती है।

(3) पूय के रक्त परिभ्रमण में आ जाने पर पूयमयता (pyaemia) उत्पन्न होती है। इससे शरीर के अनेक स्थानों में विद्रधियाँ (Multiple abscesses) उत्पन्न हो जाती हैं।

इन उपद्रवों के कारण आयुर्वेदिक संहिताओं में शोफ की तीनों अवस्थाओं को अच्छी प्रकार से जानने के लिये कहा गया है। जो वैद्य इस प्रकार के मूल सिद्धान्तों को नहीं जानता उसे संहिताओं में चोर अर्थात् केवल मात्र जनता का धन आचूषण करने वाला कहा गया है। यदि मूर्ख चिकित्सक व्रणशोथ का आमावस्था में ही भेदन कर देता है तो सिरा स्नायु इत्यादि कट जाने से अनेक विकार [जैसे—रक्तस्राव, वेदना तथा क्षतज विसर्प (Cellulitis) इत्यादि उपद्रव] उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पक्व-शोफ की अवहेलना की जाये तो इससे नाड़ीव्रण, पूयमयता इत्यादि उपर्युक्त उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा :—

"संचयेऽप्हृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतिः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥" सु० सू० 21

यदि संचयकाल में ही दोषों का अपहरण कर दिया जाये तो ये अगली गति को प्राप्त नहीं होते। दोष उत्तरोत्तर स्थिति में पहुँचकर अधिक बलवान् होते जाते हैं तथा दोषों के बलवान् होने पर उनका शमन होना सम्भव नहीं होता।

व्रण-शोथ की चिकित्सा के लिये आचार्य सुश्रुत ने 60 उपक्रम (Sixty steps of treatment) बताये हैं। इनमें से 7 उपक्रमों को ही मुख्य माना जाता है जैसे—

आदौ विस्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थं पाटनक्रियाम्॥
पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते।
एतेष्क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम्॥ सु० सू० 17

शोफ में प्रथम विस्लापन करना चाहिये, दूसरा जलौकादि से रक्त अवसेचन, तीसरा उपनाह, चतुर्थ पाटन-क्रिया, पञ्चम शोधन कर्म, छठा रोपण कर्म तथा सातवाँ वैकृतापहं कर्म करना चाहिये।

इन सब उपक्रमों का पूर्ण विवेचन 60 उपक्रमों की तालिका में किया गया है। सात उपक्रमों में से प्रथम तीन उपक्रम या साठ उपक्रमों में से प्रथम 11 उपक्रम व्रणशोथ की आम अवस्थाओं में किये जाते हैं। शोफ की अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए इन उपक्रमों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये जैसे :—

(i) व्रण-शोथ में दोषों के प्रसार व स्थान संश्रय क्रियाकाल में तथा आम अवस्था में, (जब धातुओं में अल्प विकृति रहती है तथा दोष भी अल्प रहते हैं) दोषों का शमन करने के लिये, तर्पण, आलेप, परिषेक, अभ्यंग तथा विस्लापन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। ये उपक्रम अल्प दोषों को शमन करने के समर्थ होते हैं, परन्तु दोष अत्यधिक रहने पर ये उपक्रम दोषों को शमन नहीं कर सकते।

(ii) यदि दोष मध्यम रूप से प्रकुपित हुए हों या व्रणशोथ पच्यमान अवस्था में हों तो दोषों का स्वेदन व उपनाहादि पाचक उपक्रमों से पाचन कर देना चाहिये।

(iii) व्रणशोथ में यदि दोष अत्यधिक मात्रा में बढ़े हुए हों तथा इनका शमन या पाचन होना सम्भव न हो, तो रक्त विस्रावण या स्नेहन, स्वेदन करवा कर फिर वमन विरेचनादि संशोधन कर्मों द्वारा इन दोषों का निर्हरण करना चाहिये।

(iv) उपर्युक्त विधि में बताये विस्लापन, अवसेचन, उपनाहादि से दोषों का प्रायः शमन हो जाता है। परन्तु यदि इनका शमन न होकर पाचन होने लगे तो शोफ पक्वावस्था में पहुँच जाता है। अब शोफ को क्षरण द्रव्यों (क्षार, दन्ती, द्रवन्ती, कलिहारी) से फाड़कर या शस्त्र कर्म द्वारा पूय गुहा का पाटन कर्म करके पूय को बाहर निकाल देना चाहिये। तत् पश्चात् दुष्टव्रण में बताई हुई शोधन चिकित्साओं से व्रण को शुद्ध करें तथा व्रण के शुद्ध होने पर इनका रोपण कर्म करना चाहिये। रोपण के उपरान्त यदि कोई विकृति उत्पन्न हो जाये तो उसे वैकृतापहम् उपक्रमों से साम्यावस्था में लाना चाहिये। इन उपक्रमों का विस्तृत वर्णन उपक्रम अध्याय में देखें।

आधुनिक चिकित्सा :—

आधुनिक चिकित्सा पद्धति में व्रणशोथ को पहले एन्टिफलोजस्टीन, बेलाडोना इत्यादि प्लास्ट्रों को लगाकर तथा सेक देकर पकाया जाता है। इसके साथ-साथ व्रणशोथ के संक्रमण को नष्ट करने के लिये प्रतिजीवी (Antibiotic) औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

(i) सल्फा औषधियाँ—ये औषधियाँ जीवाणु स्तम्भक (Bacteriostatic) होती हैं शोथावस्था में ओरिसुल (Orisul) $\frac{1}{2}$ ग्राम की एक गोली दिन में दो बार या सल्फाडाईजीन $\frac{1}{2}$ ग्राम की 2 गोली दिन में तीन बार पानी से दें। सल्फाट्रायड का भी प्रयोग कर सकते हैं।

(ii) प्रतिजीवी औषधियाँ (Antibiotics)—आजकल इस वर्ग की अनेक औषधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं, जैसे—बैन्जिल पेनिसिलीन 5 लाख युनिट्स का

मांसगत सूचीवेध प्रत्येक 6–6 घण्टे बाद 4 से 7 दिन तक करें। विस्तृत स्पैक्ट्रम की औषधियाँ जैसे—टेरामाईसीन (Terramycin, Tetracycline) इत्यादि को 250 मि०ग्राम की मात्रा में मुख से 6–6 घण्टे बाद देते रहें या 100 मि०ग्राम औषधि को पेशी में सूची वेध के द्वारा 8–8 घण्टे बाद देते रहें। यदि इन औषधियों से 2–3 दिन में विशेष लाभ न हो तो एम्पिसिलीन (Ampicillin), एरिथ्रोमाईसीन (Erythromycin) इत्यादि उग्र तथा विस्तृत स्पैक्ट्रम औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

(ii) शोथ के पक्वावस्था (Abscess) में पहुँच जाने पर उसका भेदन तथा विस्रावण (Incision and drainage) कर देना चाहिये। भेदन कर्म से उत्पन्न व्रण में जीवाणु नाशक द्रव, जैसे 'एक्रिफ्लेविन (Acriflavin) तथा ग्लिसरीन' के पिचु को दो दिन तक व्रण गुहा में भरें। विद्रधि की गुहा (Cavity) के शोधन होने पर उसमें जीवाणु नाशक मरहमों से लिप्त विकेसिका (Gauze) रखकर घाव भरने तक बन्धन बान्धें। इसके लिये टेरामाईसीन, सोफ्राभाईसीनादि किसी भी जीवाणु नाशक मरहम का प्रयोग कर सकते हैं। व्रण के जीवाणुओं की सूक्ष्म ग्राहिता (Sensitivity) देखकर उसके अनुसार टेट्रासाइक्लीन (Tetracycline) या सोफ्रामाईसीन (Sofra-mycin) इत्यादि जीवाणु नाशक मरहमों का प्रयोग करना चाहिये।

सूचना :—

प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग उनकी रोगियों पर सूक्ष्मग्राहिता (Sensitivity) देखकर ही करना चाहिये, क्योंकि इनसे अत्यूर्जा प्रतिक्रिया (Allergic reaction) या तीव्रग्राही स्तब्धता (Anaphylactic shock) होने का भय रहता है, इस प्रति-क्रिया के कारण तुरन्त मृत्यु भी हो सकती है।

———

6
विद्रधि
(ABSCESS)

व्याख्या :—

अत्यधिक प्रकुपित दोष गम्भीर धातुओं के आश्रित होकर जिस गम्भीर, दीर्घ एवं भयानक शोफ को उत्पन्न करते हैं उसे विद्रधि कहते हैं।

महामूलं रुजावन्तं बृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम्।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा विज्ञेयः स च षड्विधः॥ सु० नि० 9

इसमें दोष प्रकोप अधिक रहता है, इसे औषध चिकित्सा से शमन (Resolve) करना सम्भव नहीं होता। यह शोफ प्रायः पक्व अवस्था में परिवर्तित हो जाया करती है, इसीलिये गम्भीर शोफ को उसके पक्वावस्था में पहुँचने से पूर्व ही इसे विद्रधि का नाम दे दिया गया है।

इसमें दुष्ट रक्त धातु शीघ्र ही विदग्ध (पूय रूप) हो जाती है इसलिये भी इसे विद्रधि कहते हैं।

विद्रधि को स्थानीय पूयता (Suppuration) का ही एक रूप समझना चाहिये। इसके मध्य भाग में पूय गुहा (Pus Cavity) रहती है तथा पार्श्व में पूय जननकला (Pyogenic membrane) होती है। यह कला पूय को स्थानीय (Localised) बनाये रखती है।

पूय उत्पादक अन्य अवस्थायें :—

निम्न अवस्थाओं में भी पूय का निर्माण होता है, परन्तु इन अवस्थाओं में थोड़ी भिन्नता होने के कारण इन्हें विद्रधि से भिन्न रोग मान लिया गया है।

(i) पिड़िका (Boil)—यह केशकूप (Hair follicles) तथा स्नेह ग्रन्थियों (Sebaceous glands) के स्टैफिलोकाकस द्वारा संक्रमित होने पर उत्पन्न होती है। इसमें पूय उत्तान (Superficial) रहती है जोकि द्रव रूप में न होकर स्थूल शंकु (Solid Cone) के रूप में रहती है। यह पिड़िका अन्तरकोशिका तान्तवीय निर्माण (Inter cellular fibrin formation) के कारण दृढ़ता लिये (Indurated) रहती है, यह विद्रधि के समान मृदु नहीं होती।

(ii) **प्रमेह पिड़िका (Carbuncle)**—इसमें संक्रमण अधस्त्वचा (Sub-Cutaneous) में होने से यह पिड़िका अनिश्चित उत्सेध युक्त या विसरित (Diffused) रूप में रहती है। इसमें से जीवाणुओं के विषों के साथ-साथ पूय द्रव भी लसिका वाहिनियों द्वारा शोषित होता रहता है, इसमें पूय सान्द्र (Inspissated) हो जाती है। यहाँ के मृत कोष स्नेह मलों (fatty debris) में परिणत हो जाते हैं तथा इनके कैल्सिफाईड (Calcified) होने से यह कठोर बन जाती है। इसके विपरीत पूय युक्त विद्रधि मृदु होती है।

(iii) **संयोजक ऊतिशोफ (Cellulitis)**—इसमें पूय उत्तान रूप में रहती है तथा उत्तान ऊतियों के माध्यम से पूय का विस्तार होता है (Superficially it spreads through tissues)। इसमें विद्रधि सदृश स्थानीय पूयता (Localised suppuration) नहीं होती।

हेतु :—

(i) **आहार सम्बन्धी**—पर्युषित (बासी), विरुद्ध तथा असात्म्य भोजन से, अति उष्ण, रुक्ष, शुष्क व विदाहि आहार द्रव्यों के अधिक सेवन से (रक्त दूषित होकर), तथा पोषणाभावादि कारणों से रोगक्षमता शक्ति (Immunity) कम हो जाती है। इसमें दोष (संक्रमणादि) शीघ्र बढ़कर विद्रधि उत्पन्न कर देते हैं।

(ii) **विहार सम्बन्धी**—कुटिल चेष्टा से, अति मैथुन से, वेग विधारण से, टूटी शय्या (Uncomfortable bed) पर लेटने से [शय्याज व्रण (Bed sore) बनकर] या अन्य किसी विकृत चेष्टा (Unnatural action) से आघातादि होकर या धातुओं में विगुणता होने पर संक्रमण होकर विद्रधि बन जाती है।

(iii) **संक्रमण**—व्रण-शोथ के हेतुओं में बताये संक्रामक जीवाणु, रक्त को दुष्ट करके एवं विगुण धातुओं (Low vitality tissues) में स्थानसंश्रय करके विद्रधि उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति :—

अत्यधिक मात्रा में प्रकुपित हुए दोष त्वचा, रक्त, मांस, मेद, इत्यादि धातुओं को दुष्ट करके तथा अस्थि के आश्रित होकर अर्थात् गम्भीर धातुओं को प्रभावित करके (Involve the deeper tissues) धीरे-धीरे बढ़ते हुए (Less visualised swelling), गम्भीर मूलवाले (Deep seated), पीड़ायुक्त, गोल या दीर्घ अर्थात् भयंकर शोफ को उत्पन्न करते हैं।

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थि समाश्रिताः।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम्॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम्।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा, विज्ञेयः स च षड्विधः॥ सु० नि०

इस घोर शोफ में दुष्ट रक्त की अधिक मात्रा होने से इसका शोफ ही विदाह हो जाता है, इसीलिये इसे विद्रधि कहते हैं।

शोफ के हेतु (संक्रमण या अन्य उत्तेजक पदार्थ) शोफ स्थान के मध्य भाग के कोषों को नष्ट कर देते हैं। फिर शरीर के प्रोटियोलाईटिक एन्जाईमज (Proteolytic enzymes) इन मृत कोशों को द्रवीभूत करके शोफ के मध्य भाग में पूय गुहा (Pus-cavity) को उत्पन्न करते हैं। पूय गुहा के चारों ओर के क्षतिग्रस्त जीवित कोषों (Damaged living cells) से पूय जनन कला (Pyogenic membrane) का निर्माण होता है। यह कला पूय के प्रसार को रोकती है। इस कला के द्वारा रक्त के श्वेताणु दोषों को नष्ट करने के लिये (To engulf the foreign material) पूय गुहा में पहुँचते हैं तथा मृत होकर पूय में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

भेद :—

दोष भेद से विद्रधि छः प्रकार की होती है, जैसे—(i) वातिक, (ii) पैत्तिक, (iii) श्लैष्मिक, (iv) सन्निपातिक, (v) रक्तज, (vi) आगन्तुज।

आभ्यन्तर विद्रधि (मर्म में या भीतरी अवयवों में होने वाली विद्रधि)—यह स्थान भेद से अनेक प्रकार की होती हैं—(i) गुदा, (ii) वस्ति, (iii) नाभि, (iv) कुक्षि, (v) वंक्षण, (vi) वृक्क, (vii) यकृत, (viii) प्लीहा, (ix) क्लोम, (x) हृदय।

अन्य विद्रधियाँ—रक्तज, स्तन तथा अस्थि में होने वाली विद्रधि।

लक्षण :—

दोषज विद्रधियों के लक्षण व्रण-शोथ के लक्षणों के समान होते हैं जैसे—

(i) **वातज विद्रधि**—यह कृष्ण या अरुण वर्ण की, कठोर, अत्यन्त वेदना युक्त, देर से उत्पन्न होने वाली तथा देर से ही पकने वाली होती है। इसमें भी कठोर स्थानों पर होने वाली गम्भीर विद्रधि के समान लक्षण रहते हैं जैसे एड़ी की गम्भीर विद्रधि जोकि देर में पकती है एवं कठोर तथा अत्यन्त वेदना-युक्त होती है।

(ii) **पैत्तिक विद्रधि**—यह विद्रधि पके गूलर फल के समान लाल या काली, शीघ्र पकने वाली, पीतस्राव वाली तथा पिपासा, दाह, ज्वरादि सार्वदैहिक पित्तज लक्षणों से युक्त होती है। इस प्रकार के लक्षण कोमल स्थानों (स्तन, मुखादि) की गम्भीर (Deeply seated) धातुओं में तीव्र या स्फूर्जक संक्रमण (Acute fulminating infection) होने पर पाये जाते हैं।

(iii) **श्लैष्मिक विद्रधि**—यह विद्रधि शराव (सिकोरे) के समान बड़ी चक्के-दार, पाण्डुवर्ण की, शीतल, स्तब्ध, थोड़ी वेदना तथा कण्डूयुक्त, देर में उत्पन्न होने वाली तथा देर में ही पकने वाली होती है। पकने पर इसमे श्वेत स्राव निकलता है। इस प्रकार के लक्षण आम व्रण-शोथ तथा जीर्ण व्रण-शोथ में मिलते हैं जैसे कठिनता, शीतलता, देर में बढ़ना, पाण्डुता इत्यादि।

वाग्भट्ट ने इस प्रकार के उपर्युक्त लक्षणों वाली विद्रधि को **रक्तपाद** कहा है। इसमें रक्त का गहराई तक पाक होता है, इसलिये इस शोफ में पाक के लक्षण स्पष्ट नहीं होते, परन्तु शीतलता, त्वचा के समान रंग, कठोरता तथा अल्प वेदना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस तरह के लक्षण क्षयज विद्रधियों (Tubercular abscesses) में मिलते हैं, जैसे अस्थि की क्षयज विद्रधि, लसिका ग्रन्थियों की क्षयज विद्रधि तथा सन्धि की क्षयज विद्रधि इत्यादि, इनमें रक्त पाक के उपरोक्त लक्षण पाये जाते हैं।

(iv) **त्रिदोषज विद्रधि**— इनमें तीनों दोषों के लक्षण जैसे वर्ण, स्राव तथा पीड़ादि संयुक्त रूप में पाये जाते हैं। यह विद्रधि अधिक फैली हुई, विषमाकार (Irregular) तथा अधिक उत्सेध वाली (Much raised) होती है। इस प्रकार के लक्षण जीर्ण व्रण-शोथ में पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा द्वितीय संक्रमण (Secondary infection) होने पर होते हैं।

(v) **आगन्तुज विद्रधि**—इनमें पित्तज विद्रधि के लक्षणों के समान ज्वर, दाह, तृषा इत्यादि लक्षण मिलते हैं। इस प्रकार की अवस्था आघात स्थान पर तीव्र संक्रमण होने से उत्पन्न होती है।

(vi) **रक्त जन्य विद्रधि**—यह काली पिड़िकाओं से घिरी हुई, काले रंग की, तीव्रदाह, ओष, चोष, ज्वरादि पित्तज लक्षणों से युक्त होती है। इस प्रकार के लक्षण आघात से उत्पन्न रक्त गुल्म (Haematoma) में तीव्र संक्रमण (Acute infection) होने से होते हैं।

आभ्यन्तर विद्रधि :—

शरीर के भीतरी अवयवों में गुल्म के समान कठोर तथा बल्मीक के समान ऊपर को उठी हुई (Prominent) विद्रधि ही आभ्यन्तर विद्रधि कहलाती है। इन विद्रधियों के पककर फूटने पर, नाभि से ऊपरी भाग वाली विद्रधियों का स्राव ऊर्ध्व मार्ग (मुख) से तथा नाभि के नीचे स्थित आभ्यन्तर विद्रधियों का स्राव गुद या योनि इत्यादि अधः मार्ग से निकलता है। इनके सामान्य लक्षण उपरोक्त विद्रधियों के समान दोषों के अनुसार होते हैं, परन्तु स्थान भेद से इन विद्रधियों में कुछ अन्य विशिष्ट लक्षण भी मिलते हैं, जैसे—

(i) **गुदा**—गुदा में होने वाली आभ्यन्तर विद्रधि अपान वायु (Flatus) का अवरोध कर देती है, जैसे तीव्र भगन्दरज पिड़िका (Acute ischiorectal abscess) में वेदना के कारण मल तथा वायु का अस्थाई रूप से अवरोध हो जाता है। इसके गुदा के फूटने पर अधः मार्ग से पीत वर्ण का पूय स्राव निकलता है।

(ii) **वस्ति**—वस्ति प्रदेश में विद्रधि होने पर मूत्र कठिनता से तथा थोड़ा-थोड़ा आता है। इस प्रकार के लक्षण विद्रधि के मूत्राशय की भित्ति (Bladder wall) में, पुरःस्थ (पौरुष ग्रन्थि) में, या रिटज की गुहा (Cave of ritz) में रहने पर उत्पन्न होते हैं।

(iii) **नाभि**—नाभि प्रदेश में अन्तर्विद्रधि होने पर हिचकी तथा आध्मान विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब स्थानीय पर्युदर्याशोफ (Local peritonitis) से मध्यच्छद् प्राचीर (Diaphragm) पेशी भी प्रभावित हो जाती है। इसमें अस्थाई आन्त्राघात (Temporary paralytic ilius) से आध्मान तथा मध्यच्छद् प्राचीर पेशी की फ्रेनिक तन्त्रिका (Phrenic nerve) के उत्तेजित होने से हिचकी उत्पन्न होती है।

(iv) **कुक्षि**—कुक्षि प्रदेश में विद्रधि होने पर वायु का प्रकोप होता है। जब स्थानीय पर्युदर्या शोफ नाभि प्रदेश की अपेक्षा पार्श्व में होती है तो आध्मान, वेदनादि वायु प्रकोप के लक्षण अधिक मिलते हैं। इसमें मध्यच्छद् प्राचीर पेशी के प्रभावित न होने के कारण हिचकी नहीं आती।

(v) **वंक्षण**—वंक्षण में विद्रधि होने पर कटि और पृष्ठ में तीव्र ग्रह (जकड़ाहट) इसका एक विशिष्ट लक्षण होता है। वंक्षण प्रदेश में इस प्रकार की जकड़ाहट इलियो-सास विद्रधि (Iliopsoas abscess) के होने पर होती है। आन्त्र पुच्छप्रदाह (Appendicitis) से भी इस पेशी में जकड़ाहट या ऐंठन (spasm) आ सकती है।

(vi) **वृक्क**—वृक्क प्रदेश में विद्रधि होने पर पर्शुका में संकोच या भारीपन (Dullness) प्रतीत होता है। परिवृक्कीय विद्रधि (Perinephric abscess) में स्थानीय पूय के कारण वहाँ पर संकोच के समान प्रतीति होती है।

(vii) and (viii) **प्लीहा एवं यकृत**—प्लीहा या यकृत में विद्रधि होने पर श्वासावरोध या श्वासकृच्छ्रता एक विशिष्ट लक्षण होता है। मध्यच्छद् प्राचीर पेशीय अधः विद्रधि (Sub. diaphragmatic abscess) या यकृत विद्रधि (Liver abscess) में भी मध्यच्छद् प्राचीर के ऊपर की ओर उठ जाने से उसके क्षुब्ध होने पर श्वास कष्ट तथा हिक्कादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(ix) **हृदय विद्रधि**—इस प्रदेश में विद्रधि होने पर सर्वाङ्ग ग्रह जकड़ाहट तथा तीव्र पीड़ा के लक्षण होते हैं। हृदयावरण शोफ (Pericarditis) में भी इसी प्रकार के लक्षण मिलते हैं।

(x) **क्लोम**—क्लोम में विद्रधि होने पर अत्यधिक प्यास (तृषा) लगती है। क्लोम एक संदिग्ध मर्म है। अत्यधिक तृषा निम्न विद्रधियों में भी हो सकती है, जैसे अन्याशय शोफ, गल-विद्रधि (Retropharangeal abscess), परितुण्डिका शोफ (Peritonsillar abscess) इत्यादि।

अन्य विद्रधियाँ :—

रक्तज विद्रधि (स्त्रियों में)—स्त्रियों में प्रसव या गर्भस्राव के पश्चात्

मिथ्या आहार-विहार सेवन करने से (जैसा कि विद्रधि के हेतुओं में बताया गया है) रक्त गर्भाशय में रुककर मक्कल शूल को तथा दुष्ट होने पर (संक्रमित होने पर) ज्वर, दाहादि पित्तज लक्षणों से युक्त रक्तज विद्रधि को उत्पन्न करता है। इसका 7 दिन के पश्चात् आभ्यन्तर पाक होने से यह असाध्य हो जाती है। रक्तज विद्रधि में गर्भाशय से कला शोथ (Endometritis) के समान हेतु तथा लक्षण मिलते हैं। यदि संक्रमण गर्भाशय से डिम्बग्रन्थियों द्वारा पर्युदर्या (Peritonium) तक पहुँच जाये तो 6–7 दिन में ही पर्युदर्या शोफ (Peritonitis) उत्पन्न होकर यह विद्रधि असाध्य बन सकती है, इससे शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

स्तन विद्रधि—यह विद्रधि प्रसूता या गर्भिणी में होती है (कन्याओं में दुग्ध वाहिनियाँ बन्द होने से उनमें नहीं होती)। विद्रधि में बताये हेतुओं से दोष प्रकुपित होकर वह विस्तृत सिराओं में (दुग्ध वाहिनियों में) पहुंचकर प्रत्येक दोष के अनुसार विद्रधियों को उत्पन्न करते हैं।

आधुनिक मतानुसार स्तन विद्रधि में संक्रमण प्रायः स्तन विदार से दुग्ध वाहिनी में पहुँचता है और वहाँ के दुग्ध को जमा देता है (Staphylococci coagulates the milk)। यहाँ संक्रमण की वृद्धि होकर उत्सेध, लालिमा, वेदना, उष्णता इत्यादि शोफ के सामान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। संक्रमण के बिना भी जब दुग्ध वाहिनी में अवरोध होने के कारण वह फूल जाती है तो अन्दर परिस्रवित हुए दुग्ध (Extravasated milk) से पायरोजनज (Pyrogens) के शोषित हो जाने से तीव्र ज्वर, तृषा, दाहादि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। (इसका विस्तृत वर्णन पुस्तक के द्वितीय भाग अध्याय 14 में देखें)

अस्थिगत विद्रधि—अस्थि में विगुणता होने से (आघात से या पोषणाभाव से) प्रकुपित हुए दोषों का वहाँ पर स्थानसंश्रय हो जाता है। इन दोषों से अस्थि मज्जा का परिपाक होने लगता है। इस परिपाक से उत्पन्न पूय को कठिन अस्थि तथा मांस द्वारा आवृत (ढकी) रहने के कारण बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलता, इससे पूय अन्दर ही अन्दर मज्जादि धातुओं का पाक करती है (It keep on destroying the bone tissue) रोगी इस विस्तृत तथा विषम विद्रधि से देर तक तीव्र पीड़ा एवं जलनादि वेदनाओं को भोगता रहता है। यह लक्षण तब तक बने रहते हैं जब तक कि शल्यकर्म द्वारा अस्थि का भेदन करके पूय को बाहर नहीं निकाल दिया जाता। यह पूय गुरु, श्वेत, शीत तथा मेद के समान चिकनी होती है।

आधुनिक मतानुसार अस्थिकाण्ड कोटि (Metaphysis) में रक्त द्वारा आये संक्रमण (Blood born infection) से तीव्र शोफ उत्पन्न होता है तथा शीघ्र ही वहाँ पूय गुहा (Pus cavity) का निर्माण हो जाता है (क्योंकि कठोर ऊतियों में

शरीर की प्रतिरोधक शक्ति (Defensive mechanism) अपना कार्य करने में असमर्थ रहती है)। इसे ब्रोडी की विद्रधि (Brodie's abscess) कहते हैं। इस अवस्था में यदि उपयुक्त चिकित्सा न की जाये तो अस्थि गलन (Necrosis) होकर अस्थि भग्न (Bone fracture), तीव्र सन्धि प्रदाह (Acute arthritis), पूयमयता (Pyaemia) इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यह रोग प्रायः बच्चों की लम्बी अस्थियों में होता है: इससे प्रभावित (Involved) स्थान पर वेदना, स्पर्श असहता (Tenderness), उसमें ऊपर की ऊतियों में दृढ़ता (Induration) इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। 2–3 सप्ताह के पश्चात् क्ष-किरण (X-Ray) द्वारा देखने पर अस्थि में उठे हुए अस्थिआवरण (Raised periosteum) के नीचे नई अस्थि का निर्माण (Involucrum अर्थात् अस्थि आवरण की प्रतिक्रिया (Periosteal reaction) दिखाई देती है।

अन्तर्विद्रधि तथा गुल्म में भेद—अन्तर्विद्रधि तथा गुल्म में कारण, रूप, दोष, वेदना तथा उत्सेध में समानता होने से तथा ये दोनों शरीर के भीतर अवयवों में पाये जाने के कारण ये दोनों व्याधियाँ एक समान प्रतीत होने लगती हैं, परन्तु यह दोनों भिन्न व्याधियाँ हैं, इनमें भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

विद्रधि तथा गुल्म में भेद

विद्रधि	गुल्म
1. विद्रधि का मूल अर्थात् दूष्य त्वचा, रक्त, मांसादि धातुयें होती हैं।	गुल्म का मूल अर्थात् अधिष्ठान त्वचादि धातुयें नहीं होतीं।
2. विद्रधि में दोष अपने दूष्यों को दुष्ट करते हैं तथा उन दूष्यों में गुल्माकार उत्सेध उत्पन्न होता है।	गुल्म में दोष स्वयं ही किसी विवर युक्त अंग (कोष्ठ) में इकट्ठे होकर गुल्माकार (Lump) उत्सेध (Swelling) उत्पन्न करते हैं।
3. विद्रधि में त्वचादि दूष्यों का पाक होने से पूय उत्पन्न होती है।	गुल्म में दूष्यों का अभाव रहता है इसीलिये पाक नहीं होता (दोष स्वयं कभी नहीं पकते, दूष्य ही पका करते हैं)।

उपद्रव तथा साध्य असाध्यता :—

(i) **परिगलन**—विद्रधि में उपस्थित पूय को यदि भेदन करके न निकाला जाये तो यह पास में स्थित सिरा, स्नायु, मांसादि को भी गला देती है। (It suppurates the surrounding structures)

(ii) **आध्मान**—आभ्यन्तर विद्रधि के रोगी में आध्मान का होना (जैसे नाभि तथा कुक्षि की विद्रधि में होता है), आन्त्र के घात या अवरोध का सूचक होता है।

(iii) **हिचकी**—यह उपद्रव पूय के मध्यच्छद् प्राचीर पेशी के सम्पर्क में आने से होता है। पूय से इस पेशी का परिगलन होकर पूय फुफ्फुसों में पहुंच सकती है। इससे रोग असाध्य हो जाता है।

(iv) **प्यास**—यह उपद्रव शरीर में निर्जलीकरण (Dehydration) का सूचक होता है। प्यास, तीव्र ज्वर या अन्य कारण से शरीर के जलीय अंश का ह्रास होने से भी उत्पन्न होती है।

(v) **श्वासकष्ट**—तमकश्वास हृदय की विद्रधि के कारण उत्पन्न होता है तथा श्वासकष्ट, मध्यच्छद् प्राचीर पेशी के अधः भाग में पूय एकत्रित होने से होता है। पूय इस पेशी को विदीर्ण करके वक्ष में भी पहुँच सकती है।

(vi) **मूत्रावरोध**—मूत्रावरोध होने से वृक्क नष्ट हो सकते हैं तथा मूत्रमयता (Uraemia) उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। यह उपद्रव वस्ति प्रदेश में विद्रधि होने पर उत्पन्न होता है।

(vii) **गलग्रह**—कलोम में विद्रधि होने पर उसका स्वरयन्त्र पर दाब पड़ने से गलग्रह होता है। यह श्वास अवरोध उत्पन्न करके मृत्यु भी कर सकता है। इसलिये रोगी की जान बचाने हेतु तुरन्त श्वास-प्रणाली-छिद्रीकरण (Tracheostomy) करना पड़ता है।

"आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृडन्वितम्।
रुजाश्वासससमाक्षिप्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम्॥ सु० सू० 33

आध्मानयुक्त, मल, मूत्र व पूय का अवरोध होने पर, वमन, हिचकी प्यास व श्वास रोग से पीड़ित व्यक्ति की विद्रधि रोगी को नष्ट कर देती है अर्थात् ये असाध्य विद्रधि के लक्षण हैं।

साध्यसाध्यता :—

(i) उपरोक्त उपद्रवों के उत्पन्न होने पर आभ्यन्तर विद्रधि रोगी को नष्ट कर देती है।

(ii) यदि विद्रधि फूटकर ऊर्ध्व मार्ग (मुख) से निकलती है तो वह असाध्य है और यदि अधः मार्ग (गुदा) से निकलती है तो साध्य होती है।

(iii) नाभि के ऊपर (यकृत: प्लीहादि) की विद्रधियाँ अधः मार्ग से निकलने पर भी असाध्य होती है (विपरीत दशा होने के कारण)।

(iv) सद्यप्राणहर मर्म (हृदय, नाभि तथा वस्ति) की विद्रधियों को छोड़कर यदि अन्य विद्रधियाँ बाहर को फटती हैं (त्वचा पर) तो वह साध्य हैं, परन्तु हृदय,

नाभि, वस्ति की विद्रधियाँ बाहर को फटने पर भी असाध्य रहती हैं, क्योंकि इनसे हृदयावरण का नालव्रण (Pericardial fistula), मूत्राशय का नालव्रण (Cystic-fistula) तथा आन्त्रगत नालव्रण (Faecal fistula) बन सकते हैं। ये अवस्थायें आज भी असाध्य मानी जाती हैं।

(v) सन्निपातिक विद्रधि त्रिदोषज होने से असाध्य होती है।

अनुबन्ध:—

विद्रधि में वात, पित्त, कफ तथा रक्त का अनुबन्ध रहता है।

दूष्य:—

विद्रधि में त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि तथा मज्जा दूष्य रूप में रहती है।

चिकित्सा:—

(क) पूय बनने के पूर्व :—विद्रधि में दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। जैसे:—

(i) वातज विद्रधि में एरण्ड तथा भद्रदार्व्यादिगण जैसी वातनाशक औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

(ii) पित्तज विद्रधि में लाजा, मुलैठी, काकोली, सारिवादि पित्तनाशक औषधियों से चिकित्सा करें।

(iii) कफज विद्रधि में आरग्वधादि गण तथा कफ नाशक औषधियों के द्वारा चिकित्सा करें।

इन औषधियों से लेप, उपनाह, स्वेदन इत्यादि विरेचन तक के शोफ चिकित्सा में कहे गए उपक्रमों से (अनेक कल्पनाओं द्वारा) चिकित्सा करें।

(iv) रक्त विस्रावण द्वारा दोषों को निकालना चाहिए।

(v) रक्तज तथा आगन्तुज विद्रधि में पित्तज विद्रधि के समरूप चिकित्सा करनी चाहिए।

(ख) पूय बनने के पश्चात्:—विद्रधि से तुरन्त पूय निकालनी चाहिए अन्यथा इसके सम्पर्क में आने वाली धातुओं में पूयमयता (suppuration) होकर वे भी नष्ट हो जाती हैं। यह ध्यान रखें कि अपक्व विद्रधि के भेदन कर देने से रक्तस्राव, वेदना, क्षत जन्य विसर्प (Eryseplas) तथा त्वचा, मांसादि में अन्तराल (gap) या उनके विदीर्ण होने के सदृश लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

पूय निकालने की विधियाँ:—

(i) दारण:—सुकुमार, स्त्री, भीरु, वृद्ध तथा जो रोगी शस्त्र कर्म के अयोग्य हों उनमें विद्रधि को दारण द्रव्यों (जो ऊष्ण एवं तीक्ष्ण होने से त्वचा को विदीर्ण कर देते हैं) द्वारा विदीर्ण करके पूय को निकालना चाहिए। सुश्रुत ने

चिरबिल्व, अग्निक (लांगली), दन्ती, चित्रकादि तीक्ष्ण द्रव्यों को दारण कर्म में प्रयुक्त करने को कहा है।

भेदन तथा विस्रावण:—रोगी को अल्प आहार देकर, प्रकाश में बैठाएं अब शस्त्र का अनुलोम प्रयोग करते हुए मर्म, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि को बचा कर एवं तीव्रता से शस्त्र चलाकर एक अंगुल लम्बा तथा पूय गुहा तक गहरा भेदन कर देना चाहिए। इस कर्म के लिए वृद्धि पत्र (Scalpel), नखशस्त्र (Nail cutter), मुद्रिक शस्त्र (Finger knife), उत्पलपत्र (Lancet), अर्धधारादि शस्त्रों को प्रयोग में लाएं।

भेदन करने के पश्चात् उसमें से पूय निकालें तथा व्रण शोधन द्रव्यों (द्रव्य संग्रह अध्याय में वर्णित) द्वारा बनाए तैल, घृत, चूर्ण, वर्ति, रसक्रिया, मधुसर्पी इत्यादि को पूयगुहा में डालकर उसका शोधन करना चाहिए। व्रण के शुद्ध होने पर रोपण द्रव्यों द्वारा उपरोक्त कल्पनाएं बना कर उनसे व्रण का रोपण कर्म करना चाहिए। शोधन रोपणादि उपक्रमों का वर्णन उपक्रम अध्याय में देखें।

आधुनिक चिकित्सा:—

पक्व विद्रधि की भेदन, तथा विस्रावण (**Incision and drainage**) ही एक सफल चिकित्सा मानी गई है, इसके लिए निम्न विधियाँ प्रचलित है:—

(i) **अयुक्त भेदन (Free drainage)**:—इसमें विद्रधि के सर्वाधिक उत्सेध वाले स्थान पर पर्याप्त लम्बा तथा पूय गुहा तक गहरा भेदन करना चाहिए।

(ii) **हिलटन की विधि (Hilton's method)** :—इस विधि में पहले तेज धार वाले शस्त्र (Knife) से गम्भीर प्रावरणी (Deep fascia) तक भेदन करें फिर साईनस फारसेप्स (Sinus forceps) को बन्द करके भेदन स्थान में इसे पूय गुहा तक पहुंचा दें। अब इस Forceps के मुख को खोलकर इसे बाहर निकालें। फिर इसमें अङ्गुली डालकर सब कोष्ठकों (Loculi) को तोड़ कर एक गुहा बना दें। यदि भेदना उत्सेध के ऊपरी स्तर में किया गया हो तो गुहा में सबसे निम्न भाग में एक प्रतिभेदन (Counter incision) कर दें तथा 24 से 48 घन्टे तक के लिए उसमें वल्लिमय निकास नाड़ी (Corrugated drainage tube) लगा देनी चाहिए। तत् पश्चात् इसमें पूय विरोधी मरहमों (Antiseptic ointments) को लगाते रहें, या इसका भेदन करने के पश्चात् शोधन करके सीवन कर दें। 5-7 दिन तक प्रतिजीवी औषधियाँ (Antibiotics) देते रहना चाहिए।

(iii) **वेधन तथा आचूषण:**—रक्त पाक (Cold abscess) होने पर जब व्याधि पक्वावस्था में पहुंच जाए तो उत्सेध के उर्ध्व भाग में वेधन (Puncture) करके पूय का आचूषण कर लें (Aspirate by syringe)। इस गुहा में स्ट्रैप्टो-

माईसीन (Streptomycin) का घोल भर दें तथा यह कर्म कई बार करने से विद्रधि का रोपण हो जाता है।

(iv) **छेदन कर्म (Excision of the cavity)**—रोगी में प्रादेशिक संज्ञाहरण (Regional anaesthesia) देकर पूय-कोटर को पूर्णतया निकाल देना चाहिए (Excise the whole cavity)। फिर इसका प्राथमिक सीवन कर्म द्वारा सन्धान (Primary closure) कर देना चाहिए। यदि गुहा का पूर्ण रूप से छेदन न हो पाए तो उसका लेखन कर्म (Scrapping) करके सीवन कर्म कर देना चाहिए। क्षयज विद्रधि होने पर रोगी को क्षय विरोधी चिकित्सा (Anti tubercular therapy) भी साथ में देनी चाहिए। इसके लिए (i) स्ट्रैप्टोमाईसिन एक ग्राम का मांसपेशी में प्रतिदिन सूचीवेध करें (Inj. streptomycin 1 gm. daily I. M.), (ii) आईसोनैक्स 300 मि० ग्रा० दिन में तीन बार (Isonex 300 mg. T. D. S. daily) दें तथा इस चिकित्सा को तीन माह तक चलाएं। क्षय विरोधी औषधियों का वर्णन इस पुस्तक के द्वितीय भाग, अस्थि रोग अध्याय में कशेरूकास्थि क्षय में देखें।

स्तन विद्रधि :—

इस रोग में पूय के पड़ने के पूर्व ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि विद्रधि पच्यमान अवस्था में आ जाए तो इस पर उष्ण उपनाह तथा तीक्ष्ण लेप नहीं लगाने चाहिए (क्योंकि त्वचा कोमल होती है)। रोगी को उष्ण तीक्ष्ण भोजन देकर विद्रधि को पकाना चाहिए। इसके पकने पर चूचुक के कृष्ण भाग को तथा दुग्ध वाहिनियों को बचाते हुए शस्त्र द्वारा भेदन करके पूय निकाल दें। धात्री द्वारा स्तनों में से बार-2 दुग्ध निकलवाना चाहिए (इस दूध को उबालकर बच्चे को भी पिला सकते हैं)।

आधुनिक मतानुसार :—स्तन विद्रधि में प्रारम्भ से ही प्रतिजीवी औषधियों (Antibiotics) का प्रयोग शुरू कर देना चाहिए। यदि विद्रधि पक जाए तो स्तन पर रेडियल दिशा (Radial direction) में कृष्ण भाग को बचाते हुए भेदन कर्म करना चाहिए। यदि पूय गुहा स्तन के नीचे के भाग में स्थित हो तो पूय गुहा के सब से नीचे के भाग (most dependent portion) पर प्रतिभेदन (Counter incision) कर देना चाहिए। भेदन कर्म के पश्चात् 2-3 दिन के लिए उसमें निकास नाड़ी (Drainage tube) रख दें। रक्तस्राव बन्द होने पर (2-3 दिन बाद) इस निकास नाड़ी को निकाल दें तथा रोपण चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

अस्थि मज्जा विद्रधि:—

इस विद्रधि को असाध्य घोषित करके ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। विद्रधि के पकने से पूर्व स्नेहन, स्वेदन, रक्तमोक्षणादि (विरेचन तक के) उपक्रमों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। इसके पक जाने पर अस्थि को काटकर (By drill hole

or incision, in subperiosteum) पूय विस्रावण कराएं तथा पूर्व वर्णित शोधन द्रव्यों से इसका शोधन कर्म करें। शोधन होने पर तिक्त एवं कषाय द्रव्यों के क्वाथ से इसे धोकर रोपण कर्म करें।

आधुनिक पद्धति:—इसके अनुसार अस्थि विद्रधि में सर्वप्रथम प्रतिजीवी औषधियों (Antibiotics) का प्रयोग शुरू किया जाता है। इस चिकित्सा को 4 सप्ताह तक चलाते हैं तथा रुग्ण अङ्ग को पूर्ण विश्राम दिया जाता है। जब इसमें पूय पड़ जाता है तो उसका वेधन (Drill hole) करें या अस्थि आवरण अध: विद्रधि (Subperiosteal abscess) होने पर इसका भेदन (Incision) करें। विद्रधि से निकली पूय में उपस्थित जीवाणुओं की सूक्ष्म ग्राहिता (Sensitivity) देखकर तदानुसार प्रतिजीवी (Antibiotics) औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

---

7 षष्टि उपक्रम

व्रण चिकित्सा के लिये 60 उपक्रम बताए गये हैं। इन उपक्रमों द्वारा व्रण की प्रत्येक अवस्था में चिकित्सा की जा सकती है अर्थात् व्रण शोफ से लेकर व्रण चिन्ह बनने तक की सम्पूर्ण चिकित्सा इन 60 उपक्रमों के अन्तर्गत आती है। उपक्रमों में व्रण की स्थानीय तथा सार्वदैहिक दोनों प्रकार की चिकित्साओं का वर्णन है। ये उपक्रम निम्नलिखित हैं—

60 उपक्रम

(1) अपतर्पण	(2) आलेप	(3) परिषेक	(5) अभ्यंग
(5) स्वेद	(6) विम्लापन	(7) उपनाह	(8) पाचन
(9) विस्रावण	(10) स्नेहन	(11) वमन	(12) विरेचन
(13) छेदन	(14) भेदन	(15) दारण	(16) लेखन
(17) वेधन	(18) एषण	(19) आहरण	(20) विस्रावण
(21) सीवन	(22) संधान	(23) पीड़न	(24) शोणिता-स्थापन
	(25) निर्वापण	(26) उत्कारिका	(27) कषाय
(28) वर्ति	(29) कल्क	(30) सर्पि	(61) तैल
(32) रसक्रिया	(33) अवचूर्ण	(34) व्रणधूपन	(35) उत्सादन
(36) अवसादन	(37) मृदुकर्म	(38) दारुण कर्म	(39) क्षारकर्म
(40) अग्निकर्म	(41) कृष्णकर्म	(42) पाण्डुकर्म	(43) प्रतिसारण
(44) रोमसञ्जनन्	(45) रोमअपहरण	(46) वस्तिकर्म	(47) उत्तरवस्ति
(48) बन्धन	(49) पत्रदान	(50) कृमिघ्न	(51) संतर्पण
(52) विषनाशन	(63) शिरोविरेचन	(54) नस्य	(55) कवल धारण
(56) धूमपान	(57) मधु+घृत	(58) यन्त्र	(59) आहार
(60) रक्षाविधान			

उपरोक्त अपतर्पण से विरेचन तक के 12 उपक्रम, दोषों के संचय, प्रकोप,

प्रसार तथा स्थानसंश्रय अवस्था तक एवं शोफ की आमावस्था के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। इन उपक्रमों से या तो व्रणशोथ का प्रारम्भिक अवस्था में ही शमन हो जाता है (उत्पन्न ही नहीं हो पाती) या फिर उत्पन्न होने के पश्चात् उसका विलयन (resolution) हो जाता है तथा साथ में शोफ के वेदना इत्यादि लक्षण भी शांत हो जाते हैं। यदि दोष अत्यधिक मात्रा में प्रकुपित हों तथा उनका विलयन होना सम्भव न हो तो पाचनादि उपक्रमों का प्रयोग करें। पाचनादि उपक्रमों से व्रणशोथ शीघ्र ही पक्वावस्था में परिवर्तित हो जाता है तथा व्याधिकाल भी कम हो जाता है (It minimises the duration of disease)।

"संघेऽल्पहृता दोषा लघ्वते नोत्तरा गतिः।

ते दुस्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥ सु० सू० 21

संचय काल में ही दोषों का अपहरण कर देने से वे अगली गति को प्राप्त नहीं होते। दोष उत्तरोत्तर गति में पहुंचकर अधिक बलवान् हो जाते हैं, इसलिये अल्प दोषों में संशमन क्रिया करें, मध्य दोषों में लंघन व पाचन क्रिया तथा दोषों के अधिक रहने पर अर्थात् बलवान् होने पर दोषों की शोधन क्रिया करनी चाहिये।

छेदन से सीवन तक के अष्टविध कर्म तथा दारण कर्म पक्वशोथ में से पूय का निर्हरण करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। अष्टविध शस्त्र कर्मों से होने वाले उपद्रव जैसे अतिरिक्त छेदन, हीन-छेदन, तिर्यक् तथा चिकित्सक के डरने से अंग का छेदन (हीनातिरिक्ततिर्यक् च गात्रच्छेदनात्मनः) इत्यादि उपद्रव दारण उपक्रमों में नहीं होते। इसलिये मर्मस्थान के पक्व व्रणशोथ की चिकित्सा (अर्थात् वहां से पूय का निर्हरण) दारण उपक्रम द्वारा करनी चाहिए।

संधान से अग्निकर्म तक के 19 उपक्रम शोफ के व्रण में परिवर्तित हो जाने पर एवं दुष्ट व्रणों में शोधन (दोषाहरण) तथा रोपण कर्म करने के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं।

कृष्णकर्म से रक्षाविधान तक 20 उपक्रम हैं। व्रण के ठीक से न रोपण होने से उत्पन्न विकृतियों (Deformities in scar tissue) को सामान्य अवस्था में लाने के लिए या ऊर्ध्वजत्रुगत व्रणों में विशेष उपक्रमों के रूप में और शरीर गत दोषों तथा शिरों का निर्हरण करने के लिए इन 20 उपक्रमों का प्रयोग किया जाता है।

उपक्रम, विषय, द्रव्य, प्रयोग तथा विशेष कथन की तालिका

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
1. अपतर्पण (To bring the effect of fasting)	सब प्रकार की शोफ, आम व्रणशोथ, आमजन्य व्याधियां तथा कफजन्य व्याधियों में अपतर्पण करे।	जो शरीर में लघुता उत्पन्न करे उसे लंघन कहते हैं। इसके लिये लघु, उष्ण तीक्ष्ण, विशद, रुक्ष, सूक्ष्म तथा खर गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करें। इन द्रव्यों से अग्नि और वायु बढ़कर दोषों का पाचन कर देती है। अग्निवर्धक कर्म जैसे—तृषा, वायु, धूप, उपवास, दीपन, पाचन, व्यायाम तथा वमनादि चार कर्म (आस्थापन वस्ति को छोड़कर), इन सब कर्मों द्वारा अपतर्पण होता है।	अल्प दोषों में लंघन; मध्यम दोषों में लंघन एवं पाचन, एवं अधिक दोषों में दोषावसेचन करायें। इन कर्मों से आम तथा कफ दोष का पाचन होता है एवं शरीर में लघुता आने से अपतर्पण होता है।	**अपतर्पण के अयोग्य** —वात रोगी, भूख तथा प्यास से क्षीण, भीरु, गर्भवती तथा बालक, इनमें अपतर्पण से धातुक्षय होता है।
2. आलेप (Application of	**शोफजन्य** दाह तथा वेदना, व्रण के शोधन, रोपण, उत्सादन तथा **अवसादनार्थ**।	**वातदोष में**—बिजौरा अरणी, देवदारु, सोंठ, रासना तथा स्निग्ध, अम्ल, लवण	आलेपों से त्वचा, मांस एवं रक्त प्रसादित होते हैं तथा मर्म और गुह्य भागों का	आलेप-इसकी मोटाई अंगुली का $\frac{1}{3}$ भाग या भैंस के गीले चमड़े के बराबर होती है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
medicinal Pastes)	प्रलेप-से पूय को ढकें तथा स्रावयुक्त व्रणों में लगायें **प्रवेह**-को वात-कफज शोथ तथा विदग्ध शोथ में लगायें। **आलेप**-को रक्तपित्त, अभिघात तथा विषज शोथ में लगायें	द्रव्यों को उष्ण रूप में दें। **पित्त** में-दूर्वा, मुलैठी, चन्दन, काकोल्यादिगण, उत्पलादिगण तथा न्यग्रोधादि गण को दुग्ध में मिलाकर शीतल रूप में दें। **कफज** में-अजगन्धा, अश्वगन्धा, त्रिवृत्, अजशृंगी को क्षार एवं मूत्र के साथ उष्ण रूप में दें **सन्निपातज** में—लोध्र, हरीतकी, मैनफल सारिवादि दे। **शोथ होने पर**-स्नैहिक, निर्वापन प्रसादन, स्तम्भन या विलयन लेप आवश्यकतानुसार लगायें। **व्रण होने पर**-पाचन, पीड़न, शोधन, रोपण तथा सवर्णी-	संशोधन होता है। **प्रवेह**-चन्दन के लेप की तरह से पतला तथा शीतल होना चाहिये। **प्रवेह** यह मोटा तथा न सूखने वाला दोषानुसार ऊष्ण या शीत रूप में लगायें। **आलेप**-यह दोनों के बीच की मोटाई का होता है तथा इसमें स्नेह की मात्रा वातदोष में $\frac{1}{4}$ भाग, पित्त में $\frac{1}{8}$ भाग तथा कफ में $\frac{1}{16}$ भाग डालनी चाहिये।	इसे दिन में ही लगाना चाहिये (रात्रि में लगाने से ऊष्मा अन्दर ही रुक जाती है। गीला लेप शुष्क होने पर पुनः प्रयोग न करें तथा सूखे हुए लेप को पूर्ण रूप से उतार कर ही पुनः नया लेप लगाना चाहिये।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
3. परिषेक (Fomentation by irrigation)	इसे वेदनायुक्त शोथ में प्रयोग करते हैं।	करण लेपों को आवश्यकतानुसार लगाएं। **वातज में**-घृत, तैल, कांजी, मांसरस, भद्रदारु, इत्यादि द्रव्य दें। **पित्तज, रक्तज, विषज तथा आघातज में**-दुग्ध, घृत, मधु, शर्करा, इक्षुरस, क्षीरिवृक्ष एवं काकोली इत्यादि मधुर गण के द्रव्य दें। **कफज में**—तैल, मूत्र, क्षारोदक, सुरा, सुक्त तथा कफघ्न द्रव्यों का प्रयोग करें।	इन द्रव्यों के उष्ण या शीत क्वाथ (दोषानुसार) से सेचन करने पर वहां की स्थानीय दोषाग्नि शांत हो जाती है।	जैसे बोरिक अम्ल (Boric acid) या लवण जल के परिषेक (Fomentation) करने से शोफ (Inflammation) शांत हो जाती है।
4. अभ्यङ्ग (Massage by lubricant medicaments)	शोथ की आमावस्था, थकावट, त्वचा को निर्मल करने, शरीर को दृढ़ करने के लिए तथा वायु के नाश के लिये अभ्यंग का प्रयोग करें।	**वातज में** :-तैल एवं घृत। **पित्तज में** :—घृत। **कफज में** :—तैल का प्रयोग करें।	इसे स्वेदन तथा विस्लापन से पूर्व और रक्त विस्रावण के पश्चात् प्रयोग करें। इस से दोष तथा शोथ शांत होते हैं एवं त्वचा में मृदुता आती है।	**अयोग्य** :—अजीर्ण तथा कफज रोगों में, वमन तथा विरेचन के पश्चात्।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
5. स्वेदन (Fomentation)	शोथ, वमनादि शोधन कर्मों के पूर्व, शल्य कर्म तथा प्रसव के पश्चात्, भगन्दर, अर्श तथा अश्मरी रोगों के शल्य कर्मों के पहले तथा पश्चात् स्वेदन करना चाहिए।	(1) **ताप स्वेद**—यह शुष्क वस्तुओं को गर्म करके उन द्वारा दिया जाता है जैसे:— हाथ, कपड़ा, रुई, ईंट, रेत, धातु इत्यादि। (2) **ऊष्म स्वेद**—द्रव्यों के क्वाथ के वाष्पों को या नाड़ी (pipe) द्वारा (नाड़ी स्वेद) या गर्म ईंट पर पानी छिड़ककर या उस पर गीला कपड़ा डालने से उत्पन्न वाष्पों में स्वेदन करें **भेद** :—संकर, प्रस्तर, नाड़ी, परिषेक, जेन्ताक, अश्मघ्न, कुम्भी, कूप, कुटी, भू, होलाक और कर्षू (गर्त) (3) **निरग्नि स्वेद**—जैसे व्यायाम, ऊष्णगृह, भारी ओढ़न, वस्त्र, भूख, मद्यादि तीक्ष्ण द्रव्य, भय, क्रोध,	**कफज शोथ में**:—ताप स्वेद एवं उष्मस्वेद दें। **वातज शोथ में**—उपनाह स्वेद दें। **वात पित्त तथा कफ पित्त में**:— द्रव स्वेद दें। **वायु कफ, वायुमेद तथा उरुस्तम्भ में**—स्निग्ध या अग्नि स्वेद दें। स्नेहन के पश्चात् स्वेदन करें ताकि पहले दोष क्लिन्न हो जायें। आँख पर मृदु स्वेद दें। स्वेद देते समय हृदय की शीतल द्रव्यों से ढक दें। स्वेदन से रक्त परिभ्रमण बढ़ता है तथा विषों का विलयन होता है। इससे अग्नि दीप्त, त्वचा कोमल, स्रोत निर्मल, सन्धियाँ क्रियाशील तथा शरीर में लघुता	**अधिक स्वेद से**—मूर्छा, दाह, प्यास, रक्तपित्त प्रकोप होता है, तथा छाले (विस्फोट) उत्पन्न होते हैं। अयोग्य-पाण्डु, प्रमेह, रक्तपित्त, क्षय, अजीर्ण, उदररोग, विष, वमन, तृषा, सगर्भा, मद्यपी तथा अतिसार रोगी स्वेद के अयोग्य होते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		युद्ध, आतप तथा उपनाह (वातनाशक द्रव्यों को कांजी में पीसकर नमक तथा तैल मिलाकर पुल्टिस से सेक करें)।	आती है एवं तन्द्रा नष्ट होती है।	
6. विम्लापन (To rub)	स्थिर शोथ कफाधिक्य के कारण) तथा शोफ की आमावस्था में एवं वेदना होने पर विम्लापन करें।	इसे बाँस की लकड़ी, अंगुली, अंगूठा एवं हाथ की हथेली द्वारा करें।	इनसे धीमे-धीमे मर्दन करना चाहिए।	इस कर्म को अभ्यंग तथा स्वेदन के पश्चात् करना चाहिये। इससे दोषों का विलयन (Mobilization) होता है।
7. उपनाह (Poultice—A variety of fomentation)	आमशोथ एवं विदग्ध शोथ (पच्यमान शोथ की प्रारम्भिक अवस्था) में उपनाह कर्म करें।	सोंठ, रासना, देवदारु इत्यादि वातनाशक द्रव्य, नमक तथा तैल द्वारा उपनाह कर्म करें।	वातनाशक द्रव्यों को कांजी में पीसकर, नमक और तैल मिलाकर फिर आग पर रखकर पुल्टिस बनायें और इसे गर्म-गर्म (सहता हुआ) बांधें इससे आमावस्था का शोथ दब जाता है तथा विदग्धावस्था के शोथ का जल्दी पाक हो जाता है।	बैलाडोना प्लास्टर तथा एण्टिफलोजस्टीन (Belladona plaster and antiflogestine) भी आम शोथ को दबा देती हैं तथा विदग्ध शोथ को पका देती है i. e, It has Poultice like action.

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
8. पाचन	उपरोक्त विधियों से यदि शोथ शांत न हो सके तो उसका पाचन करें।	सन बीज, मूलीबीज, सरसों, जौ के सत्तू, संहजन का फल, अलसी, किण्व (सुरा का तलछट), कूठ तथा अगुरु इत्यादि उष्ण वीर्य द्रव्यों को दही, तक्र, सुरा एवं कांजी में मिलाकर तैल से स्निग्ध करके यह कर्म करें।	वातनाशक औषधियों को कांजी में मिलाकर तैल से स्निग्ध करें फिर गर्म करके एरण्डपत्र पर रखकर शोथ पर बाँध दें।	यदि शोथ पकने वाला हो तो रोगी को उष्ण पदार्थों को भोजन के रूप में दें एवं स्थानीय प्रयोग के लिए भी उष्ण द्रव्य दें।
9. विस्रावण या रक्त-मोक्षण (Blood letting)	शोथ की आमावस्था में, व्रणों के कठिन फूले हुए विषज, लाल वर्ण के वेदना युक्त तथा अधिक दोषयुक्त होने पर। विद्रधियों में (त्रिदोषज के अतिरिक्त), कुष्ठ, विषदूषित, रक्तरोग अर्बुद, ग्रन्थि, उपदंश, विदारिका, गलशालूक, तालूकण्टक, उपकुश, दन्त पुप्पुठ, एवं ओष्ठादि रोगों	शृंग, अलाबू, जलौका सूची, कुशापत्र व त्रिकूर्चक (भीरू, नृप, वृद्ध तथा स्त्रियों के लिये)। **अस्थियों में**—कुठारिका से। **मांस में**—व्रीहिमुख से (जलौका अशस्त्र विस्रावण है तथा प्रच्छन्न, एवं सिरा-वेध शस्त्र विस्रावण है)।	**जलौका**—पित्तज रोग एवं दुष्ट रक्त के गम्भीर धातुओं में होने पर लगायें। **प्रच्छन्न**—पिण्डीभूत रक्त के लिये करें। **सिरावेध**—सर्वशरीरगत रोगों में दोष के गम्भीर होने पर जलौका एवं अलाबू लगाएं तथा रोग गम्भीरतर होने पर पांछना चाहिए। सम ऋतु में सामान्य स्वेदन के पश्चात्	रोगों की आमावस्था में इसे आधी चिकित्सा मानी जाती है। **अयोग्य**—अतिस्वेदित, अति उष्ण काल में, सर्वाङ्गक्षयवयथु, क्षीण रोगी, पाण्डु, अर्श, शोषि, उदर रोगी तथा गर्भिणी। परन्तु विषाक्रान्त रोगी में उसके अयोग्य होने पर भी रक्त विस्रावण (सिरा-वेध से) करायें।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	में यह कर्म करें।		तीन बार यवागू खिलाकर रक्त निकालना चाहिए।	
10. स्नेह (To administer fatty substances)	उपद्रवयुक्त शोथ, रुक्ष, कृश व व्रणशोषि, विषपीड़ित, वातपित्त रोगी, प्रदीप्ताग्नि से पीड़ित तथा क्रूरकोष्ठ के रोगी में स्नेहन कर्म करें।	सूक्ष्म, स्निग्ध, पिच्छिल, मृदु, मन्द, शीत तथा गुरु द्रव्य, दें। दोषानुसार औषध सिद्ध घृत, तैल, वसा या फिर मज्जा दें। स्नेह की 24 विचारणाओं (दही, दूध, मांसरस, वस्ति, उत्तरवस्ति, गण्डूष, विलेपी, यवागू इत्यादि) से स्निग्ध करके दें। **योग**—(i) पिप्पली, सैंधा नमक, घृत, तैल, वसा, मज्जा, दधि तथा मस्तु। (ii) मांस रस की यवागू को घृतादि के साथ पीने से। (iii) चावल दूध की यवागू में घृत मिलाकर	स्नेहन कर्म 7 दिन तक करें इसके पश्चात् यह सात्म्य हो जाता है। प्रधान मात्रा 24 घण्टे में जीर्ण होती है, यह दोषों को हरती है। मध्यम मात्रा 12 घण्टे में जीर्ण होती है यह शोधन करती है। ह्रस्व मात्रा 6 घण्टे में जीर्ण होती है, यह बल देती है। स्नेहन के पश्चात् गर्म जल पिलायें, उष्ण जल से नहलायें तथा मिथ्या, आहार विहार छुड़ा दें।	**अयोग्य**-अजीर्ण, नूतन ज्वर, दुर्बल, अरुचि, स्थूलरोगी, मूर्च्छा, मद, छर्दि, तृषा, वस्ति, वमन या विरेचन लेने पर, असमय में प्रसव तथा गर्भाशय में रक्त या मल तथा क्लेदादि के रुकने पर यह कर्म न करें।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		लेने से। (iv) जौ, बेर, कुलत्थ तथा पिप्पली को दूध, दही, सुरा घृत से लें। इससे तुरन्त स्नेहन होता है।		
11. वमन (Therapeutic vomiting)	मांस की उभार युक्त शोफ। कफज व्रणों में रक्त दूषित होने पर, अर्बुद, विसर्प, विद्रधि, कण्ठपाक, ओष्ठपाक, मुखपाक, कर्णस्राव, अधिजिह्विका, उपजिह्विका, गलशुण्डिका तथा कफ से उत्पन्न अनेक औषधसाध्य रोग, जैसे—अजीर्ण, आमातिसार इत्यादि में वमन करायें।	**सौम्य वमन**-मुलैठी क्वाथ से। **कफ को काटने तथा पतला करने** के लिए—मधु, सेन्धानमक, रावयुक्त मदनफल का कषाय। **अन्य द्रव्य**:—मैनफल, कुटज, देवदाली, इक्ष्वाकु, सरसों, वायविडंग, पिप्पली, करञ्ज, काञ्चनार, लिसोड़ा, नीम, असगन्ध, वेतस तथा वचादि। **वमन तथा विरेचन दोनों कर्म करने वाली औषधियाँ** कोशातकी, सप्तला, शङ्खिनी तथा देवदाली।	स्नेहन व स्वेदन के पश्चात् कफवर्धक आहार से कफ को उत्क्लेशित करें। फिर प्रशस्त घर में प्रातः काल उठते ही औषध पिलाकर एक मुहूर्त्त तक प्रतीक्षा करें। स्वेद, लोमहर्ष, हृल्लास तथा लालास्राव होने पर, रोगी को सिर से पकड़ कर, पैरों के बल बैठाकर व मुख में अंगुलि डालकर वमन करवायें। वायु में 2 वेग, पित्त में 4 वेग तथा कफ में 6-8 वेग होने दें। वमन में थूक, औषध, कफ, पित्त और वायु क्रम से निकलते हैं।	वमनोपरान्त हाथ, पैर तथा मुख धुलाकर विश्राम दें तथा धूम्रपान करायें। दूसरे दिन शाली चावल दें तथा 7 दिन बाद सामान्य आहार दें। **अयोग्य**:—तिमिर, ऊर्ध्ववात, गुल्म, उदर, प्लीहा, कृमि, स्थूल, कृश, क्षतक्षीण, थकावट, भूख, प्यास, सगर्भा, कठिन कोष्ठ तथा शुद्ध वात रोगी। अत्यधिक अजीर्ण तथा कफ रोग होने पर अयोग्य होते हुए भी वमन दें।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
12 विरेचन (Purgation)	वायु से दूषित तथा जीर्ण व्रण, अर्श, आर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, भगन्दर, विसर्प, शोफ, शस्त्र जन्य क्षत, क्षार एवं अग्निदग्ध, दुष्टव्रण, अक्षिपाक, मुखपाक, गुदपाक, मेढ्रपाक, कर्णपाक, कांच, तिमिर, नासारोग इत्यादि में विरेचन दें।	त्रिवृत, श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, सेहुण्ड, कालमेघ, मेढ़ाश्रृंगी, इन्द्रायण, स्वर्णक्षीरीमूल, कम्पिल्क, मालकांगनी, चिरबिल्व, आरग्वध, एरण्ड, सप्तपर्ण, ज्योतिष्मति का तैल इत्यादि द्रव्यों को प्रयोग में लाएं।	विरेचन को वमन के 15 दिन पश्चात् करें तथा धूम्रपान को छोड़कर शेष कर्म वमन सदृश करें। अतितीव्र विवेचन से दोष नहीं निकलते। मूत्र, मल, पित्त, औषध और कफ क्रम से निकलते हैं। वायु में 10 वेग, पित्त में 20 तथा कफ में 30 वेग दें। पित्त निकलने पर मन में प्रसन्नता, नाभि में हल्कापन तथा वायु का अनुलोम होना सम्यक् विरेचन का लक्षण है।	**अयोग्य**—मन्दाग्नि, अतिस्नेही, बालक, वृद्ध, क्षीण, डरा हुआ तथा थका हुआ, प्यास, अजीर्ण, सगर्भा, अधोगत रक्तपित्त, नूतन प्रतिश्याय, नवज्वर, मदात्य, अस्नेही तथा शल्य से पीड़ित रोगी विरेचन के अयोग्य होते हुए भी यदि पित्त अत्यधिक बढ़ा हुआ हो तो विरेचन दे देना चाहिए।
13. छेदन (Excision)	कफज तथा मेदज ग्रन्थि, अर्बुद तथा कठिन और स्थिर रोगों में जिनमें कि	मण्डलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र तथा नख शस्त्र। इन के अतिरिक्त, छेदन कर्म के लिए	छेदनकर्म में या तो ऊपर को काट कर निकालें (उत्कर्तन), या नीचे की	अर्बुद जैसी धातुओं की अत्यधिक वृद्धि में या गलित धातुओं में छेदन कर्म करना

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	पाक नहीं होता, गला हुआ मांस तथा स्नायु, मांसकन्दी, भगन्दर, तिल-कालक, व्रणवर्त्म, अर्श, चर्मकील, अस्थिज शल्य, जतुमणि, मांससंघात इत्यादि में छेदन कर्म करें।	बांस, कांच, स्फटिक, कुरु-विन्दादि अनुशस्त्रों का भी प्रयोग किया जा सकता है।	ओर से काट कर निकालें (अपकर्तन)।	चाहिये फिर व्रण का प्राथमिक सीवन (Primary suturing) कर देना चाहिए।
14. भेदन (Incision)	अन्तःपूय गतिजव्रण, कोटर-युक्त व्रण, सन्नि-पातज के अतिरिक्त अन्य विद्रधियां विसर्प (वातज पित्तज,कफज),प्रमेह पिड़िका कुम्भीव्रण,अलजी,अवमन्थक, अश्मरी के निकालने के लिए एवं पकने वाले क्षुद्र रोगों इत्यादि में।	यह कर्म वृद्धिपत्र द्वारा करें। इसके अतिरिक्त कान्च, नख, क्षारादि अनुशस्त्रों के द्वारा भी भेदन कर्म किया जा सकता है।	भेदन को विस्तृत, सुवि-भक्त, आश्रय रहित करें तथा एक ही बार में तेज शस्त्र से काट कर यह कर्म करें। **तिर्यक् भेदन**:—भ्रू, गण्ड, ललाट, अक्षिपुट, दन्तवेष्ट, कक्षा, कुक्षि तथा वंक्षण में करें।	भेदन कर्म सिराओं की दिशा में करें, अन्यथा सिरा कट जाने से व्रण देर से भरता है तथा मांसकन्दी बन जाता है।
15. दारण (Application of irritants)	बालक, वृद्ध, भीरु, स्त्री तथा मर्मस्थानों की पक्व-शोथ जहां पर शस्त्रकर्म न	करञ्ज, कलिहारी, दन्ती, चित्रक, कनेर, स्वर्णक्षीरी। चक्रदत्त ने गोदन्त रगड़ कर	कबूतर व गीधादि का मल सुकुमार में प्रयोग करें। क्षार कृच्छ्रदारण होता है।	मर्म स्थानों पर हिल्टन की विधि (Hilton's method) से भेदन कर सकते हैं पहले

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	हो सकता हो वहाँ दारण कर्म करें।	लगाने को कहा है। कबूतर एवं गीध का मल भी दारण करता है।		त्वचा का भेदन करके यन्त्र को पूय गुहा में जोर से धकेल दें, फिर यन्त्र का मुख खोलकर उसे बाहर खींच लें।
16. लेखन (Scraping)	कठिन, गोल तथा उठे हुए मांस वाले व्रणों में जिनके किनारे बार-बार फट जाते हैं, एक दोषज रोहिणी, किलास, उप-जिह्विका, दुष्ट मेदज ग्रन्थि, नेत्रग्रन्थि, दन्तवैदर्भ, नेत्रवर्त्म, अर्श, मण्डलकुष्ठ, मांसकन्दी, उपजिह्विका इत्यादि में लेखन कर्म करें।	क्षोभ (Rough cloth), प्लोत, पिचु, (Gauze), समुद्रफेन, यवक्षार, सेन्धा, मण्डलाग्र, करपत्र इत्यादि।	लेखन कर्म सब स्थानों पर समान रूप से तथा पूरे व्रण का करना चाहिए। व्रण के किनारों (वर्त्म) पर भी लेखन कर्म करें।	शुद्ध धातु तक गम्भीर लेखन कर्म करें अर्थात विकृत धातु को पूर्ण रूप से निकाल दें।
17. बेधन (Para-centesis)	यह कर्म मूत्रवृद्धि, जलोदर, विद्रधि (क्षयज विद्रधि), अनेक सिराओं में एवं पूयवक्ष (Empy-ema) इत्यादि में करें।	कुठारिका, आराशस्त्र, वेतसपत्र, सूची तथा व्रीहि-मुख शस्त्र द्वारा यह कर्म करें।	उद्देश्य तथा परिणाम का विचार करके ही दोष निकालें। अधिक दोष निकालने से स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है।	यदि पाक अधिक हो तो 2 अङ्गुल अन्तर पर एक और बेधन करें।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
18. एषण (Probing)	नाड़ीव्रण, शल्ययुक्त व्रण, उन्मार्गी भगन्दर, नेत्र-वर्त्म, गुदा के पास छोटी छोटी नाड़ियां, रक्त-युक्त व्रण तथा भगन्दर को काटने के पूर्व एषण कर्म करें।	करीर, पोईशाक, बाल तथा एरण्डी (शाक के कोमल नाल को नेत्र तथा गुदा पर प्रयोग करें क्योंकि यह एषण के समय आघात नहीं होने देता।	एषण कर्म से नाड़ी व्रणों की दिशा, उनकी गहराई और गुहा के आकार (Size) का ज्ञान करना चाहिए।	आजकल एषणि निदेशक (Probe director) का प्रयोग नाड़ी व्रणों के भेदन के समय होता है।
19. आहरण (Extraction)	शल्ययुक्त व्रण तीन शर्करायें, दांत का मैल, अश्मरी, गुदा का संचित मल तथा मूढ़गर्भ में यह कर्म करें।	बड़िश एवं दन्तशंकु, इनके अतिरिक्त रज्जु (Cord) वृक्ष की शाखा इत्यादि उपयंत्र, स्वस्तिक यंत्र एवं संदंशयंत्र से भी शल्य को निकाला जा सकता है।	यदि दान्त या अन्य शल्य फंसा हुआ हो तो पहले उससे मांसादि धातुओं को अलग कर देना चाहिए तत्पश्चात् आहरण कर्म करें।	तीनों शर्कराओं में मूत्रशर्करा, पादशर्करा तथा दन्त शर्करा आती है।
20. विस्रावण (Drainage)	अष्टविध शस्त्रकर्म अध्याय में सुश्रुत ने विस्रावण से रक्त विस्रावण को ही लिया है।	एकत्रित हुए मूत्र एवं जलोदर को वेधन कर्म द्वारा एवं पूय को शस्त्र द्वारा निकालने को कहा है। (महत्स्वपि च पाकेषु द्वयंगुलान्तरे त्रयंगुलान्तरे वा शस्त्र निपातनम),		इस रक्त विस्रावण उपक्रम में देखें।
21. सीवन (Suturing)	मांस व मेद के फटने पर, लेखन कर्म के पश्चात्, सन्धि आश्रित सद्योव्रण में तथा छेदन के पश्चात् सीवन करें। सूचना :—इसका विस्तृत वर्णन इस अध्याय के अन्त में देखें।	डल्हण। अश्मन्तक की वल्कल, वसन, रेशम, स्नायु, बाल, मूर्वा तथा सूची (तिस्रा, वृत्ता तथा धनुर्वक्रा)।	बेल्लितक, गोफणिका, तुन्नसेवनी, ऋजुग्रन्थि सीवन विधि से व्रणों का सीवन कर्म करें।	अयोग्य—क्षार, अग्नि, विषज, मारुतवाही तथा शल्ययुक्त व्रण।
22. सन्धान (Wound-approximation)	इसका वर्णन इस अध्याय के अन्त में देखें।			
23. पीड़न (To squeeze	जिन व्रणों के मुख अति सूक्ष्म होने से दोष (पूय) बाहर न निकल सके तथा मर्म स्थानों के दुष्ट व्रणों में	जौ, गेहूं, उड़द की दाल तथा अन्य पिच्छिल द्रव्य एवं सेंबल वट व उदुम्बरादि।	पीड़न द्रव्यों का प्रदेह (मोटा लेप) लगाकर इसे आग के पास सुखायें। प्रदेह सूखने पर संकुचित होने से वह व्रण-	प्रदेह को व्रण मुख पर न लगायें क्योंकि वहां से दोष बाहर आते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
out the pus)	पीड़न किया जाता है।		गुहा से पूय को बाहर निकालकर व्रण को शुद्ध करता है।	
24. शोणिता-स्थापन (Haemos-tasis)	सिरावेध तथा जलौका अव-चारण के पश्चात् अधिक रक्तस्राव होने पर तथा आघातज रक्त स्राव में शोणितास्थापन करें।	हिम, कषाय द्रव्य (जैसे माजू-फलादि), सीवन कर्म, प्रगाढ़ बन्ध, दहन कर्म, शुक्ति, शंख तथा रेशमी कपड़े की भस्म एवं क्षार व धमनी संदंशयन्त्र (Artery for-ceps) के द्वारा यह कर्म होता है।	**1. सन्धान** :—इसमें कषाय (Styptics) द्रव्य, प्रगाढ़-बन्ध व सूत्र द्वारा सिरा का बन्धनादि कर्म आते हैं। **2. स्कन्दन:**—हिम (शीतल जल) से सिरायें संकुचित होती हैं। **3. पाचन:**—शुक्ति इत्यादि रूक्ष द्रव्यों से तथा क्षार से पाचन करें। **दहन**—दहन से सिरा संकु-चित होती है।	बड़ी सिरा कटने पर उसे सूत्र से बाँधें। केशि-काओं के रक्तस्राव में कषाय हिम या पाचन द्रव्यों का प्रयोग करें। इनके निष्फल होने पर दहन कर्म करें।
25. निर्वापण (Cold	पित्त एवं रक्त से उत्पन्न, ज्वर युक्त शोथ तथा पच्य-मान शोथ में निर्वापण कर्म	दूर्वा, नलमूल, मधूक तथा चन्दनादि शीतल द्रव्यों द्वारा यह कर्म करें।	इन द्रव्यों का प्रलेप (पतला लेप) लगायें तथा इनके सिञ्चन करें। यह शीतल कषाय द्वारा अव-	शोथ की तीव्रावस्था में निर्वापण कर्म करना चाहिए।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विषय कथन
26. उत्कारिका	थोड़े मांस वाले व्रण जो कि पकते नहीं परन्तु जिनसे थोड़ा-थोड़ा स्राव निकलता रहता है। कठिन तथा रूक्ष व्रणों में जहाँ वेदना अधिक होती हो, इनमें उत्कारिका को लगायें।	भद्रदार्व्यादि व वातनाशक औषधियाँ, सौवीरक, तुषो-दकादि, अम्लवर्ग, काकोल्या-दिगण तथा स्नेहयुक्त पदार्थ जैसे तिल, अलसी, सरसों के बीज इत्यादि।	वातघ्न, पौष्टिक, पित्त-नाशक तथा स्नेहयुक्त पदार्थों की उत्कारिका से व्रण की वेदना तथा रूक्षता शान्त हो जाती है।	पाचन उपक्रम में भी उत्कारिका बनाई जाती है परन्तु उसमें कुलथीबीज, सरसों तथा सनके बीज इत्यादि पाचन औषधियाँ अधिक डाली जाती हैं।
27. कषाय	दुर्गन्ध क्लेद तथा पिच्छिलता युक्त दुष्ट व्रणों में यह कर्म करें।	**शोधन कषाय** :—शंखिनी, अंकोष्ठ, सुवर्चला, करवीर एवं आरग्वधादि द्रव्य (वाग्-भट्ट अनुसार पटोल तथा निम्ब क्वाथ)। **रोपण कषाय** :—अनुष्ण (पञ्चवल्कल) वृक्षों की छाल।	दुष्ट व्रणों में पहले शोधन कषाय का प्रयोग करें तथा व्रण शुद्ध होने पर रोपण कषाय से सिञ्चन करें। **फांट** :—गर्मजल में कूटी हुई औषधियों को मसलकर छाना हुआ कषाय। **शीत** :—रात्रि भर औषध को भिगो-कर रखें तथा प्रातः कषाय को छान लें। **श्रृत** :—क्वाथ को कहते हैं। **कल्क** :—चूर्ण में जल मिलाने से जो पिण्ड बनता है। **स्वरस** :—ताजी औषधी से निकला स्वरस।	फांट (Hot infusion), हिम (Cold infusion), श्रृत (Decoction), कल्क (Paste) तथा स्वरस (Juice), यह उत्तरोत्तर अधिक गुरुतर तथा अधिक प्रभावकारी होते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
28. वर्ति	नाड़ीव्रण, शल्ययुक्तव्रण, सूक्ष्म मुख वाले व्रण, मांस स्थित गम्भीर व्रण, पूतिमाँस तथा बहुल दोषज व्रण में शोधन वर्ति दें तथा वेदना रहित शुद्ध गम्भीर व्रणों में रोपण वर्ति का प्रयोग करें।	**शोधन वर्ति :**—अजगन्धा, अजशृंगी, गवाक्षी, त्रिवृत, दन्ती, लांगली, सेन्धानमक, मधु, ऐला, पाठा एवं त्रिकटु इत्यादि द्रव्य। **रोपण वर्ति :**—क्षीरी वृक्षों के अंकुर, अमृता, अश्वगन्धा, काकोल्यादि गण तथा अन्य मधुर एवं कषाय द्रव्य। इन द्रव्यों को पीस कर, थोड़ा पानी डालकर उसे सुखा लेते हैं।	व्रण शोधन के लिये व्रण में पहले पतली वर्ति डालें तथा जैसे ही उसका मुख विस्तृत होता जाये तो क्रमशः मोटी वर्ति डालते जायें। शोधन होने पर रोपण वर्ति डालें तथा इसे पहले मोटी तथा फिर क्रमशः पतली वर्ति डालते जायें, जब तक कि व्रण भर न जाए।	गम्भीर व्रण, कोटर युक्त व्रण तथा नाड़ी व्रणों में वर्ति का प्रयोग किया जाता है।
29. कल्क	पूति मांस से ढके व्रण, यदि सड़ा मांस निकालने के पश्चात् भी व्रण भर न रहा हो और दोषों की अधिकता से जब व्रण भर न रहा हो तो कल्क का प्रयोग करना चाहिए।	**शोधन कल्क :**—उपरोक्त वर्ति वाले द्रव्य तथा कासीस, जाती हरड़, हरिद्रा तथा तिल कल्क या यव कल्क को लगायें। **रोपण कल्क :**—समंगा, सोमलता, साल या तिल और	घृत, नीम तथा मधु में यदि जौ का कल्क मिला कर लगा दिया जाये तो यह अग्नि दग्ध व्रण को दबा देता है, विदग्ध व्रण को पचाता है, पके व्रण को फाड़ता है तथा दुष्ट	कल्क वर्ति की अपेक्षा दोषों को हरने में अधिक प्रभावशाली होता है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		मधु का कल्क। घृत, नीम तथा मधु का कल्क। धाय, मधु, मञ्जिष्ठा, सरल, चन्दन, काकोली इत्यादि रोपण द्रव्यों का कल्क प्रयोग करें।	व्रण को शुद्ध करता है।	
30. सर्पि (घृत)	पित्तज (दाह, लालिमा तथा पाक युक्त) गम्भीर व्रणों में, रक्तज तथा आगन्तुक व्रणों में एवं अन्य गम्भीर व्रणों में सर्पि का प्रयोग करें।	**शोधन घृत :**—कासीस, अजगन्धा व कर्पासफल से सिद्ध घृत तथा आक, त्रिफला, स्नीहाक्षीर, हल्दी, कासीस एवं कटुरोहिणी से सिद्ध घृत बनाएं।	व्रण में दोष रहने पर पहले शोधन घृत लगाएं तथा शुद्ध होने पर रोपण घृत का प्रयोग करें।	पुराना घृत शोधन तथा रोपण कर्म करता है। घृत बनते समय घृत को द्रव्यों से 4 गुणा लें तथा पानी 8 गुणा मिला कर पाक करें।
31. तैल	उठे मांस वाले, स्नेह रहित तथा अम्ल स्रावी, व्रण, कफ तथा वात दुष्ट व्रणों में।	**रोपण घृत :**—पृष्णपर्णि इत्यादि, (कौंच, हरिद्रा, मालती, श्वेत दूर्वा) या रोपण द्रव्यों से सिद्ध घृत। अपामार्ग तथा वर्तिवाले द्रव्यों का क्वाथ, कासीस, कुटकी, जाती की जड़ तथा हरिद्रादि के कल्क	रोपण द्रव्यों से सिद्ध तैल को वात कफज व्रणों में प्रयोग करें।	यह तैल वात तथा कफ नाशक होने से वात कफज व्रणों के लिये श्रेष्ठ है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		से सिद्ध तैल। अपामार्ग, अमलतास, निम्ब, कोशातकी, हरिताल एवं मनःशिला द्रव्यों से शोधन तैल बनावें। अगुरु इत्यादि (अगर, तगर, प्रियंगु, लोध्र, हरिद्रा) द्रव्यों से सिद्ध तैल बनावें।		
32. रस-क्रिया	जो व्रण स्थिर मांस वाले हों तथा सिद्ध तैल से भी शुद्ध न हों। पित्त, रक्त, विष, अग्नि या क्षारादि से दुष्ट व्रण तथा चेष्टावान सन्धियों के व्रण एवं जो व्रण बार-बार दूषित हो जाते हैं उनमें रस क्रिया करें।	सालसारादि गण के द्रव्य, शोधन वर्ति के द्रव्य, परवल तथा त्रिफलादि से शोधन रस क्रिया करें। **शुद्ध व्रणों में** :—न्यग्रोधादि गण, त्रिफला क्वाथ, हल्दी तथा दारू-हल्दी इत्यादि द्रव्यों से रस क्रिया करें।	इन द्रव्यों के क्वाथ को छान कर पुनः पकाएं तथा उस में पकते समय फिटकरी, कासीस, मैनशिल तथा हरिताल मिलाएं, एवं राल की तरह गाढ़ा हो जाने पर निम्बू स्वरस तथा मधु मिलाकर रखें।	इसे केवल 3 दिन तक लगा रहने दें इससे अधिक दिनों तक प्रयोग न करें क्योंकि इस अवधि के पश्चात् यह धातुओं का नाश करना शुरू कर देती है।
33. अवचूर्ण	**मेद युक्त या दुर्गन्ध युक्त उत्तान व्रण (Superficial ulcer), समतल एवं स्थिर मांस वाले त्वचा में स्थित**	वर्ति के द्रव्य या कासीस, सैन्धव, किण्व (सुरापिष्ट), वच तथा दोनों हरिद्रा। इनके अतिरिक्त त्वचा	दुष्ट व्रणों में पहले शोधन चूर्णों का प्रयोग करें तथा फिर रोपण चूर्णों से रोपण कर्म करना चाहिए।	जिन व्रणों से अधिक स्राव होता है, चूर्णों का प्रयोग केवल उन स्राव युक्त व्रणों में करना चाहिए, जैसे स्राव युक्त

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	व्रणों में अवचूर्ण का प्रयोग करें	गत व्रणों में कंगुनी, त्रिफला, लोध्र, कासीस, धव, अश्वकर्ण, प्रियंगु, सर्जरस, कासीस पुष्प तथा धव की छाल। उपरोक्त कषाय से अवचूर्ण तक के उपक्रमों में दोषानुसार द्रव्यों का प्रयोग करें। **वात दुष्टि में**—वृहत् पञ्च-मूललघुपञ्चमूल, भद्रदार्व्यादि गण के द्रव्य। **पित्त दुष्टि में**—न्यग्रोधादि तथा काकोल्यादि गण। **कफ दुष्टि में**—आर खद्यादि, मुष्कादि, सुरसादि उष्ण गुण युक्त द्रव्य। **विशेष**—सारिवादि गण सब दोषों का शोधन करता है।		विचर्चिका (Weteczema) में।
34. व्रण धूपन Fumigation	वातदोष, वेदना, स्राव एवं दुर्गन्ध युक्त व्रणों	क्षोम, अलसी, जौं, घृत, श्रीवेष्ट, देवदारु, सालसारादि	दो सकोरों को जोड़कर बीच में औषधि रखकर	वाग्भट्ट ने विकेशिका तथा कवलिका का भी धूपन

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	में धूपन कर्म करें।	गण, निम्ब, बच गन्धक, वसा तथा मज्जा, **व्रण को कोमल करने के लिए** सालसारादि गण के द्रव्य एवं गन्धक। **व्रण को कठोर करने के लिए** घृत, वसा तथा मज्जा का प्रयोग करें।	गर्म करें तथा ऊपर के सकोरे में नाड़ी लगाकर धूपन कर्म कर।	करने को कहा है, तथा डल्हण ने रोगी की शय्या का भी धूपन करने को कहा है।
35. उत्सादन कर्म	सूखे, अल्प मांस वाले व्रण, रोगी में वायु से दूषित व्रण तथा गम्भीर व्रण जिनमें शीघ्र रोपण नहीं होता उन में उत्सादन करना चाहिये।	मूसली, तालीस पत्र, सुवर्चला, काकोल्यादि गण, अपामार्ग, अश्वगन्धा के द्वारा बनाया गया घृत लगायें तथा मांस खिलायें।	व्रण पर इन द्रव्यों से सिद्ध घृत का आलेप करने पर व्रण शीघ्र रोपित होता है।	आजकल भी शल्य कर्म के पश्चात् व्रण रोपण के लिए Proteins या मांस खाने को देते हैं। वाग्भट्ट ने भी मांस को व्रणहर कहा है।
36. अवसादन कर्म	अधिक कोमल मांस युक्त व्रण(Hyper granulation tissue) में अवसादन कर्म करें।	(i) मधु और कासीस चूर्ण। (ii) सैन्धव, मैनशिल एवं किण्व। (iii) कुक्कुटांडत्वक् भस्म, शिरीषफल, गुग्गुलु एवं अग्निक। (iv) धातु चूर्ण।	इन द्रव्यों का व्रण पर प्रलेप करने से बढ़ा हुआ कोमल मांस नष्ट हो जाता है।	शुद्ध व्रण पर अवसादन द्रव्यों का प्रयोग करने से उनमें रोपण देर से होता है, क्योंकि यह द्रव्य धातुओं को नष्ट करते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
37 मृदु कर्म	कठिन, थोड़े मांस वाले तथा वायु से दूषित व्रणों में मृदु कर्म करें;	मधुर, स्निग्ध, कोष्ण एवं लवणादि गुणों वाले द्रव्य कोमल उपचार तथा गाढ़ (बन्धन से Scab नहीं बनती) का प्रयोग करें।	रक्त या पित्त का अनुबन्ध होने पर रक्त मोक्षण कराएं तथा गन्ध तथा कफ में भद्रदार्व्यादि घृत से सेक करें।	बाह्य तथा आभ्यन्तरिक कोमल उपचार करें।
38. दारुण कर्म	यह कर्म कोमल मांस वाले व्रण को कठिन करने के लिए किया जाता है।	घन प्रियंगु, अशोक, रोहिणी, त्रिफला, धायपुष्प, लोध्र तथा राल।	इन द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण व्रण पर छिड़कना (Sprinkle करना) चाहिए।	यह द्रव्य कषाय गुण वाले होने से कोमल धातु को संकुचित करके कठोर बना देते हैं।
39. क्षार कर्म	उभरा हुआ मांस, कठिन तथा कण्डू युक्त देर से चल रहे व्रण, कठिनाई से शुद्ध होने वाले व्रण, क्लेद तथा रक्त स्राव युक्त व्रण, मपक, व्यंग, विद्रधि, रोहिणी तथा उपजिह्विकादि। नोट—इसका विस्तृत	क्षार, कुटज, ढाक, अमलतास, स्नुही, अपामार्ग, चित्रक, कनेर, अरणी इत्यादि की भस्म से बनता है। इस तरह के मृदु क्षार में शंख, शुक्ति तथा खड़ियादि मिलाने से मध्य क्षार बनता है तथा इस में तीक्ष्ण द्रव्यों(दन्ती, द्रवन्ती, लांगली इत्यादि) का प्रक्षेप	**पित्त दोष में**—घर्षण करें, **वात में**—लेपन तथा **कफ में**—पाछे लगाकर घर्षण करें। प्रतिसारणीय क्षार लगाने के लिए दें। पानीय क्षार को गुल्म व उदर रोगों में खाने के लिए दें।	पानीय क्षार पित्त प्रकृति, मद, मूर्च्छा तथा बालक को न दें। क्षार, मांस का क्षरण करता है, इसलिए जीर्ण व्रणों को शुद्ध करके उनका शीघ्र रोपण करता है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	वर्णन क्षार कर्म अध्याय में देखें।	मिला देने से तीक्ष्ण क्षार बनता है।		
40. अग्नि कर्म	अश्मरी जन्य मूत्रस्रावी व्रण, रक्त स्रावी व्रण तथा पूर्ण रूप से कटी हुई सन्धि में यह कर्म करें। **नोट**—इसका विस्तृत वर्णन अग्नि कर्म अध्याय में देखें।	पिप्पली, अजा की मींगन (सकृत), गाय का दान्त, शर, शलाका, जामुन की गुठली, लौह, मधु तथा गुड़ से अग्नि कर्म करें।	शरद् ऋतु को छोड़कर इसे अन्य सब ऋतुओं में करें। अश्मरी, भगन्दर, मुखरोग, मूढ़गर्भ तथा अर्श में यह कर्म खाली पेट करें तथा अन्य रोग होने पर अन्न खिलाकर अग्नि कर्म करें।	अग्नि कर्म से व्रण का निर्जीवाणुकरण तथा संकोच होता है। **अयोग्य** दुर्बल, कृश, पित्त-प्रकृति, भीरु, शल्ययुक्त तथा अनेक व्रणों वाले रोगी।
41. कृष्ण कर्म	विकृत या विषम व्रण के रोपण होने पर जब व्रण वस्तु श्वेत वर्ण (White scar) की हो जाती है तब कृष्ण कर्म किया जाता है।	एक किलो भिलावें को 7 दिन तक गो-मूत्र में तथा फिर 7 दिन गो दुग्ध में भिगोकर सुखालें। फिर उनके टुकड़े करके लौहपात्र में अधः पातन-विधि से तैल निकालें। इस तैल में गाय, भैंस, घोड़ादि के खुरों की भस्म, त्रिफला तथा कासीस	यह तैल या लेप लगाने से श्वेत व्रण-वस्तु कृष्ण वर्ण की हो जाती है।	भिलावे का तैल इतनी मात्रा में व तब तक लगाएँ जिससे कि फफोले (Blister) न पड़ सकें। इसे बार-बार लगाने से विचर्चिका (Wet eczema) जैसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में नारियल का तैल या Cortisone ointment

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		का पुष्प मिलाकर लेप करें।		का प्रयोग करें।
42. पाण्डु कर्म	जिन व्रणों का विकृत रोपण होने से व्रण वस्तु अत्यधिक काली हो जाये उनमें पाण्डु कर्म करें।	रोहिणी फल (हरीतकी) को 7 दिन गो दुग्ध में भिगोकर फिर उसके चूर्ण का लेप करें, या नई कपालिका चूर्ण, वेतस मूल, सालमूल, कासीस, मधु-यष्टि तथा मधु का लेप लगाएं।	इन औषधियों से बार-बार लेप करने से व्रण-वस्तु में कृष्ण वर्ण के स्थान पर पाण्डुता आ जाती है।	त्वचा के रंजक पदार्थ (Melanin pigment) त्वचा में अधिक सञ्चित होने से त्वचा काली हो जाती है जैसे कुछ त्वचा रोगों (Eczema) में होता है।
43. प्रतिसारण	पाण्डु कर्म में असफल होने पर प्रतिसारण कर्म करें।	कुक्कटाण्ड कपाल, निर्मली, मुलैठी, शुक्ति तथा मणि के चूर्णादि को गो मूत्र में पीस कर प्रतिसारण के लिये वटी बना लें।	इस वटी से व्रण का घर्षण करें।	इस कर्म से त्वचा की ऊपरी परत (Layer) उतर जाती है। इसके लिये किसी Keratolytic पदार्थ का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे गन्धक, द्रुति, सैलिस्लिक एसिड, शीशम का तेल इत्यादि।
44. रोम सञ्जनन्	व्रण-रोपण के पश्चात् यदि बाल न उत्पन्न हो तो रोम सञ्जनन् कर्म करें।	(i) हाथी दांत भस्म और रसौंत (ii) कासीस और करञ्ज पत्र के स्वरस का	व्रण-वस्तु पर इन द्रव्यों का बार-बार लेप करना चाहिये।	इनके लिये डल्हण ने हाथी दांत भस्म और रसौंत को सिद्ध प्रयोग बताया

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
				है।
		ले (ii) पशुओं के खुर की भस्म के तैल से लेप करें।		
45. लोमापहरण (Epilation)	हथेली या स्त्रियों के मुख तथा व्रण स्थानों की व्रण वस्तु में यदि बाल उत्पन्न हो जायें तो लोमापहरण कर्म करें।	(i) कर्तरी, संदंश, क्षुर (उस्तरा इत्यादि से बाल निकाल दें। (ii) शंख दो भाग हरिताल एक भाग को सिरके से पीसें। (iii) भल्लातक तैल और स्नुही क्षीर का लेप करें। (iv) छिपकली की पूंछ, केला, हरिताल और हिङ्गोठ के बीजों को जलाकर, तैल और जल मिलाकर सूर्य धूप में पकाकर रखलें, फिर इसे लगायें।	इनका प्रयोग बाल गिर जाने तक बार-बार करते रहें।	आजकल बाल उतारने के लिए Depel, Barium Sulphide का प्रयोग करते हैं। Deep X-ray से भी बाल गिर जाते हैं। Thalium acetate के खाने से शरीर के सब बाल गिर जाते हैं तथा इसके अनेक विषाक्त प्रभाव भी होते हैं।
46. वस्तिकर्म	वायु से दूषित व रुक्ष-व्रण,	निरुह :-मैनफल, कुशा, कूठ,	गुदा में स्निग्ध नेत्र प्रवेश	मात्रा :-24 पल=24×4

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
	नाभि के नीचे के व्रण, दारुण वात रोगी, गुल्म, आनाह, अश्मरी, रुक्ष तथा शुष्क रोगी में वस्ति कर्म करें।	बन्दाल, मधुयष्ठि, वच, दशमूल, देवदारू, सौंफ, मधु, जौं इत्यादि। मृतभेड़ की वस्ति के अभाव में चमगादड़ का चमड़ा, हरड़ या मोटा कपड़ा लेकर उससे वस्ति बनावें।	करके वस्ति द्वारा औषधद्रव भीतर डालकर रोगी के पैर थोड़ा ऊपर को तथा सिर नीचे को करके लेटा दें। वमन के 15 दिन पश्चात् पहले अनुवासन वस्ति दें तथा फिर निरुह वस्ति देनी चाहिये। अनुवासन वस्ति तीसरे व पाँचवें दिन देनी चाहिए।	कर्ष अयोग्य:-अतिस्निग्ध, अतिकृश, गुदापाक, छिद्रोदर, दकोदर, बद्धोदर, श्वास, कास तथा गर्भवती में (7 मास के पश्चात्) न दें।
47. उत्तर वस्ति	इसे मूत्राघात, मूत्र-दोष, शुक्रदोष, अश्मरी जन्य तथा अपत्यपथ के रोगों में दोष निवारणार्थ देते हैं।	इसमें भी उपरोक्त वस्ति-कर्म में बताएं द्रव्यों का प्रयोग करें। **वस्ति नेत्र** :-इसे पुरुषों में 12 अंगुल लम्बा, एवं छिद्र सरसों समान रखें तथा वस्तिपुट कोमल और छोटा बनाएं। **स्त्रियों** में :-इसकी लम्बाई 10 अंगुल रखें।	**पुरुषों** में रोगी को बैठाकर वस्ति नेत्र को मेहन में डालें तथा औषध द्रव को 2 कर्ष की मात्रा में दें। ऐसी तीन या चार वस्ति दें। **स्त्रियों** में ऋतुकाल में उत्तर वस्ति 1 पल की मात्रा में तीन-तीन दिन के अन्दर पर तीन बार देनी चाहिये।	उत्तर वस्ति यदि वापस न लौटे तो रोगी के मूत्र द्वार पर मुशक काफूर (कर्पूर) का चूर्ण रखें। इससे वस्ति द्रव वापिस आ जाता है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
48. बन्धन	व्रण को मृदु, शुद्ध तथा बिना बाधा के रोपण करने के लिए; मांस, त्वचा, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ, सिरा तथा स्नायु आश्रित व्रणों में; ओष्ठादि के सन्धान के पश्चात् तथा यदि व्रणित को सवारी करनी हो, इन अवस्थाओं में बन्धन बाँधें। **नोट**:-इसका विस्तृत वर्णन व्रण बन्धन अध्याय में देखें।	क्षौम; कार्पास वस्त्र, कोश्य (रेशम), चीनपट, अन्तर वल्कल, चर्म, अलाबूशकल, लता, विदल, रज्जू, सिम्बल एवं लौहादि धातु-पत्रों से बन्ध बनाएं।	बन्ध मृदु, सम तथा गाढ़ भेद से 3 प्रकार के होते हैं। तथा स्थान भेद से 14 प्रकार के होते हैं। यन्त्रणा (गांठ) 3 प्रकार से बांधी जाती है, जैसे उर्द्ध अधः, तथा तिर्यक्।	बन्धन को ऋतु के अनुसार ही बदलना चाहिये, जैसे हेमन्त ऋतु में एवं पैत्तिक व्रणों पर प्रतिदिन बदलें, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में एवं पित्तज या वातज व्रण होने पर दिन में दो बार बदलें तथा हेमन्त और बसन्त ऋतु एवं कफज व्रणों पर तीसरे दिन बन्धन को बदलें।
49. पत्रदान	स्थिर, अल्प मांस युक्त तथा रुक्षता के कारण न भरने वाले व्रण। पित्तज तथा रक्तज व्रणों में शीतलता के लिए, कफज तथा वातज में उष्णता लाने के लिए यह उपक्रम करें।	**वातज में**:-एरण्ड, भूर्ज, पूतिकरञ्ज व हरिद्रा के पत्र। **पित्तज में**:-अश्ववल, गम्भारी, क्षीरी वृक्ष तथा कमल के पत्र। **कफज में**—पाठा, मूर्वा तथा श्योनाक के पत्र।	व्रण दोषों के विपरीत गुण वाले पत्रों को व्रण पर रखना चाहिये। पत्र पुराना तथा कीट से खाया न हो, खुरदरा भी न हो, परन्तु कोमल हो।	पत्र रखने से औषध द्रव्य, द्रव तथा स्नेह बन्धन से बाहर नहीं आता तथा न ही औषधि सूखती है।
50. कृमिघ्न	तीव्र, शोफ, वेदना तथा रक्तस्राव वाले कृमियुक्त व्रणों में यह उपक्रम करें।	सुरसादि गण के क्वाथ से व्रण को धोना तथा पूरण करना चाहिए। सप्तपर्ण, करञ्ज, अर्क, नीम, एवं खिरनी की छाल को गोमूत्र में पीसकर लेप करें। क्षारोदक से परिषेक करें, या मांस पेशी से ढक दें।	कृमि नाशक द्रव्यों से कृमि नष्ट होते हैं तथा मांस पेशी के व्रण पर रखने से कृमि व्रण से बाहर आ जाते हैं।	पुरीषज, कफज तथा रक्तज कृमि बीस प्रकार के होते हैं। इन कृमियों का व्रण से क्या सम्बन्ध है इसका उल्लेख प्राप्य नहीं है।
51. वृहंण (सन्तर्पण)	जीर्ण व्याधि युक्त या कृश रोगी में, शुष्क व्रणों में, क्षीण, शोषी, क्षत क्षीण, वृद्धावस्था एवं मद्यपी में वृहंण कर्म करें।	जीवनीयगण (अष्टवर्गादि), काकोल्यादि गण (काकोली, श्वेत बला, विधारादि) ह्रस्व मात्रा में दें। स्नेह तथा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थूल, पिच्छल, श्लक्ष्ण तथा मन्द गुण युक्त द्रव्य जैसे:—मांस, दूध, चीनी अभ्यंग, निद्रा, शान्ति, आनन्द, स्निग्ध, उबटन।	वृहंण करते समय अग्नि की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् जठराग्नि मन्द नहीं होनी चाहिये।	वृहंण से शरीर में प्रोटीन तत्व तथा स्नेह की मात्रा बढ़ती है।
52. विषनाशन	विषज व्रण	हल्दी, मञ्जिष्ठा, रासना, अपामार्ग, सूक्ष्मएला, चन्दन,	विषज व्रणों में बन्धन नहीं बांधना चाहिए।	विषज व्रण कृच्छ्र साध्य होते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		निर्मली, शिरीष, निगुण्डी-पत्र, लसूड़ादि।		
53. शिरो-विरेचन	यह कण्डू तथा शोथ युक्त व्रण, गले के ऊपर के व्रण, गलग्रह, पूति-घ्राण, गल-शुण्डिका, उपजिह्विका एवं नाक, कान आंखादि के विकारों में देते हैं।	पिप्पली, बायविडङ्ग, अपामार्ग, शिग्रु, सरसों के बीज, कनेर की जड़, मरिच, बच, आक, लसुन की कन्द, गोमूत्र, हरिताल, मैनशिल, कङ्गनी, हरिताल, मैनशिल, अगर एवं तेजपत्र के धूम्र द्वारा शिरो विरेचन करें।	रोगी को चित्त लेटाकर, एक नासा को बन्द करके, कोष्ण द्रव को बूंद-बूंद कर दोनों नासा में बदल बदल कर डालें, फिर हाथ एवं पाँव को हिलावें, स्कन्ध तथा ग्रीवा का मर्दन करें एवं धीमे-2 श्वास लेने को कहें। कफ के मुख में आने पर थूकने को कहें।	पहले विरेचन नस्य दें। फिर स्नेहन नस्य के पश्चात् रोगी कुछ देर लेटाकर रखें, इसके पश्चात् धूम्रपान तथा कवल धारण कर मुख शुद्ध करें। नस्य 70 से 80 वर्ष के बीच की आयु वालों को दें।
54. नस्य	वाताधिक्य होने पर, पीड़ा तथा रूक्षता युक्त व्रणों में, शिरोवेदना तथा अर्दितादि ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में नस्य दें।	अणुतैल तथा उपरोक्त शिरोविरेचन द्रव्य, घृत, तैल तथा जांगल मांस रस से नस्य दें।	**विरेचन नस्य**—शिरः शूल, पीनस, गल रोग एवं ग्रन्थि, शोथ में दें। **बृंहण नस्य**—वातज शूल, स्वरक्षय, नासा शोष तथा सूर्यावर्त में दें। **शमन नस्य**—अक्षि रोग, व्यंग एवं नीलिका में दें।	**प्रधमन नस्य**—इसमें चूर्णों को नाड़ी द्वारा नासा रंध्रों में फूंकते हैं। **अयोग्य**—मद्यपी, गरविष, सूतिका में, कास, श्वास, भोजनोत्तर तथा वेग विधारण करने वाला रोगी नस्य के अयोग्य होता है।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
			अवपीड़न नस्य—इन औषधियों के पत्र के स्वरस से दें। **प्रतिमर्ष नस्य**—इसे सब काल में तथा सब अवस्था में दे सकते हैं।	
55. कवल-धारण	जिह्वा, दांत तथा मुख के मल और वेदना तथा दाह होने पर, मुख के व्रणों के शोधन तथा रोपण कर्म के लिए कवल धारण करें।	जायफल, लवंग, कस्तूरी, पान पत्र, एलाचूर्ण, कर्पूर, तैल, गण्डूष, स्नेह, दूध, मधु, मांस-रस, धान्य, मूत्र तथा काञ्जी। आगन्तुज व्रणों में घृत या दूध से दाह, प्यास तथा व्रण रोपण के लिए मधु का और दुर्गन्ध के लिये काञ्जी का प्रयोग करें।	**वायु में**—मधुर, अम्ल रस एवं नमक से सिद्ध स्नेह। **पित्त में**—तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त शमन द्रव्यों का कवल दें। **कफ में**—कटु, तिक्त, अम्ल, उष्ण तथा नमकादि शोधन द्रव्य (जैसे—मधु) का कवल दें।	रोगी को धूप रहित तथा वात रहित स्थान में बैठायें। कन्धे तथा ग्रीवा का मर्दन करके तथा स्वेदन देकर एवं मुख में कवल भरकर रखने को कहें, जब तक कि मुख कफ से न भर जाए तथा नाक व आंख से पानी न आने लगे।
56. धूम्रपान	कफ-वात जन्य शोथ, स्राव एवं पीड़ा युक्त व्रण तथा ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में धूम्रपान करना चाहिये।	**स्निग्ध धूम्रपान**—घृत, मोम, वसा, अगुरु, गुग्गुलु, मुस्ता, जटामांसी तथा खस।	इन द्रव्यों को दो शरावों (सकोरों) में सम्पुट करें। फिर उसमें नाड़ी लगाकर अग्नि पर रखकर धूम्रपान,	**अयोग्य**—विरेचन तथा वस्ति, के पश्चात् रक्तपित्त, विष शोक तथा संताप युक्त, गर्भवती, श्रम, मद, मूर्च्छा,

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
		शमन—मल्लकी, लाक्षा, एला, कमल, गूलर, कुष्ठ, तगरादि द्वारा। **तीक्ष्ण**—मालकांगनी, हल्दी, दशमूल, मैनशिल, हरताल, लाक्षा, त्रिफलादि का दोषानुसार प्रयोग करें।	करें या इन द्रव्यों से धूमनेत्र बनाकर इनका धूम्रपान करें। प्रायोगिक धूम्रपान दो बार करें, नैत्यिक एक बार तथा विरेचनीय धूम्रपान दिन में 3 से 4 बार करें।	भ्रम, तृषा, उरःक्षत, शिरोघात, मद्य, दूध एवं दही लेने के पश्चात् धूम्रपान न करें।
57. मधुसर्पि	सन्धान कर्म तथा सद्यव्रणों की ऊष्मा की रक्षा के लिए मधुसर्पि का प्रयोग करें।	**घृत** :—कफ, मेद तथा विष नाशक है। **मधु**—कफ, मेद, ग्रन्थि, त्रिदोष हर तथा लेखन करता है।	इससे व्रण शुष्क नहीं होता तथा यह व्रण शोफनाशक (Due to high osmotic effect) है। घृत मधु के लेखन गुण को कम करता है।	Honey is antinicotic and antibacterial. It is a good preservative. It acts as a bacterial barrier, when applied on wounds.
58. यन्त्र	गहरे व सूक्ष्म मुख वाले शल्य युक्त व्रणों के लिए यन्त्रों का प्रयोग होता है। **सूचना**—इसका विस्तृत वर्णन यन्त्र अध्याय में देखें।	हस्त प्रधान यन्त्र है क्योंकि इसके द्वारा ही सब कार्य होते हैं। यन्त्र 101 होते हैं जैसे:—स्वस्तिक=24, ताल =2, संदंश=2, नाड़ी =20, शलाका=28 तथा उपयन्त्र=25।	कङ्कमुख यन्त्र को प्रधान यन्त्र इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह गम्भीर व्रणों से शल्य निकालने में समर्थ होता है।	यन्त्र शरीर में से विभिन्न प्रकार के शल्य निकालने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

उपक्रम	विषय	द्रव्य	प्रयोग	विशेष कथन
59. आहार	आहार व्रण रोगियों को ठीक मात्रा में देना चाहिए।	मात्रा में लघु, गुण में लघु, स्निग्ध, उष्ण तथा अग्नि दीपन करने वाला आहार, जो द्रव बहुल हो जैसे:—चौलाई, जीवन्ती, बथुआ, परवल तथा करेलादि दें।	**निषेध** :—नवीन धान्य, तिल, उड़द, कुलत्थ, गुड़, उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, लवण तथा गुरु पदार्थ, शुष्क मांस तथा मद्य यह पूय वर्धक आहार हैं।	गुरु तथा पिच्छिल पदार्थों से व्रण में क्लेद अधिक हो जाने से व्रण का रोपण ठीक से नहीं होता। अत्यधिक उष्ण एवं तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से शरीर में व्रण रोपण तत्वों की कमी हो जाती है।
60. रक्षा विधान	व्रणों की राक्षसों (जीवाणुओं) से रक्षा करने के लिए यह उपक्रम बताया गया है।	रक्षा–धूम, जैसे—गुग्गुलु अगर, देवदारु, घृतादि तथा व्रण धूपन उपक्रम के द्रव्य। मन्त्रों से तथा यम नियम इत्यादि द्वारा व्रणित के व्रण की रक्षा करें।	इसे 'रोगी की सेवा' अध्याय में बताए गए उपक्रमों में देखें जैसे रोगी की शय्या, आसन, गृह तथा व्रत नियमादि का वर्णन। व्रणित को गुरु तथा देवताओं की उपासना करनी चाहिए।	रोगी को धूप, धूली तथा वायु से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

ACC NO. 3706

सीवन कर्म (Suturing)

सीवन विषय—

(i) मेद या मांस के फटने पर (ii) लेखन कर्म के पश्चात् (iii) चल सन्धि आश्रित सद्यःव्रणों में (vi) अपाकी ग्रन्थि में (v) व्रण के मांस, कुक्षि, उदरादि गम्भीर धातुओं में स्थित होने पर (vi) मांस छेदन के पश्चात् (vii) एवं विस्तृत व्रणों में सीवन कर्म करना चाहिए।

सीवन द्रव्य—

बारीक धागा, अश्यन्तक की वल्कल, सन, रेशम, स्नायु, बाल, मूर्वादि तथा सूची।

सूची भेद :—सूची तीन प्रकार की होती है।

(i) दो अङ्गुल लम्बी वृत्त (वृत्ताङ्गुलद्वयम्) (Round body needle)—इसका अग्र भाग कपड़ा सिलाई करने वाली सुई के समान गोल होता है, इस कारण यह ऊतियों में अति अल्प आघात उत्पन्न करती है। इसका प्रयोग अल्प मांसल स्थानों में (मर्म, सिरादि) तथा सन्धियों एवं मृदु धातुओं (Soft structures) में करना चाहिए।

(ii) तीन अङ्गुल लम्बी त्रयस्रा (त्रयङ्गुला त्रयस्रा) (Triangular needle)—इसका अग्र भाग त्रिकोणाकार अर्थात् तीन धाराओं से युक्त होता है। इस कारण यह कठिन धातुओं को भी आसानी से वेध कर देती है। धातुओं में अधिक आघात उत्पन्न करने के कारण इसका प्रयोग मर्म तथा कोमल धातुओं (Soft tissue) में नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग केवल मांसल भाग, कण्डरा तथा त्वचादि कठिन स्थानों पर ही करना चाहिए।

(iii) वक्र अर्थात् धनुर्वक्र (Curved needle, half curved or full curved)—यह वक्र सूची त्रयस्रा भी हो सकती है तथा वृत्ता भी (Round body curved and Triangular curved needle)। इसका प्रयोग मर्म, फलकोष एवं उदरादि में होता है। गम्भीर तथा गोल स्थानों में धातुओं की कोमलता तथा कठिनता के अनुसार वृत-वक्र सूची या त्रयस्रा-वक्र सूची का प्रयोग करना चाहिए।

अल्पाघाती सूची (Atraumatic needle):—आजकल इस सूची का प्रयोग रक्त वाहिनियों के सीवन कर्म के लिये किया जाता है। यह वृत्ता की तरह गोल अग्रभाग वाली तथा नेत्र रहित सूची होती है। धागे को इसके पीछे के भाग में इसके निर्माण के समय ही लगा दिया जाता है। यह निर्जीवाणु कृत नलिकाओं (Sterilized tubes) में बन्द रखी जाती है।

सूची प्रयोग—

सूची कर्म करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि सीवन अति दूर-दूर नहीं

होने चाहिए। इससे व्रण में शोथ तथा पीड़ा होती है (As it does not approximate the edges properly)। सीवन अति समीप (पास-पास) भी नहीं करना चाहिए इससे व्रण के किनारे फट जाते हैं (It cuts through the wound edges) **नातिदूरे निकृष्टे वा सूची कर्मणि पातयेत। दूराद् रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवसादनम्॥ सु० सू० 25,** इसीलिए हाराण चन्द्र जी ने सीवन कर्म में तीन शलाकाओं को प्रयोग में लाने के लिए कहा है।

पहले व्रण में से धूली, नख, बाल, टूटी हुई अस्थि इत्यादि व्रण दोषकर पदार्थों को निकालकर अच्छी तरह प्रक्षालन करके शुद्ध कर लेना चाहिए। फिर शुद्ध किए व्रण को ऊंचा उठाकर यथास्थान में स्थिर करने (Approximation) के पश्चात् सूची द्वारा उपयुक्त सूत्र से सीवन कर्म करें।

सुश्रुतमतानुसार सीवन कर्म :—

सीव्येद् गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम्।
ऋजु ग्रन्थिमथो वाऽपि यथा योगमथापि वा॥ सु० सू० 25

सीवन कर्म 4 प्रकार का होता है यथा—वेल्लित, गोफणिका, तुन्नसेवनी एवं ऋजु ग्रन्थि।

(क) वेल्लितक (Continuous) **सीवन :—**इसमें लता की तरह लगातार बाहर से अन्दर की ओर सीवन किया जाता है। जब शल्य कर्म शीघ्रता से समाप्त करना हो तब इस सीवन विधि का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इस सीवन प्रकार में एक स्थान से धागा टूट जाने पर पूरा व्रण खुल जाता है।

(ख) गोफणिका सीवन (Blanket suture)—इसमें वेल्लितक की तरह लगातार सीवन किया जाता है परन्तु हर बार सूची को पहले वाले धागे के Loop के नीचे से निकालकर फिर आगे के स्थान की सिलाई की जाती है। इसमें यदि धागा टूट भी जाए तो पूरा व्रण नहीं खुल सकता।

(ग) तुन्नसेवनी सीवन (Mattress or lambert sutures)—इस सीवन कर्म में व्रण की इस ढंग से सिलाई की जाती है जिससे कि एक ओर की व्रण की गहराई का भाग तथा ऊपर की त्वचा का भाग (यह दोनों भाग) दूसरी ओर से अच्छी तरह से मिले रहें। इसमें पहले व्रण के गम्भीर भाग की सिलाई करके उसे जोड़ा जाता है, फिर उसी धागे से उत्तान भाग के किनारे को जोड़कर गांठ लगा दी जाती है। मैट्रस सीवन में दो बार सीवन कर्म करने के पश्चात् गांठ बांधी जाती है। सीवन सूत्र का बाह्य भाग व्रण वर्त्म के साथ समानान्तर (Parallel) चलता है तथा व्रण के किनारे के ऊपर से Cross नहीं करता, परन्तु सीवन सूत्र का भीतरी भाग व्रण के एक ओर से दूसरी ओर Cross कर जाता है। इस सीवन कर्म से व्रणोष्ठों पर दाब नहीं पड़ सकता तथा इनके फटने (Cut through) का भी भय नहीं रहता। इस विधि से पर्युदर्याकला (Peritonium) का या ढीली त्वचा के भागों का सीवन किया जाता है।

सीवन प्रकार

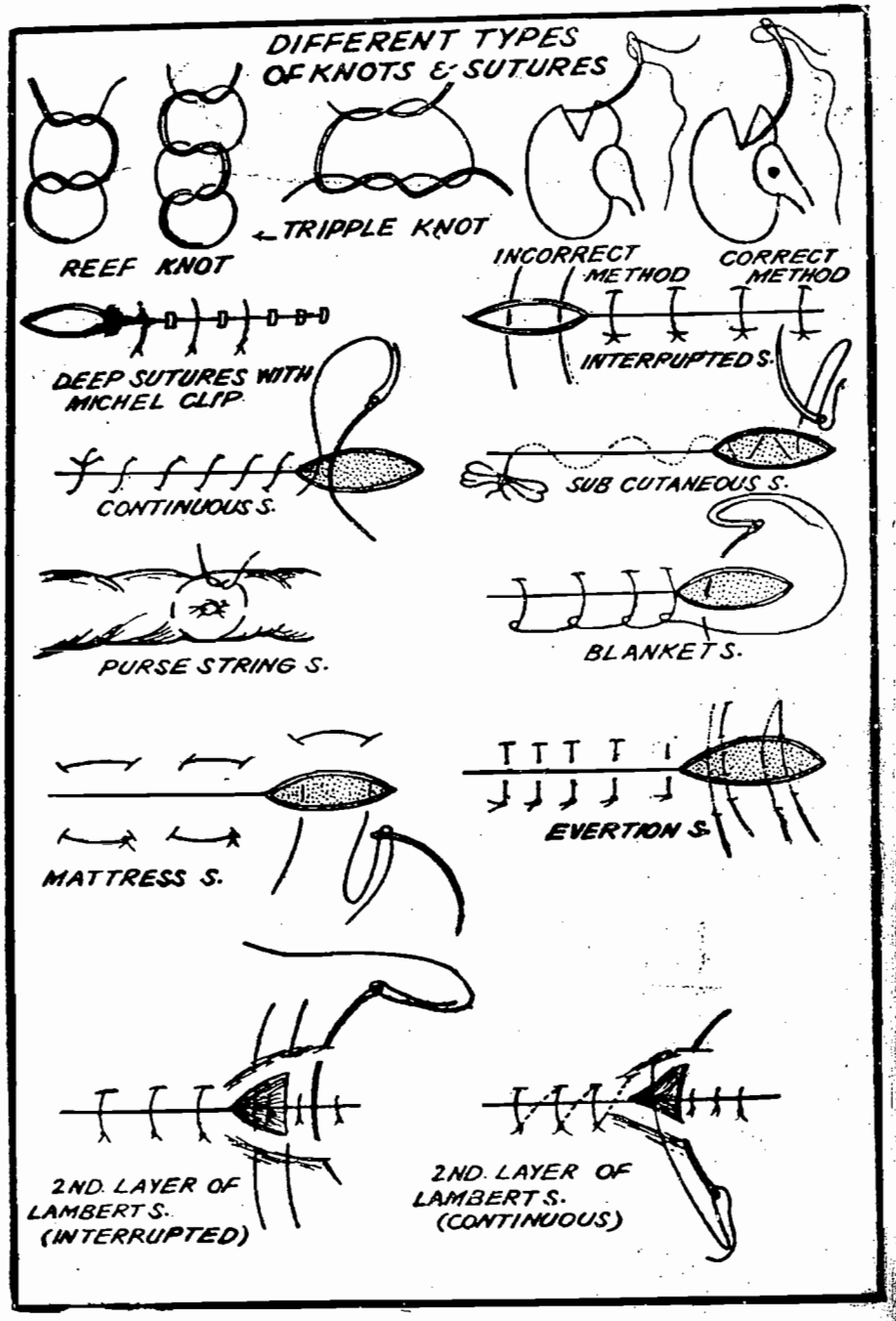

प्लेट नं० 1

(घ) **ऋजुग्रन्थि सीवन** (Interrpted suture)—इसमें प्रत्येक सीवन कर्म के पश्चात् गांठ बांध दी जाती है। इससे व्रणोष्ठ अच्छी प्रकार से मिल जाते हैं, परन्तु इस सीवन कर्म में देर अधिक लगती है।

सूत्र का चयन—

त्वचा के लिये कोमल तथा अशोषी (Smooth and non absorbent) सूत्र का प्रयोग करना चाहिए जैसे सिल्क-वर्म-गट (Silk wormgut), नाइलोन (Nylon), पैरालोन (Paralon) इत्यादि (Glazed threads), ये-सूत्र व्रण-स्राव से गीले नहीं होते तथा संक्रमण को भी फैलने नहीं देते।

व्रण चिन्ह अल्प मात्रा में बने इसके लिए (To obtain a fine scar) स्टेरी स्ट्रिप (Steri strip), मिक्ल-क्लिपस (Michel clips) या अधः त्वचा गत सीवन (Sub-cuticular stiches) कर्म का प्रयोग करना चाहिए।

त्वचा की भीतर की धातुओं (Internal structures) में जहाँ सूत्र (Stiches) पर अधिक बल न पड़ता हो उस स्थान का तथा पूयादि से दुष्ट स्थान का सीवन कर्म करने के लिये Cat gut अर्थात् शोषित होने वाले सूत्र का प्रयोग करना चाहिये। फेशिआ (Fascia) या कगरु टैन्डन का भी प्रयोग किया जा सकता है। सिराओं के लिए काले रेशम (Black silk) का प्रयोग किया जाता है। गोल तथा छोटे व्रणों में जहाँ से स्राव को बन्द करना हो वहाँ पर्स-स्ट्रिंग सीवन (Purse string suture) का प्रयोग करना चाहिये। अस्थि के लिये, या दृढ़ सीवन कर्म के लिये लोहे के तार (Stain less steel wire) का प्रयोग करना चाहिये।

NOTE—Catgut plain absorbs in 3 to 5 days. Cat gut chromic absorbs in 10 to 40 days. Kangroo tendon absorbs in one month. Fascia or aponeurosis absorbs only on being infected, otherwise it is nurished by the lymph and remains there as such The size of cat gut start from 6/0 (thinest) up to the size 4 (thickest). Cotton thread starts from size 80 i. e., thinest to size one (1) i. e., thickest.

Nylon is a slippery chemical product, silk worm gut becomes hard on repeated boiling, cotton and silk thread harbours infection. Reef knot and surgeon's knot do not get loose. While stiching the skin the deep tissues should also be taken in to the needle bite in order to avoid deep pockets.

विशेष—

वाग्भट्ट ने वंक्षण, कक्षा तथा निःशोणित (Blood less) व्रणों के ओष्ठों को लेखन कर्म करने तथा रुधिर आने पर ही उनमें सीवन कर्म करने को कहा है, क्योंकि

निर्लोहित (without bleeding) तथा अति लोहित (excessive bleeding) व्रण का उचित रूप से रोपण नहीं होता ।

(A wound without bleeding or with excessive bleeding does not unite even after stiching.)

संधान कर्म

संधान कर्म का अर्थ होता है जोड़ना या उत्पन्न विकृति को सामान्यावस्था में लाना (**अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृतास्त्वये यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च ॥ (सुश्रुत चि० 1)**

सुश्रुत ने यहाँ पर विस्तृत व्रण को सीवन करके संधान या जोड़ने को कहा है।

सुश्रुत ने रक्तस्राव बन्द करने की चार विधियां (संधान, स्कन्दन, पाचन, दहन) बताते हुये कहा है कि कषाय रस से संधान होता है। कषाय रस संकोचक (Astringent) होने से कटी हुई रक्त वाहिनियों को संकुचित कर उसके आघातज व्रण को जोड़ने में या सूक्ष्म बनाने में सहायक होता है।

कटे हुए ओष्ठ, कर्ण तथा नासिका के विरोहण (Repair) को एवं त्वचा-प्रत्यारोपण द्वारा विरोहण (Repair by transplantation) को भी संधान कर्म कहा गया है।

व्रण रोपण करने वाले अन्य द्रव्यों को भी सुश्रुत ने संधानीय वर्ग में रखा है। जैसे मुलैठी, पाठा, लोध्र, प्रियंगु इत्यादि।

उपरोक्त वर्णन से पता चलता है कि संधान का अर्थ व्रणादि की विकृतियों को ठीक करना है अर्थात् व्रण को विरोहण (Repair) करना है, (संधान व्रणोष्ठादि संयोजनम्, डल्हण) चाहे यह कर्म सीवन से हो या प्रत्यारोपण से हो। संधान कर्म का वर्णन पुस्तक में विषयानुसार विभिन्न स्थानों पर किया गया है।

सीवन कर्म करने के पश्चात् प्रियंगु, रसाञ्जन, मुलैठी इत्यादि का व्रण के ऊपर चूर्ण लगाकर उसे क्षोम या वस्त्र पट्टादि से (Bandage) बांध दें। आजकल निर्जीवाण करण विधि (Aseptic technique) से सीवन कर्म करने के पश्चात् निर्जीवाणुकृत (Sterilised gauze piece) तथा कवलिका (Cotton pad) से व्रण को ढक्कर पट्टी बांध देते हैं, या चिपकने वाली पट्टी (Adhesive plaster) से पूरे स्थान को ढक देते हैं। 5 से 9 दिन पश्चात् व्रणोष्ठ मिल जाने पर (after healing) सीवन सूत्र को (सूत्र के टुकड़ों को) काटकर निकाल देना चाहिये। Cat gut 5-9 दिन में ऊतियों के अन्दर शोषित हो जाता है।

अयोग्य—

क्षार, अग्नि या विषों से दूषित व्रण और मारुत वाही तथा शल्ययुक्त व्रणों में सीवन कर्म नहीं करना चाहिए।

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिनः।
नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विशोधनम् ॥ सु० सू० 25

खण्ड (ख)

8
व्रण

(WOUNDS AND ULCERS)

निरूक्ति :

व्रण शब्द **"वृण या वृ—वृणोति, वृणुते"** धातु से बनता है। इसका अर्थ होता है भक्षण करना (To Consume), फैलना तथा चयन करना (To choose), और **"वृत, वारयत––छादयत, अच्छादयत"** का अर्थ होता है ढक लेना (To conceal), इससे भी व्रण का ही अर्थ निकलता है।

व्याख्या :

सुश्रुत ने व्रण को "व्रण-गात्र विचूर्णनि" कहा है। इसका अर्थ होता है, शरीर का विचूर्णित होना अर्थात ऊतिनाश (Tissue destruction) होना।

डल्हण ने व्रण को धातु नाश तथा विवर्णता (Discolouration) करने वाला और धातुओं को आच्छादित करने वाला कहा है।

"व्रणयति, गात्रं विवर्णयति, आच्छादयति इति व्रणः।"

सुश्रुत ने व्रण को एक ऐसी क्रिया माना है जो कि शरीर की धातुओं का भक्षण करती है, तथा इसके रोपण होने के पश्चात् व्रणवस्तु (Scar) नामक चिन्ह शेष रह जाता है जो कि आजीवन भर शैसा ही निशान बना रहता है।

"वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः॥" (सु० सू० 21)

आधुनिक मतानुसार व्रण को शारीर या क्रिया-शारीर (Anatomy or Physiology) की दृष्टि से ऊतीय क्रम का विच्छेद (Tissue discontinuity) कह सकते हैं।

व्रण का सारांश :

"षण्मूलो ऽष्टपरिग्रहः पञ्च लक्षण लक्षितः॥
षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः॥" (सु० चि० 1)

व्रण के 6 मूल (वात्, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात, आगन्तुज) होते हैं, आठ परिग्रह अर्थात् अधिष्ठान (त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ, मर्म) होते हैं, इसे 5 लक्षणों से जाना जाता है (वात, पित्त, कफ, सन्निपात, आगन्तुज)

यह 60 उपक्रमों द्वारा तथा 4 पाद (वैद्य, परिचारक, रोगी, औषध) द्वारा ठीक किया जाता है।

व्रण परीक्षा

व्रण की परीक्षा (examination) करने की तीन विधियाँ हैं।

(1) दर्शन। (2) स्पर्शन। (3) प्रश्न।

(1) दर्शन :

चक्षु इन्द्रिय (Eyes) द्वारा शरीर की वय (बाल्यकालादि अवस्थायें), वर्ण (व्रण के विविध रंग) तथा इन्द्रियों की परीक्षा की जाती है, इसे दर्शन परीक्षा कहते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक मतानुसार इसमें अनेक अन्य परीक्षाओं का भी समावेश होता है। जैसे—

(i) **संख्या**—सामान्य व्रण एक ही होता है।

(ii) **आकृति** (Shape)—विस्तार (Size) एवं आकार (Shape), जैसाकि क्षयज व्रण अण्डाकार होते हैं, रोडेन्ट व्रण (Rodent ulcer) उठे हुए होते हैं, कैंसर का व्रण विषम होता है इत्यादि व्रणों की अनेक आकृतियां होती हैं।

(iii) **धरातल** (Floor)—जैसे रोहाणु युक्त (Granular) या पूय मुक्त (Sloughed) व्रण इत्यादि।

(iv) **वर्त्म** (Edges)—उठे हुए वर्त्म रोडेन्ट व्रण (Rodent) ulcer में, कटे हुए वर्त्म (Punched out) फिरंगज व्रण में, गोभी के फूल के समान वर्त्म (Cauliflower like) कैन्सर के व्रण में इत्यादि को देखकर भी व्रण की परीक्षा करें।

(v) **स्थिति** (Position)—दुष्ट व्रण, सिरा विस्फारज व्रण (Varicose ulcer) प्राय: टांगों पर बाहर या सामने की ओर स्थित होते हैं। रोडेन्ट व्रण मुख के ऊपरी भाग में पाया जाता है। क्षयजन्य व्रण अधिकतर ग्रीवा में होते हैं इत्यादि व्रणों की अनेक स्थितियाँ होती हैं।

(vi) **व्रण का पृष्ठ**—व्रण का सारा पृष्ठ स्वस्थ रोहणांकुरों (Granulation tissue) से ढका है या वह पूतिवस्तु (Slough) से युक्त है। प्रथम अवस्था में सारा पृष्ठ गन्दा होता है। दूसरी अवस्था में कुछ भाग स्वच्छ तथा रोहणांकुर युक्त हो जायेगा। कहीं-कहीं पूतिवस्तु भी रहेगी। तीसरी अवस्था में सारा पृष्ठ रोहणांकुरों से ढक जाता है।

(2) स्पर्शन परीक्षा—

व्रण के विषय में कुछ जानकारियाँ स्पर्श ज्ञान से भी की जाती हैं, जैसे—

व्रण की मृदुता, कठोरता, शीतलता, उष्णता, स्पर्शसह्यता (Tenderness), व्रण वर्त्म की कठिनता या मृदुता इत्यादि।

(3) प्रश्न परीक्षा—

व्रण सम्बन्धी अनेक विषयों का ज्ञात प्रश्नों द्वारा किया जाता है।

जैसे—व्रण के हेतु, लक्षणों से दोषों के अनुबन्ध का ज्ञान, वेदनायें, सात्म्य (अनुकूल आहार विहार), अग्नि (मन्द व तीक्ष्णादि अग्नि से मृदु या क्रूर कोष्ठ का ज्ञात), रोगी का बल (इस पर औषध की मात्रा निर्भर करती है) इत्यादि की प्रश्न द्वारा परीक्षा करें।

प्रारम्भ (Onset)—जैसा कि तीव्र व्रण शीघ्र उत्पन्न होता है तथा जीर्ण व्रण देर से होते हैं इत्यादि की जानकारी प्रश्न परीक्षा द्वारा होती है।

अवधि (Duration)—व्रण उत्पन्न होने की अवधि का ज्ञान भी प्रश्न द्वारा प्राप्त करते हैं, जैसे उष्णवातज व्रण 1-3 दिन में तथा फिरंगज व्रण 3-4 सप्ताह में बनते हैं।

इतिवृत्त (History)—व्रण आघात से हुआ है या पहले उत्सेध हुआ फिर व्रण बना है (क्षयज व्रणों में) इत्यादि व्रण का वृत्त पूछकर (प्रश्न द्वारा) ही पता लगाना चाहिये।

उपरोक्त तीनों परीक्षाओं से व्रण के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान होने से रोगी के लिए औषधि की मात्रा तथा रोग की साध्य-असाध्यता का पता चलता है।

व्रण की स्थानीय परीक्षा—आयुर्वेद में व्रण की परीक्षा करने के लिये 5 परीक्षाओं पर अधिक बल दिया गया है। इन परीक्षाओं से व्रण में दोष निर्णय में तथा इसकी चिकित्सा करने में आसानी हो जाती है। व्रण की परीक्षा निम्न विधि से करनी चाहिए।

(1) आकृति, (2) गन्ध, (3) स्राव, (4) वर्ण (5) वेदना।

(1) आकृति :

(क) साध्य व्रण की आकृतियां :—आयत (दीर्घ), चतुस्र (चौकोर), वृत्त (गोल) एवं त्रिपुट (त्रिकोनाकार)।

(ख) कृच्छ्र साध्य व्रण की आकृतियां :—उपरोक्त आकृतियों से भिन्न जैसे—वक्र, अर्धचन्द्राकार, स्वस्तिकाकार, माला के समान, भाले के समान, ध्वज, घोड़ा, बैल, हाथी तथा रथ के समान इत्यादि कृच्छ्र साध्य व्रण की आकृतियाँ होती हैं।

आधुनिक मतानुसार :—कृच्छ्र साध्य व्रणों की आकृतियाँ निम्न हैं।

(i) मन्दरोही (Rodent ulcer) व्रण उत्सेधयुक्त (Raised) होता है।

(ii) क्षयज व्रण (Tubercular ulcer) अण्डाकार (oval) होते हैं।

(iii) अपस्फोत व्रण (Vericose ulcer) उर्ध्व दिशा में अण्डाकार (Vertically oval) होता है।

(iv) उष्ण कटिबन्धी व्रण (Tropical ulcer) पंच के समान कटा रहता है (Punched out)।

(v) कैन्सर (Cancer) का व्रण विषम (Irregular) होता है।

(2) गन्ध—

(क) चरक ने दोषजव्रणों की निम्न 8 प्रकार की गन्ध बताई है।

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावामल पूतिकः।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः॥ च० चि० 25
कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिषु।
लोहगन्धितु रक्तेन स्यामिश्रः सान्निपातिकः॥
लाजातसीतैलसमाः किंचिद्विस्राश्च गन्धतः।
ज्ञेयाः प्रकृतिगन्धा स्युरतोऽन्यद् गन्धवैकृतम्॥ सु० सू० 26

(1) घृत समान (2) तैल समान (3) वसा समान (4) पूय समान (5) श्याव गन्ध (धूम्र गन्ध) (6) अम्ल गन्ध (7) रुधिर समान (8) पूति गन्ध।

(ख) दोषों के अनुसार गन्ध—(1) वायु में कटु (2) पित्त में तीक्ष्ण (3) कफ में विस्र (4) सन्निपात में कटु, तीक्ष्ण, विस्र एवं रुधिर की मिश्रित गन्ध (5) वात पित्त में लाजा की गन्ध (6) वात कफ में अलसी तैल समान गन्ध (7) एवं पित्त कफ में थोड़ी विस्र (आम) गन्ध होती है।

(ग) अरिष्ट सूचक गन्ध—व्रण की प्राकृतिक (दोषज) गन्ध के अतिरिक्त अन्य गन्ध अरिष्ट सूचक होती हैं, जैसे—मद्य, अगुरू, घृत, जाती, कमल, चन्दन चम्पा तथा दिव्य गन्ध (जैसे Acetone) से फलों के समान [illegible] आती है) इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुत्ता, कौवा, चूहा, घोड़ा, सड़ा मांस, खटमल तथा कीचड़ के समान गन्ध भी अरिष्ट सूचक होती है।

(3) स्राव :—

(क) चरक ने निम्न 14 प्रकार के व्रण स्राव बताए हैं।

(1) लसिका स्राव (2) जल स्राव (3) पूय स्राव (4) रक्त स्राव (5) हरिद्रा सदृश स्राव (6) अरुण वर्ण का स्राव (7) पिंगल वर्ण का स्राव (8) कषाय (गेरुआ) स्राव (8) नीला स्राव (10) हरा स्राव (11) स्निग्ध स्राव (12) रूक्ष स्राव (13) श्वेत स्राव (14) असित (कृष्ण) स्राव।

(ग) दोषानुसार व्रण स्राव—

(i) **वातज व्रण** :—इसमें व्रण स्राव काला, ओस, दधि मस्तु, क्षारोदक, मांस धोवन या पुलकोदक के समान होता है।

(ii) **पित्तज व्रण** :—इसमें व्रण स्राव गोमेद, गोमूत्र, शंख भस्म, क्षारोदक या महुए के तैल के समान होता है।

(iii) **कफज व्रण** इसमें व्रण स्राव मक्खन, मज्जा, तिल पिष्ट, कासीस, नारियल जल या सूअर की वसा के समान होता है।

(iv) **सन्निपातज व्रण**—इन व्रणों में व्रणस्राव नारियल जल के [illegible]

ककड़ी रस के समान, कांजी के स्वच्छ जल के समान, आटरूष फल के समान, प्रियंगु फल के समान, यकृत के समान या मूंग के यूष के समान होता है।

(ग) **आघातज व्रणों के स्राव (स्थानानुसार)**—

(i) **त्वचा में** :—पतला, पीला, आमगन्ध युक्त स्राव।

(ii) **मांस में** :—घृत के समान, सान्द्र, श्वेत तथा पिच्छिल स्राव।

(iii) **सिरा में** :—रक्त स्राव, (पतला, पिच्छिल तथा थोड़े काले वर्ण का)।

(iv) **स्नायु में** :—स्निग्ध, घन, नासिका मल समान तथा रक्त मिश्रित स्राव।

(v) **अस्थि में**—मज्जा मिश्रित तथा स्निग्ध स्राव।

(vi) **सन्धि में** :—पिच्छिल, अवलम्बि, झागदार रक्त मिश्रित एवं मथितपूय समान स्राव।

(vii) **कोष्ठ में**—स्थानानुसार रक्त, मूत्र, मल, पूय या जल के समान तथा क्लेदयुक्त स्राव होता है।

(4) वर्ण

(क) **दोषों के अनुसार**—

(i) वातज :—यह व्रण भस्म के समान, कबूतर की अस्थि के समान, कठोर, लाल एवं काले वर्ण का होता है।

(ii)+(iii) **पित्तज एवं रक्तज**—यह व्रण नीला, पीला, हरा, काला, श्याव, लाल, कपिल या पिंगल (धूसर) वर्ण का होता है।

(iv) **कफज** :—कफज व्रण, श्वेत, स्निग्ध तथा पाण्डु वर्ण का होता है।

(v) **सन्निपातज**—इसमें सब दोषों के मिश्रित रंग होते हैं।

(ख) **व्रणों के अनुसार वर्ण**

आधुनिक मतानुसार—

(i) जीर्ण व्रण में फीका पीला वर्ण (pale) रहता है।

(ii) रोहित व्रण (Healing ulcer) रक्त तथा नीलाभ (Red and bluish) वर्ण का होता है।

(iii) तीव्र व्रण :—(Acute ulcer) इस व्रण का वर्ण रक्त वर्ण (Red colour) का होता है।

(iv) एक्टिनो माईकोसिस (Actino mycosis) में पीत (Yellow) वर्ण रहता है।

(v) गलित व्रण (Sloughed ulcer) का पूति समान (Pus like) वर्ण होता है।

(5) वेदना—दोषों के अनुसार वेदनाएं :—

(i) वातिक व्रण में :—तोद (सूई चुभने समान), भेदनवत्, ताड़नवत्, आयमन (खिचावट), मन्थन, फैंकने समान (विक्षेपण), चुमचुमायन, निर्वापन, अवभञ्जन (टूटने के समान), स्फोटन (फूटने के समान), विदारण, कम्पन, विविध वेदनाएं, विश्लेषनवत्, पूर्ण, स्तम्भन, स्वपन (सुप्ति), आकुञ्चन इत्यादि अनेक प्रकार की वेदनाएं होती हैं।

(ii) पैत्तिक व्रण में :—ओष, चोष, दाह, धूमायन, जलन, उष्णता तथा क्षार लगने के समान प्रतीति होती हैं।

(iii) कफज व्रण में :—कण्डू, भारीपन, सुप्तता, थोड़ी वेदना, जड़ता स्तम्भादि वेदनाएं होती हैं।

(v) सन्निपातज व्रण में :—सब प्रकार की वेदनाएं मिश्रित रूप से रहती हैं।

व्रण अधिष्ठान

व्रण के 8 अधिष्ठान (Seats) होते हैं (व्रण 8 स्थानों पर ही उत्पन्न होते हैं), जैसे—(i) त्वचा (ii) मांस (iii) सिरा (iv) स्नायु (v) अस्थि (vi) सन्धि (vii) कोष्ठ (viii) मर्म। चरक ने भी व्रण के 8 अधिष्ठान माने हैं परन्तु उसने सन्धि को अधिष्ठान न मानकर मेद को अधिष्ठान माना है।

व्रण की व्याख्या में बताए "...**वृणोति यस्माद्व्रूढेऽपि व्रण वस्तु न नश्यति आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैं।** सु० सू० 21" के अनुसार व्रणवस्तु को व्रण चिन्ह (Scar Tissue) ही मानना चाहिए जो कि आजीवन भर शरीर पर बना रहता है। परन्तु डल्हण के अनुसार "**व्रणवस्तूनि व्रणाधिष्ठानानि**" अर्थात् व्रणवस्तु व्रण के अधिष्ठान होते हैं। इसलिए सन्दर्भ (Reference) के अनुसार ही व्रणवस्तु से व्रण अधिष्ठान या व्रण चिन्ह मानना चाहिए।

व्रण के भेद

व्रण दो प्रकार के होते हैं।

(1) निज व्रण (Ulcer) अर्थात् दोषज व्रण।

(2) आगन्तुज व्रण (Traumatic wound) अर्थात् सद्यःव्रण।

(1) निज व्रणः—

"निजः शरीर दोषोत्थ :"

अर्थात् निज व्रण शरीर में दोषों से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इन्हें दोषज व्रण या दुष्ट-व्रण भी कहते हैं।

दोषों से दुष्ट होने के कारण इसे दुष्ट-व्रण कहते हैं। यह 'दुष्टः त्रिधातु' से बनता है।

"दुष्यति + दुष + कर्तरिक्त" यहां दुष्ट का अभिप्राय दुर्बल या अधम (Unhealthy or degraded) माना गया है। आधुनिक मतानुसार व्रण (ulcer) को ऊतियों का क्रम विच्छेद (Discontinuity of tissues) कहते हैं। इसमें व्रण शोथ (Inflammation) भी साथ में रहता है।

(2) आगन्तुज व्रण—

"आगन्तुर्बाह्यहेतुजः" अर्थात् आगन्तुज व्रण किसी बाह्य कारण से उत्पन्न होते हैं, जैसे शस्त्रगत, हिंसक पशुओं के काटने इत्यादि से। इसकी चिकित्सा मन्त्र द्वारा या लेपों द्वारा की जाती है। आगन्तुज व्रणों में 7 दिन बाद दोषों का अनुबन्ध हो जाता है, जिससे यह व्रण दोषज व्रण बन जाते हैं। इसी कारण 7 दिन पश्चात् इनकी चिकित्सा निज व्रणों की भांति करनी चाहिये (डल्हण)।

निज और आगन्तुज व्रणों के अतिरिक्त पोषणावस्था के अनुसार व्रण तीन प्रकार के होते हैं।

(i) शुद्ध व्रण (ii) रुह्यमान व्रण (iii) सम्यक् रूढ़ व्रण।

(1) शुद्ध व्रण—

"जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः।
सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्ध व्रण इति॥" सु० चि० 1

जो व्रण जिह्वा के तल के समान (रोहणांकुर युक्त) कोमल, स्निग्ध, चिकना, वेदना रहित, स्थिर तथा बिना स्राव के होता है, उसे शुद्ध व्रण कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो व्रण वेदना तथा स्राव रहित, रोहणांकुरयुक्त तथा श्यावओष्ठवाला व्रण होता है, वह शुद्ध व्रण कहलाता है (अर्थात् जो तीनों दोषों से रहित हो)।

त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्त श्यावौष्ठः पिडकासमः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते॥ सु० सू० 23
नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरूक्।
न चोत्सन्नो न चोत्संगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः॥ च० चि० 25

(ii) रूह्यमान व्रणः

"कपोतवर्णप्रतिमः यस्यान्तः क्लेदवर्जिता।
स्थिराश्चपिटिकाबन्तो रोहतीति तमादिशेत्॥ सु० सू० 23

अर्थात् कबूतर के समान वर्ण (धूसर वर्ण वाला), क्लेदरहित, स्थिर तथा

पिड़कायुक्त (रोहणांकुर युक्त) व्रण को ठीक हो रहा व्रण समझें ।

(iii) **सम्यक रूढ़ व्रण:—**

"रूढ़वर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ।। " सु० सू० 23

जिस व्रण के किनारे भर जाएं, किसी भी प्रकार की ग्रन्थि, शोथ तथा वेदना इत्यादि न हो, व्रण स्थान त्वचा के समान वर्ण का तथा समतल हो जाए, उस व्रण को सम्यक् प्रकार से रोपित हुआ व्रण मानना चाहिए ।

निज व्रण (दोषज व्रण)

जिन व्रणों में पहले से ही वातादि दोषों का अनुबन्ध रहता है उन्हें निज व्रण कहते हैं ।

हेतु :

(1) **दोषज व्याधियाँ**—मिथ्या आहार विहार से प्रकुपित दोषों से तथा संक्रामक व्याधियों से अनेक प्रकर के निज व्रण उत्पन्न होते हैं, जैसे—क्षय रोग में क्षयज व्रण (Tubercular ulcer), फिरंग रोग में फिरंगज व्रण (Syphilitic ulcer or hard chancre),उष्णवात में उष्णवातज व्रण (Gonorrhoeal ulcer or soft chancre), कुष्ट में कुष्टज वर्ण (Leprotic ulcer) तथा ऐसे ही घातक व्रण (Malignant ulcer) एवं अपस्फीत व्रण (Varicose ulcer) इत्यादि हैं ।

(1) **आगन्तुज दुष्ट व्रण**—आगन्तुज या सद्यः व्रण जो प्रायः शुद्ध होते हैं, निम्न कारणों से दोषज व्रणों में परिवर्तित हो जाते हैं ।

(i) शल्य (Foreign bodies)
(ii) अनुपयुक्त (Improper) चिकित्सा ।
(iii) मिथ्याहार विहार ।

(i) **शल्य**—सद्यः व्रण में नख, बाल, तिनके, टूटी हड्डी के टुकड़े, विष, कृमि तथा संक्रमणादि से शुद्ध सद्यः व्रण भी दूषित हो जाता है ।

यदि आघात के कारण शरीर की धातुओं का अधिक नाश हो जाए, जैसे सिरा स्नायुक्लेद से, शय्यार्ज व्रण (Bed sores) इत्यादि से, इनमें अत्यधिक धातुनाश (Necrosis) से तथा कुछ समय बाद संक्रमण हो जाने से सद्यः व्रण दोषज अर्थात् दुष्ट व्रण बन जाते हैं ।

(ii) **अनुपयुक्त चिकित्सा**—यदि मूढ़ चिकित्सक सद्यःव्रणों में उपयुक्त चिकित्सा नहीं करता तो उसकी अनुपयुक्त चिकित्सा से सद्यः व्रण दुष्ट व्रण में बदल जाते हैं, जैसे अत्यधिक गाढ़ बन्ध बांधने से या गाढ़ के स्थान पर अत्यधिक शिथिल बन्ध बांधने से तथा अत्यधिक तीक्ष्ण औषधि या अधिक स्नेहों के प्रयोग इत्यादि से ।

(iii) **मिथ्याहार विहार**—अजीर्ण, अत्यधिक भोजन, विरुद्ध आहार-असात्म्य भोजन, शोफ, क्रोध, व्यायाम करने से, दिन में सोने इत्यादि कर्मों से आगन्तुज व्रण (सद्यःव्रण) दोषज (दुष्ट) व्रणों में बदल जाते हैं ।

भेद :

(क) वातादि तीनों दोषों तथा रक्त से अकेले और इनके आपस में मिलने से 14 प्रकार के दोषज व्रण उत्पन्न होते हैं ।

(ख) चरक ने भिन्न-भिन्न अवस्था के अनुसार (नानात्मज भेद से) दोषज व्रणों को 20 प्रकार का माना है जैसे—

i कृत्य (अष्ठविध कर्म योग्य व्रण) ii अकृत्य (रोपण योग्य) iii दुष्ट iv अदुष्ट v संवृत (बन्द मुख) vi विवृत vii दारुण viii मृदु, ix स्रावि x निस्रावि xi सविष xii निर्विष xiii समस्थित xiv विफमस्थित xv उत्संगि xvi अनुत्संगि xvii उत्सन्न xviii अनुत्सन्न xix मर्मस्थ xx अमर्मस्थ ।

(ग) आधुनिक मतानुसार दोषज व्रण अनेक प्रकार के होते हैं । जैसे—नाड़ी व्रण (इसका अलग अध्याय में वर्णन किया गया है), क्षयज व्रण (Tubercular ulcer), उष्ण वातज व्रण (Soft chancre), सिराज व्रण अर्थात् अपस्फीत व्रण (Varicose ulcer), ट्रोपिकल व्रण अर्थात् उष्ण कटि बन्धज व्रण (Tropical ulcer), धनास्रता के पश्चात् उत्पन्न व्रण या घनास्र व्रण (Post thrombotic ulcer) इत्यादि ।

लक्षण :

सुश्रुत तथा चरक के अनुसार दुष्ट व्रणों के लक्षणों की तालिका

सुश्रुत	चरक
अति संकुचित, अति विस्तृत, अति कठिन या अति मृदुव्रण, उन्नत-मांस या हीन मांस वाला व्रण, अति शीत या अति उष्ण व्रण । वर्ण—दोषानुसार काला, पीला, श्वेत, नील, श्याव या रक्त वर्ण । **वेदना**—दोषानुसार दाह, पाक, कण्डू, तीव्र पीड़ा, सड़ी पूय, गलित मांस सिरा व स्नायु युक्त, भैरव आकृति तथा उन्मार्गी ।	कुम्भिमुख (घोड़े के समान मुख छोटा एवं पूय गुहा बड़ी हो), अति स्थूल वर्त्म, अवसन्न वर्त्म, अति पिञ्जर, अति पिड़िका युक्त तथा अति पूय युक्त । वर्ण—दोषों के अनुसार ।

दोषज व्रणों के लक्षणों की तालिका

व्रण	आकार तथा वर्ण	स्राव तथा गन्ध	वेदना	अन्य गुण
(1) वातज	अरुण ।	पतला, व शीतल पिच्छिल स्राव ।	तोद, भेद ।	मांस रहित, चट-चट शब्द करता है ।
(2) पित्तज	पिड़िकायुक्त, सुर्ख, पीली झांई वाला ।	उष्ण स्राव ।	दाह, पाक ।	शीघ्र बनता है ।
(3) कफज	बड़ा आकार, श्वेत, पाण्डु ।	शीतल, सान्द्र व पिच्छिल स्राव ।	कण्डू, मन्द वेदना ।	मोटे एवं कठिन किनारे, सिरा एवं स्नायु जाल युक्त ।
(4) रक्तज	काले छाले, पिड़िका जाल से भरा, मूंगे के समान वर्ण का ।	रक्त स्राव, तीक्ष्ण गन्ध युक्त ।	वेदना युक्त ।	धूमोद्गार युक्त ।
(5) वात पित्तज	पीला, लाल झांई वाला ।	शीतल, पिच्छिल, पतला, उष्ण ।	तोद, दाह ।	धूमोद्गार ।
(6) वात कफज	भारी	शीतल, पिच्छिल, थोड़ा स्राव ।	कण्डू, सूई चुभने के समान वेदना ।	कठोर, रुक्ष ।
(7) कफ पित्तज	मृदु ।	उष्ण, पीत व पाण्डु स्राव ।	दाह ।	गुरु ।

व्रण	आकार तथा वर्ण	स्राव तथा गन्ध	वेदना	अन्य गुण
(8) वात रक्तज	लाल एवं अरुण झांई वाला ।	पतला, शीतल एवं पिच्छिल स्राव ।	तोद ।	पतला, रुक्ष एवं सुप्ति युक्त ।
(9) पित्त रक्तज	फैलने वाला, मण्ड या घृत समान कान्ति वाला ।	उष्ण, काला स्राव, मछली समान गन्ध वाला ।		कोमल एवं फैला हुआ ।
(10) कफ रक्तज	लाल ।	रक्त एवं पाण्डु स्राव ।	तोद ।	स्थिर, गुरु, स्निग्ध एवं पिच्छिल ।
(11) वात पित्त रक्तज		पीला एवं पतला स्राव ।	तोद, दाह, स्फुरण ।	धूमोद्गार ।
(12) वात कफ रक्तज		पाण्डु, घन तथा रक्त स्राव ।	कण्डू, स्फुरण, चुमचुमायन ।	
(13) रक्त पित्त कफज	सुर्ख वर्ण का ।	पाण्डु, घन एवं रक्त स्राव ।	दाह, कण्डू, पाक ।	
(14) त्रिदोषज	नाना प्रकार के वर्ण युक्त ।	मिश्रित स्राव ।	सब दोषों की वेदनाओं से युक्त ।	सुप्तता लिये ।

इस तालिका में वर्णित व्रण के लक्षणों को देखकर व्रण के प्रकोपक दोषों का ज्ञान करें और फिर दोषों के अनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिए। वात, पित्त, कफ, रक्तादि दोषों से अलग-अलग तथा इनके मिलने से 4 प्रकार के व्रण उत्पन्न होते हैं। व्रण परीक्षा में वर्णित व्रण की आकृति, गन्ध स्राव तथा वर्ण शीर्षकों के अन्तर्गत आने वाले लक्षणों के कण्केस्थ होने से 14 प्रकार के दोषज व्रणों का ज्ञान आसानी से हो सकता है। विभिन्न प्रकार के व्रणों के निदान को आसान बनाने के लिए उनका आकार, स्राव, गन्ध, वेदना तथा अन्य गुणों को पीछे दी गई तालिका में दिया गया है—

आधुनिक मतानुसार व्रण के भेद—

(1) प्रसारित व्रण (Spreading ulcer)
(2) कठोर कणज व्रण (Callous ulcer)
(3) विशिष्ट व्रण (Specific ulcer)

(1) प्रसरित व्रण (Spreading ulcer)—प्रसरित व्रण से अत्यधिक पूय स्राव आता है, वर्त्म (Edges) शोफ युक्त (Inflamed) तथा तल भाग मृतोतक (Slough) से भरा रहता है अर्थात् उसके तल भाग में केवल मृत ऊतियाँ ही होती है। ये लक्षण आयुर्वेद में वर्णित दुष्ट व्रण के लक्षणों से मिलते हैं, जैसा कि पित्तज दुष्ट व्रण में होता है।

(2) कठोर कणज व्रण (Callous ulcer)—इसमें रोहणांकुर रक्त वर्ण के न होकर हल्के श्वेत वर्ण के होते हैं (Pale granulation), इसके तल भाग में कठिनता (Induration) रहती है और वर्त्म भी कठोर होते हैं। वातज व्रण में भी ऐसे ही लक्षण मिलते हैं।

(3) **विशिष्ट व्रण** (Specific ulcers)—यह व्रण अनेक प्रकार के होते हैं जैसे—

(i) क्षयज व्रण (Tubercular ulcer)
(ii) उष्णवातज व्रण (Soft chancre)
(iii) फिरंगज व्रण (Hard chancre)
(iv) अपस्फीतक व्रण (Varicose ulcer)
(v) पोषणज व्रण (Trophic ulcer)
(vi) उष्ण कटिबन्ध-व्रण (Tropical ulcer)

(i) क्षयज व्रण (Tubercular ulcer)—यह क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति की किसी क्षय रोग से ग्रस्त संरचना (Structure) के फटने से उत्पन्न होते हैं। इस

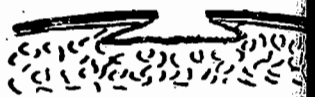

(रेखा चित्र नं० 1)

व्रण वर्त्म पतले तथा व्रण कुम्भिमुख अर्थात् मुख छोटा-तथा भीतर की गुहा बड़ी होती है। इनके वर्त्म नीलाभ (Bluish) वर्ण के होते हैं। क्षय के लुपस वलगेरिस (Lupus vulgaris) व्रण में तल

भाग पीत तथा कठोर पिड़िकाओं से युक्त रहता है (Pale indurated granulation, it is called Callous ulcer)। यह व्रण मध्य से रोपित होता है तथा किनारों से फैलता है।

(ii) **उष्णवातज व्रण** (Soft Chancre)—यह गुह्य अंगों में संक्रमण होने के तीन दिन पश्चात् उत्पन्न होता है। इसके लक्षण तीव्र व्रण (Acute ulcer) के लक्षणों के सदृश होते हैं। इसके मोटे वर्त्म श्वयथु युक्त (Oedematous) एवं आकार में कटे हुए होते हैं। इनके तल में मृतोतक (slough) रहते हैं, ये पीताभ वर्ण के सान्द्र पूययुक्त (Copious purulent secretion) एवं स्राव वाले होते हैं।

(iii) **फिरंगज व्रण** (Hard chancre)—यह व्रण गुह्याङ्गों के संक्रमित होने से, 3 सप्ताह पश्चात् उत्पन्न होता है। इसका तल बटन के समान कठिन (Indurated) होता है तथा व्रण पीड़ा रहित होता है। इसकी समीप की लसिका ग्रन्थियां आकार में बड़ी, अलग-अलग (discrete), कठोर (firm) परन्तु वेदना रहित होती हैं।

(iv) **अपस्फीतक व्रण** (Varicose ulcer)—यह व्रण वेदना रहित एवं कठोर (Callous) होता है। यह व्रण टांग के अधः भाग में अन्तः तल (Medial surface) की ओर उत्तान (superficially) रहता है। इसके चारों ओर कृष्ण वर्ण की विचर्चिका (Eczema) इसे घेरे रहती है। इन व्रणों से पीड़ित रोगियों की सिराएं विस्फारित (अपस्फीत) रहती हैं। इन व्रणों की आकृति सिरा के समान एवं टाँग की सिरा पर स्थित व्रण अपस्फीत सिरा की दिशा में अर्थात् लम्ब व अण्डाकार (Vertically oval) आकृति होती है।

अपस्फीत व्रण
(रेखाचित्र नं० 2)

(v) **पोषणज व्रण** (Trophic ulcer)—इसको तन्त्रिका जन्य व्रण (Neurogenic ulcer) भी कहते हैं। इनके वर्त्म कटे हुए एवं तल भाग मृतोतकों (slough) से युक्त (जैसे कि शय्याज व्रण में) होता है। ये व्रण धातुओं का वेध (perforation) करते हैं। इनके कठोर भाग (Callus) के मध्य की ऊतियाँ मृतोतक (slough) के रूप में तल भाग (surface) पर आ जाती हैं तथा वहाँ से स्राव निकलने लगता है। इसकी नाड़ी में या इसके मुख पर त्वचा की परत (Skin lining) लगी रहने से ये व्रण रोपित नहीं हो पाता। ये व्रण प्रायः अस्थि की गहराई तक पहुंचते हैं।

एड़ी पर स्थित पोषणज व्रण (रेखाचित्र नं० 3)

(vi) **उष्ण कटिबन्धज व्रण** (Tropical ulcer)—यह व्रण उठा हुआ (raised), कुम्भि मुख (undermined),

कठोर वर्त्म युक्त (Indurated edges), घन स्राव युक्त (with copious discharge) तथा कई वर्ष तक रोपित नहीं होता। इसके रोपित होने पर व्रण स्थान पर रञ्जित व्रण-चिन्ह (Pigmented scar) बनता है।

उपद्रव (Complications)

निज व्रणों में दो प्रकार के उपद्रव होते हैं—

(i) व्रणित के उपद्रव (Generalised complications of wounded person)।

(ii) व्रण के उपद्रव (Local complications of wound)।

(i) **व्रणित के उपद्रव**—व्रण में स्थित पूय, मृतोतक, (slough), विष [कोथ से उत्पन्न तथा जीवाणुओं के विष] इत्यादि पदार्थ व्रण तल से शोषित होने पर वे शरीर में सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करते हैं, जैसे ज्वर (संक्रमण से), अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का, वमन, अरोचक, श्वास, कास, अविपाक तथा तृषादि।

ज्वरातिसारो मूर्च्छा च हिक्काच्छर्दिररोचकः।
श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा चं व्रणितस्य तु॥ सु० चि० 1
विसर्पपक्षाघातश्च सिरस्तम्भापतानकाः।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णाहनुग्रहः॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्काश्वासश्च वेपथुः। च० चि० 25

चरकमतानुसार व्रण के उपद्रव—विसर्प (erysipelas), पक्षाघात, शिरः स्तम्भ, मोह, उन्माद, वेपथु एवं हनुग्रह (Tetanus)।

(ii) **व्रण के उपद्रव**—व्रण उत्पन्न होने के पश्चात् दोषों के और अधिक प्रकुपित होने पर या व्रण में विजातीय पदार्थों (Foreign bodies) अर्थात् शल्य के रहने पर, जैसे संक्रमण, नख, विष, धूलि, रासायनिक पदार्थ इत्यादि या अनुपशय अर्थात् औषधि की प्रत्यूर्जा प्रतिक्रिया (Allergic reaction) इत्यादि से जो व्रण में स्थानीय विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें व्रण के उपद्रव कहते हैं, जैसे व्रण में अत्यधिक वेदना, दोषों के अनुसार अनेक प्रकार के दूषित स्राव, गंध व वर्ण (व्रण की परीक्षा में बताए गये) इत्यादि का उत्पन्न होना।

व्रण के दोष—जो हेतु व्रण में अतिरिक्त विकार उत्पन्न करते हैं उन्हें व्रण के दोष कहते हैं। यह आगन्तुज व्रणों को दुष्ट व्रणों में परिवर्तित कर देते हैं तथा दुष्ट व्रणों में उपरोक्त वर्णित उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं। व्रण के दोष अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—

शल्य, तृण, नख, अनुपयुक्त चिकित्सा, अति गाढ़ बन्ध तथा मिथ्याहार विहार इत्यादि, इनका विस्तृत वर्णन निज व्रणों के हेतुओं में देखें।

साध्यासाध्यता

व्रण तथा व्रणित के विविध उपद्रवों तथा अरिष्ट लक्षणों से उनकी साध्यता एवं असाध्यता का ज्ञान करने के उपरान्त ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये। व्रण की साध्यासाध्यता को चार प्रकार से जाना जा सकता है—

1. रोगी के बल से
2. व्रण के आकार से
3. व्रण के स्थान से
4. व्रण के उपद्रवों से

(1) **रोगी के बल से**—यदि व्रणित व्यक्ति वयस्क (Young), दृढ़ (Healthy) और प्राणवान (Active) हो तो उसका व्रण साध्य होता है। परन्तु यदि रोगी शोषी (Emaciated), दुर्बल, वृद्ध, भीरू तथा अल्प प्राणवान हो तो उसमें व्रण कृच्छ्रसाध्य होता है।

(2) **व्रण के आकार से**—आयत, चतुरस्र, वृत्त एवं त्रिपुट आकृतियों वाले व्रण साध्य होते हैं। उपरोक्त आकृतियों से भिन्न अर्थात् वक्र, अर्धचन्द्राकार, रथ के समान, घोड़ा इत्यादि के समान विषम आकृति वाले व्रण कृच्छ्र साध्य होते हैं।

(3) **व्रण के स्थान से**—

साध्य	कृच्छ्र साध्य	याप्य	असाध्य
नितम्ब, गुदा, प्रजनन, ललाट, गण्ड, ओष्ठ, पीठ, कान, अण्डकोष, उदर, मुख, तथा जत्रु (सुगठित स्थान) के व्रण।	आँख, नाक, कान, भ्रू, दन्तमूल, स्रोत, नाभि, नितम्ब, कुक्षि, वक्ष, कक्षा, स्तन तथा संधियों (कोमल स्थान) के व्रण।	अवपाटिका, निरुद्ध प्रकाश, ग्रंथि, सन्निरुद्ध गुद, इत्यादि। ये व्रण चिकित्सा के बन्द करने पर पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।	मर्म स्थानों के व्रण।

(4) **उपद्रवों से**—उपद्रव रहित व्रण सुख साध्य होता है। व्रण में या व्रणित

में उपरोक्त उपद्रवों के उत्पन्न हो जाने से व्रण कृच्छ्रसाध्य या असाध्य अवस्था में चला जाता है। अनेक रोगों में व्रण कृच्छ्रसाध्य होते हैं, जैसे कुष्ठ, विषाक्त, शोषी, एवं मधुमेही रोगियों के व्रण तथा जो व्रण स्वयं विदीर्ण नहीं होते वे भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति तेषां चापिव्रणं व्रणाः॥ सू० सु० 23
शेषाः स्वयमविदीर्यमाणा दुरुपचराः॥ सू० सु० 22

असाध्य व्रण के लक्षण

असाध्य व्रणों में निम्न लक्षण होते हैं—

(i) **क्राव**—पक्वाशय गत व्रण में पुलाकोदक के समान स्राव।

रक्ताशय गत व्रण में क्षारोदक के समान स्राव।

आमाशय एवं त्रिक गत व्रणों में मटर के पानी के समान स्राव।

तथा दोषज व्रणों में वसा, मेद, मज्जा तथा मस्तुलुङ्ग के समान स्राव। व्रण में ये स्राव रहने पर व्रण असाध्य होते हैं।

(ii) **गन्ध**—असामान्य गन्ध, जैसे सुरा समान, सुगन्धित पुष्पों के समान, या कुत्ते, चूहे, कौए तथा सड़े मांस के समान गन्ध रहने पर व्रण असाध्य होते हैं।

(iii) **शब्द**—जिन व्रणों से बुद-बुद की आवाज आती है : जैसे, कोथ (gas gangrene by B. welchii, B. vibrio) के जीवाणुओं द्वारा संक्रमण होने से व्रण के समीप की ऊतियों में हवा भर जाती है, इन व्रणों को असाध्य कहते हैं।

(iv) **आकृति**—जिनकी आकृति टेढ़ी-मेढ़ी, झण्डा, रथ या घोड़े सदृश विकृत हो, जो व्रण घोड़ो की भग के समान उठे हुए तथा बीच से दबे हुए हों, ये सब असाध्य होते हैं।

(v) **स्थान**—सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि के व्रण अर्थात् त्वचा, मांसादि धातुओं के व्रण यदि चिकित्सा करने पर भी फैलते जायें, जैसे घातक व्रण (Malignant ulcer), तो इन्हें असाध्य जानना चाहिये।

(vi) **वेदना**—जो व्रण मर्म स्थानों पर न होते हुए भी तीव्र वेदनावान् हों वे असाध्य होते हैं।

(vii) **स्पर्श**—अन्दर से शीत तथा बाहर से उष्ण या इसके विपरीत अन्दर से उष्ण तथा बाहर से शीत होने पर व्रण असाध्य होते हैं।

(viii) **दोष**—दोषों के विपरीत लक्षण वाले व्रणों में, जैसे कफज व्रण में तीव्र वेदना, वातज व्रण में वेदना की अनुपस्थिति होने पर या फिर जब व्रण के अधिष्ठान अत्यधिक नष्ट या दूषित हो जायें तो व्रण असाध्य होता है।

व्रण ग्रन्थि

सद्यःरूढ़ (ताजारोपित हुआ) व्रण या रुह्यमान (रोपित हो रहा) व्रण वाला रोगी (व्रणित) यदि अपथ्य सेवन करे (सब रसों का सेवन करे) या उसके बन्धन रहित व्रण पर आघात लग जाए तो इससे वायु प्रकुपित हो जाती है। फिर प्रकुपित हुई वायु रुधिर को व्रण के अन्दर सुखाकर, कण्डू तथा दाह युक्त उत्सेध (Inflammation) को उत्पन्न कर देती है, इसे व्रण ग्रथि कहते हैं। यह भी व्रण का एक उपद्रव है जो कि कृच्छ्र साध्य होता है व्रण ग्रन्थि छेदन करने पर पुनः उत्पन्न हो जाती है।

कीलायड (Keloid) संयोजक तन्तुओं (Connective tissue) के अत्यधिक बढ़ने (Hypertrophy) से उत्पन्न होता है। इसके लक्षण व्रण ग्रन्थि के समान रहते हैं। यह त्वचा से ऊपर को उठती हुई एक अनियमित एवं कठोर गांठ होती है, जब इसके किनारों पर वेदना (Pain), स्पर्शासह्यता (Tenderness) तथा रक्तिमा (Redness) हो जाती है तो कीलायड की वृद्धि होने लगती है।

चिकित्सा

दोषजव्रणों की चिकित्सा को 2 भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. औषध चिकित्सा

2. शस्त्र चिकित्सा

1. औषध चिकित्सा—सुश्रुत ने व्रण शोधन के लिए निम्नलिखित अनेक द्रव्यों को प्रयोग करने के लिये कहा है।

(i) **द्रव्यों द्वारा चिकित्सा**—आरग्वधादि गण, सुरसादिगण, लाक्षादिगण इत्यादि गणों की औषधियों को कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण इत्यादि के रूप में, [जैसाकि उपक्रमों के अध्याय में बताया गया है] व्रण शोधन कर्म के लिए प्रयोग करना चाहिये।

(ii) **क्षार द्वारा चिकित्सा**—दुष्ट व्रणों में जहाँ पर मृतोतक (Slough) अधिक हो वहाँ पर क्षार (प्रतिसारणीय क्षार) द्वारा उनका शोधन करना चाहिये। क्षार द्वारा छेदन, भेदन तथा लेखन तीनों कर्म होने से यह अत्यधिक दोष युक्त व्रणों में तथा मांसकन्दी युक्त (Over granulating) व्रणों में शोधन के लिये सफलता पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। शुद्ध व्रणों में क्षार का प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह रोहाणुओं को नष्ट करने के कारण शुद्ध व्रणों में रोपण नहीं होने देता।

(iii) **धूपन चिकित्सा**—गुग्गुलु, राल, अगरू इत्यादि धूपन द्रव्यों के धूम द्वारा व्रणों की संक्रमण से रक्षा करनी चाहिये। धूपन कर्म से व्रणों में वेदना शान्त होती है तथा पूति गन्ध नष्ट होती है। वाग्भट्ट ने पट्ट, कवलिका, विकेशिका (Dressing material) इत्यादि को धूपन द्वारा शुद्ध करके व्रणों पर प्रयोग करने को कहा है।

2-शस्त्र चिकित्सा

उपक्रम अध्याय में वर्णित अष्टविध शस्त्र कर्मों में से (व्रण की दुष्टि के अनुसार) एक या अनेक कर्मों द्वारा, दुष्ट व्रणों में से गलित मांस सिरा स्नायु इत्यादि को निकालकर व्रणों को शुद्ध करना चाहिये, जैसे—

(क) कुम्भि मुख व्रणों तथा नाड़ी व्रणों में भेदन करके इनकी पूय निकालें।

(ख) स्नायु, सिरा इत्यादि की कोथ को तथा मृत ऊतियों को छेदन कर्म द्वारा निकालें।

(ग) बढ़े हुए मांस धातु को लेखन कर्म से निकालें।

(घ) दूर तक पूय होने पर पूय कोटरों का वेधन करके पूय को निकालें।

इन व्रणों से पूय निर्हरण के लिये सिम्बल, वट, उदुम्बरादि पीड़न द्रव्यों के लेप लगाएं।

आधुनिक मतानुसार व्रण उत्पन्न करने वाली व्याधि की चिकित्सा के साथ-साथ व्रण की चिकित्सा भी की जाती है, जैसे क्षयज व्रण होने पर क्षय रोग की सामान्य चिकित्सा तथा फिरंगज व्रण होने पर फिरंग रोग को सामान्य चिकित्सा भी साथ में की जाती है। पूय युक्त व्रणों को विस्तृत करके उनसे पूय विस्रावण किया जाता है, या उनका लेखन कर्म करके उनमें से मृत ऊतियों (Slough) को निकाला जाता है। अति दुष्ट व्रण, जैसे पोषणज व्रण (Trophic ulcer) या घातकार्बुदज व्रण (Malignant ulcer) इत्यादि में पहले छेदन कर्म (Excision) किया जाता है फिर व्रण शुद्ध होने पर इसकी पूय विरोधी (Antiseptics) द्रव्यों द्वारा चिकित्सा व्रण के रोपण होने तक की जाती है व्रण के रोपण होने के पश्चात् व्रण स्थान पर उत्पन्न विकृतियों की चिकित्सा आवश्यकतानुसार उपक्रमों द्वारा करनी चाहिये, जैसे—

(i) अत्यधिक मांस वृद्धि होने पर अवसादन करें।

(ii) व्रण चिन्ह में मांस क्षीण होने पर उत्सादन करें।

(iii) व्रण चिन्ह कठोर होने पर मृदु कर्म करें।

(iv) व्रणों के अत्यधिक मृदु होने पर दारुण कर्म करें।

(v) इन कर्मों को आवश्यकता अनुसार प्रयोग करना चाहिये। इन उपक्रमों का विस्तृत वर्णन उपक्रम अध्याय में देखें।

नाड़ी व्रण

नाड़ी व्रण, दुष्ट व्रण का ही एक भेद है। नाड़ी व्रण में पूय की गति रहने

के कारण तथा चिकित्सा की दृष्टि से इसका विशेष महत्व होने के कारण इसका अलग से वर्णन किया गया है।

व्याख्या:—

पूय उत्पादक ऊतियों से जिस लम्बे तथा वक्र मार्ग द्वारा पूय बाहर निकलती है उसे नाड़ी व्रण (Sinus) कहते हैं। इस मार्ग में पूय का गमन (flow) होने से इसे गति भी कहते हैं।

नाल व्रण (Fistula) में पूय निकलने के लिये नाड़ी व्रण सदृश मार्ग (tract cavity) होता है। नाल व्रण का मार्ग एक ओर किसी शारीरिक गुहा (Body cavity) या अवकाशिकायुक्त रचना (Structure with a lumen), जैसे धमनी, महास्रोत, मूत्राशय इत्यादि में खुलता है और दूसरी ओर बाहर त्वचा पर या किसी गुहा युक्त अंग में खुलता है, जैसे गुदा-मूत्राशय नालव्रण (Recto vesical fistula)। नालव्रण दोनों ओर से कोटर युक्त अंगों में खुलता है।

नाड़ी व्रण को लोक भाषा में नासूर भी कहते हैं क्योंकि यह व्रण उत्तान अथवा बाह्य व्रण की चिकित्सा (Superficial or external treatment) से ठीक नहीं होता है। इसका उपचार वर्ति द्वारा (अर्थात् वर्ति को नाड़ी के अन्दर प्रवेश करके किया जाता है।

हेतु—

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो, यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
आभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य, स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः॥
तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरित्यतश्च, नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी॥
सु० नि० 10

पक्व शोफ को अपक्व जानकर या अतिपूययुक्त व्रण की अपेक्षा करने से, पूय त्वचादि व्रण-वस्तुओं को विदीर्ण करके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। इस पूय के अतिमात्रा में अन्दर की ओर चले जाने से 'गति' (नाड़ी) उत्पन्न होती है। इसमें पूय का वहन होता है इसीलिये इसे गति कहते हैं।

नाड़ी व्रण की उत्पत्ति में निम्न हेतु सहायक होते हैं—

(1) **शल्य**—शरीर में नष्ट हुआ शल्य (Retained foreign body) वेदना तथा स्राव युक्त नाड़ी को उत्पन्न करता है। यह केवल जैविक पदार्थ (Organic material) जैसे तृण, संक्रमण या दोष युक्त धातुओं से उत्पन्न होता है। धातु गत शुद्ध शल्य कई वर्षों तक शरीर में बिना नाड़ी व्रण उत्पन्न किये निष्क्रिय रूप में पड़े रह सकते हैं।

(2) **अपथ्य सेवन**—यदि व्रणित पुरुष अपथ्य आहार का सेवन करता है तो उसका साधारण व्रण या शुद्ध व्रण भी नाड़ी व्रण में परिवर्तित हो जाता है, जैसे पूयोत्पादक (अम्ल, लवण) आहार के सेवन से अधिक पूय बनकर, वह व्रण की धातुओं को भीतर ही भीतर नष्ट करके नाड़ी व्रण को उत्पन्न करती है।

(3) **अपक्व शोफ का भेदन करने से**—व्रण शोफ के या विद्रधि के आमावस्था में या पच्यमानावस्था में भेदन कर देने से व्रण चौड़ा हो जाता है, धातुओं का अधिक नाश होता है, आघातज विसर्प उत्पन्न होता है तथा व्रण में वेदना होती है। संक्रमण अर्थात् दोष विदीर्ण हुई धातुओं में प्रविष्ट होकर दूर तक जाकर नाड़ी व्रण का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

(4) **पक्व व्रण शोथ या विद्रधि की उपेक्षा करने से**—विद्रधि या शोफ में पूय पड़ जाने से यदि पूय को उचित समय में न निकाला जाये तो पूय अन्य धातुओं का भक्षण करके (संक्रमण या प्रोटियोलाईटिक इन्जाईमज के कारण) नाड़ी व्रण उत्पन्न कर देती है, जैसे भगन्दरज पिड़िका का ठीक समय पर भेदन न करने पर वह नाड़ी व्रण का या नाल व्रण का रूप धारण कर लेती है।

(5) **अनुचित विस्रावण विधि**—पूय युक्त शोफ या विद्रधि में यदि भेदन व्रण अति सूक्ष्म बनाया जाये या उसका भेदन करके कोटर से पूय का आचूषण न किया जाये तो व्रण का मुख छोटा होने से अन्दर रुकी हुई पूय धातुओं का भक्षण करके, नाड़ी व्रण उत्पन्न कर देती है।

(6) **तीक्ष्ण स्राव**—व्रणों से तीक्ष्ण स्राव (मूत्र, मल, पित्त) निकलने पर ये व्रण कुछ समय पश्चात् नाड़ी व्रण में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे मूत्र स्रावी नाल व्रण (Urinary fistula), मलज नाल व्रण, पित्त स्रावी नाल व्रण इत्यादि।

(7) **आघात**—गुदा मार्ग के पास आघात होने से, व्रण का बार-बार मल से सम्पर्क बने रहने से तथा सन्धि के व्रणों में अधिक हिलने डुलने के कारण ये दोनों प्रकार के व्रण शीघ्र रोपित नहीं हो पाते तथा कुछ समय पश्चात् ये नाड़ी व्रण में परिवर्तित हो जाते हैं।

(8) **संक्रमण**—कुछ विशेष संक्रमण जो कि व्रण में देर तक पड़े रहते हैं, जैसे क्षय का संक्रमण (Tubercular infection), एक्टिनोमाईकोसिस (Actinomycosis) इत्यादि, कुछ देर पश्चात् व्रण को नाड़ी व्रण में परिवर्तित कर देते हैं।

भेद :

नाड़ी व्रण 5 प्रकार के होते हैं—

(i) वातज, (ii) पित्तज, (iii) कफज, (iv) त्रिदोषज, (v) शल्यज।

लक्षण :

(i) **वातज नाड़ी व्रण**—यह कठोर, वेदना युक्त तथा सूक्ष्म मुख वाला होता है। इसमें से रात्रि को फेन युक्त स्राव अधिक निकलता है तथा पूय के साथ वायु भी निकलती है, जैसे गैस गैन्गरीन के जीवाणु (B. welchii) के संक्रमण से या व्रण का श्वास मार्ग से सम्बन्ध होने से, वायु ऊतियों में प्रविष्ट हो जाती है।

(ii) **पित्तज नाड़ी व्रण**—पित्तज नाड़ी व्रण तीव्र शोफ युक्त होता है। इसमें ज्वर, सन्ताप, प्यास इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। नाड़ी में चुभने की सी वेदना होती है और इससे पीत वर्ण का उष्ण स्राव निकलता है। इस प्रकार के लक्षण व्रण के तीव्र पूयोत्पादक जीवाणु के संक्रमण होने से उत्पन्न होते हैं।

(iii) **कफज नाड़ी व्रण**—इस नाड़ी व्रण से स्राव अत्यधिक सान्द्र (thick), चिकना तथा रात्रि में दिन की अपेक्षा अधिक आता है। नाड़ी व्रण के ऊपर कण्डूप मन्द वेदना, कठोरता इत्यादि लक्षण मिलते हैं। क्षयज ग्रन्थि के फटने से भी नाड़ी व्रण इसी प्रकार के लक्षणों से युक्त होता है। यह नाड़ी व्रण मन्द वेदना वाला, अल्प शोफ युक्त तथा शीतल होता है, जैसे—ब्रांकियल, पिलोनाईडल तथा पेरिआरिकुलर नाल व्रण (Bronchial, pilonidal and periauricular fistula), इनमें कफज नाड़ी व्रण सदृश लक्षण मिलते हैं।

(iv) **सन्निपातज नाड़ी व्रण**—इसमें ज्वर, दाह, मूर्च्छा, श्वासादि रोग एवं मुख में शुष्कता रहती है। इसमें से तीनों दोषों से मिला हुआ स्राव आता है तथा तीनों दोषों की वेदनाएं रहती हैं। जब किसी बड़े नाड़ी व्रण में अनेक प्रकार के जीर्ण तथा तीव्र संक्रमण एक साथ हो जाते हैं तो उपरोक्त सन्निपातज अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

(v) **शल्यज नाड़ी व्रण**—जब कोई शल्य शरीर में नष्ट (retain) हो जाए तो उससे उत्पन्न नाड़ी व्रण से झागदार, मथित, निर्मल, रक्त मिश्रित तथा उष्ण स्राव निकलता है।

साध्यासाध्यता :

सामान्यतः नाड़ी व्रण कृच्छ्र साध्य होता है परन्तु त्रिदोषज नाड़ी व्रण सर्वदा असाध्य होता है।

चिकित्सा :

(I) **वर्त्ति चिकित्सा**—जो नाड़ियाँ बहुत बड़ी न हों उनकी चिकित्सा वर्तियों द्वारा करनी चाहिए। ये वर्तियाँ उष्ण, तीक्ष्ण तथा लेखन गुण वाली औषधियों से बनाई जाती हैं जैसे—

(क) गोमूत्र और मधु से बनी वर्ति।

(ख) बेर की छाल एवं फल, पाँचों नमक, सुपारी तथा लाक्षा को थूहर और आक के दूध में पीसकर वर्ति बनायें। इन वर्तियों की मोटाई नाड़ी व्रण के मुख के समान होनी चाहिए, जिससे वे व्रण के अन्दर तक पहुंच सकें। वर्ति द्वारा नाड़ी का शोधन होने के उपरान्त इसकी रोपण चिकित्सा करनी चाहिये।

(II) क्षार सूत्र चिकित्सा—कृश, दुर्बल या भीरू पुरुषों में तथा नाड़ी के मर्माश्रित होने पर उसकी क्षार सूत्र द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

कृशदुर्बलभीरूणां नाडी सर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥
—सु० चि० 17

विधि—पहले गण्डूपद मुखी एषणी को [जिसमें कि धागा डालने के लिए छिद्र (eye) बना हो] नाड़ी मुख में डालकर उसे अन्दर तक ले जाना चाहिए। फिर उसके अग्र भाग को त्वचा की ओर (ऊपर को) उठाकर उस पर स्थित धातुओं का **बेधन करते हुए एषणी** मुख को अनुलोम गति से बाहर निकाल लें। उसका मुख बाहर निकल आने पर एषणी के छिद्र में क्षार सूत्र डालें तथा फिर एषणी को प्रति-**लोम गति से बाहर खींच लें। इस प्रकार एषणी खींचने से क्षार सूत्र** का नाड़ी में प्रवेश हो जाता है। फिर सूत्र के दोनों किनारों को हल्के से (Snugly) बांध देना चाहिए। सूत्र पर क्षार का बल क्षीण होने पर (5-7 दिन में) इसे निकालकर नाड़ी में दूसरा सूत्र डालकर बाँध देना चाहिए। इस विधि से क्षार सूत्र को तब तक बार-बार बदलते रहना चाहिए जब तक कि नाड़ी व्रण पूर्ण रूप से न कट जाए। नाड़ी के कटने पर उससे उत्पन्न हुए व्रण का रोपण कर्म करना चाहिए।

क्षार सूत्र निर्माण की विधि इस पुस्तक के द्वितीय भाग में भगन्दर रोग अध्याय में देखें।

(III) शस्त्र चिकित्सा—इस व्रण की शस्त्र चिकित्सा करने के लिए निम्न विधि का अनुसरण करना चाहिए—

(क) उपनाह—सर्वप्रथम नाड़ी व्रण पर दोषानुसार (वातज में वातघ्न द्रव्यों से; पित्तज में उत्कारिका, दूध एवं घृत से तथा कफज में कुल्थी, सरसों, सत्तू तथा किण्व से) उपनाह करना चाहिए इससे धातुयें मृदु हो जाती हैं तथा दोषों का विलयन हो जाता है।

(ख) भेदन—नाडीनां गतिमन्वीक्ष्य शस्त्रेणोत्पाट्य कर्मवित्।
सर्वं व्रणक्रमं कुर्याच्छोधनारोपणादिकम्॥
—यो० र० भा० 2

नाड़ी व्रण में एषणी डालकर उसकी गति, संख्या, दिशा इत्यादि की जानकारी प्राप्त करें; फिर वृद्धि पत्र से उसका भेदन कर देना चाहिए। एषण कर्म के लिए

निदेशक-एषणी (Probe-director) का प्रयोग करना चाहिए तथा इसकी खाई (Groove) में शस्त्र को डालकर इसका भेदन कर देना चाहिए, तत्पश्चात् शोधन एवं रोपण कर्म करें। इन मूत्र-स्रावी व्रणों में भेदन के पश्चात् व्रण को अग्नि से दग्ध करना चाहिए।

(ग) लेखन—भेदन के पश्चात् वृद्धि पत्र से नाड़ी व्रण का लेखन कर्म करके उसमें से सब मृतोतकों (Slough) तथा संयोजक तन्तुओं की कला (Fibrous layer) को निकाल देना चाहिए।

(घ) शोधन कर्म—नाड़ी व्रण का शोधन दोषों के अनुसार करना चाहिए जैसे—

वातज में—तिल, अपामार्ग बीज तथा सेन्धा नमक को बाँधें और इसे बृहत् पंचमूल के क्वाथ से धोएं।

पित्तज में—तिल, दन्ती, मुलहठी के कल्क को भर दें तथा इसे नीम और हल्दी के क्वाथ से धोएं।

कफज में—तिल, दन्ती, निम्ब पत्र, फिटकरी तथा सेन्धा नमक से व्रण भर दें और करञ्ज, नीम, चमेली, बहेड़ा इत्यादि के क्वाथ से व्रण को धोएं।

शल्यज में—शल्य को निकाल कर फिर तिल, मधु तथा घृत को व्रण पर लगा दें।

(ङ) रोपण कर्म—नाड़ी व्रण के शुद्ध हो जाने पर दोषानुसार रोपण कर्म करना चाहिए। दोषों के अनुसार रोपण औषधियों को घृत, तैल वर्ति इत्यादि के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

(च) छेदन कर्म—उपरोक्त विधि से शस्त्र कर्म करने पर (भेदन से) व्रण भरने में बहुत समय लग जाता है, इसलिए आजकल बड़े-बड़े नाड़ी व्रणों का छेदन कर्म (Excision) करके उनका प्राथमिक सीवन (Primary suturing) कर देते हैं। छेदन से पूर्व नाड़ी व्रण में रञ्जक द्रव (Dye, जैसे मिथिलीन ब्लू) डाल देना चाहिए, इससे छेदन कर्म करते समय नाड़ी की दिशा का पता चलता रहता है। रञ्जक द्रव के अभाव में एषणी को डालें, छेदन कर्म करते समय एषणी से नाड़ी की गति की दिशा का पता चलता रहता है। छेदन के पश्चात् रक्तस्राव को बन्द करके व्रण का सीवन कर्म कर देना चाहिए।

आगन्तुज व्रण

(Traumatic wounds)

जो व्रण बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हें सद्यःव्रण (आगन्तुज व्रण) कहते हैं। वैद्य द्वारा बनाए गये व्रण इनसे भिन्न अर्थात् आयत (बड़े) और सुविभक्त

(Wounds with well separated-edges) होते हैं। पुनः निज व्रण भी आगन्तुज व्रणों से भिन्न होते हैं जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

निज और आगन्तुज व्रणों में भेद की तालिका

निज व्रण	आगन्तुज व्रण
(1) इनका कारण वातादि दोष होते हैं।	इनका कारण आघातादि बाह्य हेतु होते हैं।
(2) इनमें वातादि दोष व्रण उत्पन्न होने से पहले से दुष्ट रहते हैं।	वातादि दोषों का इन व्रणों में सात दिन पश्चात् अनुबन्ध होता है।
(3) ये व्रण प्रलेपादि चिकित्साओं से साध्य होते हैं।	ये व्रण मन्त्र चिकित्सा साध्य होते हैं।

हेतु :

(1) तीक्ष्ण मुख वाले शस्त्रों के आघात से या डण्डे सदृश कुण्ठित वस्तु के प्रहार (by trauma) से आगन्तुज व्रण उत्पन्न होते हैं।

(2) हिंस्रक पशु पक्षियों के काटने (bites) से भी आगन्तुज व्रण उत्पन्न होते हैं।

(3) अग्नि, क्षार, विष या तीक्ष्ण पदार्थ (by heat, chemicals, caustics, acids, poisons etc.) के सम्पर्क से व्रण उत्पन्न होते हैं।

भेद—

आगन्तुज व्रण छः प्रकार के होते हैं—

(1) छिन्न (Excised),
(2) भिन्न (Incised visceral wound)
(3) विद्ध (Punctured)
(4) पिच्चित (Compressed)
(5) क्षत (partially excised and partially incised wound)
(6) घृष्ट (Lacerated)

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्॥ सु० चि०

लक्षण :

(1) **छिन्न व्रण**—आघातज व्रण में शरीर से धातुओं के अलग हो जाने को छि

व्रण कहते हैं। ये व्रण सीधा, तिरछा या आयताकार होते हैं। छिन्न व्रण द्वारा आघातज-अङ्ग-विच्छेद (Traumatic amputation) भी हो सकता है।

(2) **भिन्न व्रण**—किसी तीक्ष्ण धार शस्त्र से या नोकीले पदार्थों (सींग, भाला इत्यादि) से किसी आशय (आमाशय, पक्वाशय, रुधिराशय, मूत्राशयादि) पर आघात होने से जो व्रण बनता है उसे भिन्न व्रण कहते हैं (It is a visceral wound i. e. a deep wound)। आशय के भिन्न होने पर वह रक्त से भरा जाता है तथा इससे अनेक तरह के लक्षण उत्पन्न होते हैं, जैसे ज्वर, दाह, मूर्च्छा, श्वास, प्यास, आध्मान, स्वेद, हृदय या पार्श्व में शूल, गुदा या मूत्र मार्ग से रक्तस्राव, नेत्रों में रक्तिमा, मुख तथा शरीर से रक्त की गन्ध का आना इत्यादि।

आशयानुसार–(i) महास्रोत के भेदन होने से मलमूत्र एवं वायु का अवरोध (जैसे Paralytic ilius में,) हो जाता है। यदि महास्रोत के आशयों के भिन्न होने पर भी मल, मूत्र एवं वायु अपने मार्गों से आते रहें तो रोगी बच जाता है।

(ii) आशय के विद्ध होने पर रक्त वमन, आध्मान तथा तीव्र शूल होता है।

(iii) पक्वाशय के विद्ध होने पर उदर में पीड़ा तथा भारीपन, नाभि के नीचे के प्रदेश में शीतलता, मूत्रमार्ग एवं गुदा से रक्त आने लगता है [मूत्रवह स्रोत में आघात होने पर या रक्ताधिक्य (Congestion) होने से मूत्र के साथ रक्त आता है]।

आशय के अधिक विद्ध [आन्त्र में अधिक रक्तता (Congestion)] होने से आन्त्र रक्त में भर जाती है। कोष्ठ के रक्त से भर जाने पर रोगी को स्वेद आता है, उसके हाथ पैर ठंडे हो जाते हैं, वर्ण पीत हो जाता है, आध्मान तथा उच्छ्वास (Gasping) इत्यादि लक्षण उत्पन्न होने पर रोगी शीघ्र मर जाता है।

(3) **विद्ध व्रण**—तीक्ष्ण मुख वाले शस्त्र से आशय के अतिरिक्त शरीर के किसी अन्य भाग में आघात होने पर जो व्रण बनता है उसे विद्ध व्रण (Punctured wound) कहते हैं। शल्य रहित व्रण को निर्गत व्रण कहते हैं। अष्टाङ्ग संग्रहकार ने विद्ध व्रण के 8 भेद बताए हैं—

(i) अनुविद्ध (ii) अतुण्डित (iii) अतिविद्ध (iv) निर्विद्ध (v) अतुभिन्न (vi) भिन्नोतुण्डित (vii) अतिभिन्न (viii) निर्भिन्न।

(4) **पिच्चित व्रण**—कुण्ठित वस्तु के प्रहार से तथा अंग के दब जाने से व्रण अस्थि सहित चौड़ा हो जाता है तथा इसमें मज्जा एवं रक्त भर जाता है, इसे पिच्चित व्रण कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है जैसे सव्रण तथा अव्रण पिच्चित।

(i) **सव्रण पिच्चित**—इसमें अङ्ग पिच्चित हो जाता है तथा साथ में त्वचा

पर भी व्रण बन जाता है जिस कारण घृष्ट व्रण के समान इसमें दाह एवं पाक होता है।

(ii) **अव्रण पिच्चित**—इसमें अङ्ग पिच्चित हो जाता है किन्तु त्वचा व्रण रहित रहती है।

(5) **क्षत व्रण**—जो व्रण अधिक भिन्न न हुआ हो अर्थात् आशय के भिन्न व्रण की तरह उसकी भित्ति पूर्ण रूप से न कटी हो उसे क्षत व्रण कहते हैं। यह थोड़ा भिन्न तथा थोड़ा छिन्न होने पर विषम व्रण बन जाता है (डल्हण ने इसे उन्नत या निम्न विषम व्रण कहा है (**व्रणस्य वैषम्यं निम्नोन्नतत्वम्**)।

(6) **घृष्ट व्रण**—रगड़ लगने से या अन्य किसी कारण से जब आघात केवल मात्र त्वचा पर होता है (उप त्वचा उतर जाती है) तो उसे घृष्ट व्रण कहते हैं। इसमें से सीरमी स्राव (Serum discharge) निकलता है तथा दाह एवं पाक होता है। सीरमी स्राव पानी के समान पतला, आम गन्ध युक्त तथा पीले वर्ण का होता है।

साध्यासाध्यता (prognosis) :

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः॥ सु० चि० 2

साध्यता—कोष्ठ के विदीर्ण होने पर यदि रोगी के मल, मूत्र एवं वायु का अवरोध न हुआ हो तथा रोगी स्तब्धता के लक्षणों से रहित हो तो रोगी जीवित रहता है अर्थात् रोग साध्य होता है। ऐसा उस अवस्था में होता है जब आन्त्रादि के विदीर्ण होने पर वपा (Omentum) आगन्तुज व्रण को तुरन्त बन्द (seal) कर देती है। इससे आन्त्रघात (Paralytic ilius) नहीं होता तथा पर्युदर्या शोफ (Peritonitis) जैसे उग्र उपद्रवों से भी रोगी बच जाता है तथा रोगी के मल, मूत्र एवं वायु अपने मार्ग से ठीक से आते रहते हैं।

असाध्यता—विद्ध व्रण के कारण यदि आशय रक्त से भर जाए, रोगी को अधिक स्वेद आए, हाथ पांव ठंडे हो जाएं, शरीर पीला पड़ जाए, आध्मान होने लगे, मलमूत्र का अवरोध होने लगे तथा मूर्च्छा, उच्छ्वास जैसे उपद्रव उत्पन्न हो जाएं (अर्थात् आन्त्रघात तथा स्तब्धता हो जाए) तो उस व्रण को असाध्य जानना चाहिये।

कोष्ठेभिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मूत्रमार्गगदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति।
मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदस्रावोऽभिरक्ता॥ सु० चि० 2

इसके अतिरिक्ति, पक्वाशय से पुलाकोदक के समान स्राव असाध्य है

रक्ताशय से क्षारोदक के समान स्राव असाध्य है, आमाशय और त्रिक से मटर के पानी के समान स्राव असाध्य होता है।

चिकित्सा—

वेदना के लिए—छिन्न-भिन्न, विद्ध तथा क्षत, इन चारों प्रकार के व्रणों में रक्तस्राव अधिक होने से वायु प्रकुपित होती है, जिस कारण वेदना अधिक होती है। वेदना शांति के लिए रोगी को स्नेह पान करायें, कोष्ण घृत या तैल (बला तैल) से परिषेक करें, स्निग्ध आलेप से कोष्ठ को सेक दें तथा एरण्डादि वातनाशक औषधियों से सिद्ध स्नेहों की वस्ति दें।

पिच्चित तथा घृष्ट व्रणों में रक्त अधिक नहीं निकलता इस कारण उनमें दाह तथा पाक विशेष होता है, अतः उन पर शीतल आलेप या परिषेक करना उचित है।

नोट—सद्यः व्रण पर मधु तथा घृत लगाना चाहिए। यदि 7 दिन तक व्रण में शुद्ध व्रण के लक्षण उत्पन्न न हों तो उसकी चिकित्सा दुष्ट व्रण के समान करनी चाहिए।

(1) छिन्न व्रणों की चिकित्सा—(i) अधिक चौड़े मुख वाले व्रणों को शुद्ध करने के पश्चात् उनका सीवन कर्म कर देना चाहिये। सीवन कर्म (Primary closure) आघात लगने के 6 घण्टे (hours) के अन्दर कर देना चाहिए, अन्यथा इस अवधि के पश्चात् संक्रमण का वर्द्धन (growth) होकर शोफ प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

(ii) कटे हुए कान को अपने स्थान पर बैठा (Approximate) करके सीवन कर्म करें तथा रोगी के कान में तैल भर दें, (इससे व्रण पर तैल की परत आ जाने से संक्रमण का भय नहीं रहता)।

(iii) ग्रीवा के पीछे तक कट जाने से जब वायु बाहर को निकलने लगे अर्थात् श्वास नलिका कट जाए) तो ग्रीवा को अच्छी तरह बैठाकर सीवन कर्म करें। फिर अजा घृत से परिषेक करें। इस कर्म से सीवन स्थान घृत से अलिप्त हो जाता है जिससे संक्रमण नहीं होता तथा व्रण में कोमलता बनी रहती है। रोगी को चित लेटाकर तथा उसे इसी स्थिति में अन्न खिलायें (बैठने न दें) तथा रात्रि को भी ध्यान रखें कि ग्रीवा हिलने न पाये।

(iv) हाथ पांव कट जाने पर सब संरचनाओं को अपने स्थान पर बैठाकर सीवन कर्म कर दें तथा फिर उसे तैल से सिञ्चित करके वेल्लितक बंध बांध देना चाहिए।

(v) वक्ष में व्रण होने पर रोगी को उल्टा लेटायें तथा पीठ में व्रण होने पर सीधा लेटाएं। ऐसा करने से व्रण से स्राव एवं रक्त बाहर आ जाता है तथा व्रण

से रक्त का गुल्म (Heamatoma) नहीं बनता। संधान, स्कंदन, दहन तथा पाचन कर्मों द्वारा रक्त स्राव बन्द करके सीवन कर्म करें। फिर कोमल स्थान पर 5 दिन पश्चात् तथा अन्य स्थानों पर 7–9 दिन पश्चात् टांके काटकर सूत्रों को निकाल दें।

(vi) शाखा के पूर्ण रूप से अलग हो जाने पर व्रण (अतिपातित व्रण) को उष्ण तैल से दग्ध करके वहाँ कोश बन्ध बाँध दें। इससे रक्त स्राव बन्द हो जाता है तथा व्रण स्थान में निर्जीवाणुकरण (Sterilization) भी हो जाता है।

(vii) जिन व्रणों में सीवन कर्म न किया गया हो उनमें चन्दन, हरिद्रा, प्रियङ्गु एवं लोध्रादि रोपण द्रव्यों से सिद्ध घृत या सिद्ध तैल द्वारा रोपण कर्म करना चाहिए।

(2) **भिन्न व्रणों की चिकित्सा**—(i) सर्वप्रथम भिन्न व्रणों से निकल रहे रक्तस्राव को बन्द करें, फिर आशय में सञ्चित रक्त को निकालें। रक्ताल्पता होने पर रक्त की पूर्ति के लिये रक्ताधान (Blood transfusion) करें और व्रणों का सीवन कर्म द्वारा संधान करें।

(ii) यदि नेत्र गोलक भिन्न होकर बाहर को निकल आए तो उसकी सिराओं को बिना हानि पहुंचाए अपने स्थान पर बैठायें और कमल पत्र से हल्का सा दबाकर मधु तथा घृत से तर्पण करें और घृत की नस्य दें।

(iii) उदर के विद्ध होने पर जब मेद वर्ति (Omentum) बाहर आ जाये तो उस पर कषाय वृक्षों की भस्म (Styptic) लगाकर एवं उसे बाँधकर अग्नितप्त शस्त्र से काट दें, इससे रक्तस्राव बन्द हो जाता है तथा संक्रमण भी नहीं होता। फिर घृत लगाकर पट्टी बाँध दें, इससे वपा अपने से अन्दर चली जाती है।

(iv) आमाशय में रक्त भरने पर वमन करायें तथा पक्वाशय में रक्त भरने पर विरेचन कराएं और गोमूत्र की वस्ति दें। रक्ताल्पता होने पर रोगी को रक्त का पान करायें [आजकल रक्ताधान (Blood transfusion) करते हैं]। रोगी को स्नेह रहित यवागू एवं मांस रस (proteins) खाने को दें।

(v) यदि आन्त्र विदीर्ण हो जाए और बाहर निकल आए तो उसमें व्रण वर्त्मों (wound edges) को मोटी-मोटी चीटियों (Ants) द्वारा कटवायें तथा व्रण के मिल जाने पर चींटियों को गर्दन से काट देना चाहिए। चींटियों का मुख व्रण वर्त्मों को जोड़ने (Approximate) में क्लिप्स (Clips) का काम करता है। आजकल भी शोफयुक्त आन्त्र के घाव का सीवन धागे से नहीं करते, ऐसा करने से व्रण का अवलुञ्चन (Cut through) हो जाता है, अतः इनमें क्लिप्स (Clips) लगाये जाते हैं।

(vi) यदि आन्त्र विद्ध न हुई हो तो उसे धोकर तथा घृत से लिप्त करके धीरे-धीरे उदर में डाल दें निर्जीवाणुकरण (Sterilization) पर पूर्ण ध्यान देना

चाहिये एवं अंगुलियों के नख काटकर ही यह कर्म करना चाहिए। यदि आन्त्र उदर में न जा रही हो तो रोगी को गुदगुदी करें या शीतल जल से कम्पकम्पी उठायें या उसके दोनों हाथ एवं पांव पकड़कर दो आदमी उसे झूले की गति समान अच्छी प्रकार से हिलायें (इन कर्मों से उदर की पेशियों की ऐंठन में शिथिलता आ जाती है जिससे आन्त्र उदर में प्रविष्ट हो जाती है)। आजकल इस कर्म के लिये पेशी-शिथिलीकरण औषधियाँ (Muscle relaxants) देते हैं। शल्य कर्म के समय आन्त्र को शुष्क न होने दें, उसे गीले कपड़े से ढक कर रखें। यदि इन विधियों से आन्त्र उदर में न जाये तो व्रण को अधिक चौड़ा कर लेना चाहिये। आन्त्र के उलझ जाने (Volvulous) से मृत्यु हो जाती है, अतः इसे सावधानी से अन्दर प्रविष्ट करना चाहिये। फिर व्रण का सन्धान (Approximate) करके पट्टी बाँध दें तथा व्रण पर रोपण तैल लगाते रहें।

(vii) यदि आघात से अण्ड बाहर आ जाये तो उन्हें अण्डकोष में डाल दें तथा तुन्नसेवनी सीवन कर्म द्वारा व्रण का संधान कर्म करके अण्डकोष के ऊपर गोफणा बन्ध बाँध दें तत्पश्चात् उसका व्रणवत उपचार करें।

(viii) सिर में छिद्र हो जाने पर यदि मस्तुलुङ्ग (C.S.F.) बहने लगे तो उसमें बालों की वर्ति डाल दें तथा फिर जैसे-जैसे व्रण का रोपण होता जाये एक-एक बाल निकालते जायें। बालों की वर्ति न देने से रोगी मर जाता है (Due to the loss of C.S.F.)।

(3) **विद्ध व्रण की चिकित्सा** :—विद्ध व्रण में से शल्य को निकालकर अक्रिया-वकाश (Dead space) में तेल से भिगोई वर्ति डाल दें (इससे वहाँ पर स्राव या रक्त का संचय नहीं होता) जब रक्त स्राव बन्द हो जाये तो इसका सद्यः व्रणों सदृश रोपण कर्म करें।। गम्भीर तथा सूक्ष्म व्रणों में जहाँ वर्ति न आ सके उन्हें रक्त रहित बनाकर फिर उनमें पतली सी नाड़ी डालकर उसके द्वारा अणुतैल से सिंचन करें, तत्पश्चात् उसमें रोपण तैलों को डालना चाहिए।

(4) **पिच्चित व्रण की चिकित्सा**—पिच्चित व्रण में भग्न के समान चिकित्सा करें अर्थात् व्रण का शोधन या रोपण घृतों या तैलों द्वारा चिकित्सा करें। अस्थि की चिकित्सा में पहले शीतल उपचार द्वारा वेदना शान्त करें फिर अस्थि को स्वस्थान पर लाकर कुशाओं से स्थिर कर दें।

(5) **क्षत व्रण की चिकित्सा** :—इसमें क्षत विधि से चिकित्सा करें अर्थात् मधु को घृत या तैल में मिलाकर इससे व्रण का अवसेचन करें तथा फिर रोपण कर्म करें।

(6) **धृष्ट व्रण की चिकित्सा** :—इसमें शीतल उपचार से वेदना को शान्त करें, फिर व्रण में रोपण औषधियों का चूर्ण भर दें [अतिविस्तृत धृष्ट व्रणों में क्षीरम

(Serum) निकलने से उसकी कमी हो जाने पर रोगी को सिरा द्वारा सीरम या *प्रोटीन (Inj. Hermin)* दें] । *आयुर्वेद मतानुसार* उसे तैल की द्रोणी में लिटाएं और उसे मांसरस (Flesh proteins) खाने को दें ।

(7) सद्यः व्रण एवं कुष्ठज व्रणों की चिकित्सा :—यह शीघ्रता से (अर्थात् 7 दिन के अन्दर) रोपित नहीं होते, अतः इन व्रणों में दोषज व्रणों के समान चिकित्सा करें । "सद्योव्रणानां सप्तहां पश्चात् पूर्वोत्तमाचरेत् ।।" इनमें पहले रक्तमोक्षण तथा विरेचन द्वारा दोषों को निकालें, फिर व्रण का आरग्वधादि तथा सुरसादि गण के कषायों से प्रक्षालन करें तथा इन्हीं से सिद्ध तैल से या क्षार द्रव्यों के तैल से शोधन एवं रोपण कर्म करें, जैसे—

वातज व्रण में सेंधा, एरण्ड, निशोथ का कल्क, पित्तज व्रण में निशीथ, हल्दी, मुलैठी एवं तिल का कल्क और कफज व्रण में तिल, तेजबल, दन्ती, सज्जीक्षार एवं चित्रक कल्क का प्रयोग करना चाहिये ।

आधुनिक मतानुसार व्रण रोपण काल में होने वाले परिवर्तन

व्रण रोपण काल में हो रहे चयापचय (Metabolic) तथा जीव रासायनिक (Biochemical) परिवर्तनों का ज्ञान व्रण के रासायनिक (Chemical) तथा ऊतीय रासायनिक (Histo chemical) परिवर्तनों से होता है ।

शोफ आघात के 12 घण्टे के पश्चात् उत्पन्न होती है । 24–72 घण्टे तक रक्त के श्वेताणु व्रण में स्थित जीवाणुओं को तथा अन्य मृतोत्तकों (Slough) को तेजी से भक्षण करके व्रण को शुद्ध कर देते हैं । 3–5 दिन में तन्तु प्रसु (Fibroblasts) अत्यधिक मात्रा में निर्मित होते हैं तथा इसी काल में म्यूकोपोलिसैखराईड का भी निर्माण होता है । यह अपरिपक्व रोहणाङ्कुर (Immature granulation) बड़े-2 (छिद्र) व्रणों में तीसरे दिन उत्पन्न होते हैं । इससे रक्त वाहिकाओं का निर्माण होता है । भिन्न व्रणों में इनकी लगभग अनुपस्थिति होने से रक्त वाहिकाओं का भी न के बराबर ही निर्माण होता है । फिर 5–25 दिन तक व्रण में कोलेजन (Collagen) का निर्माण प्रतिदिन बढ़ता जाता है, इससे व्रण का तनाव बल (Tensile strength) अधिक होता जाता है, और एक विशेष स्तर पर आकर इसका निर्माण होना बन्द हो जाता है । म्यूकोपौलिसैखराईडज (Mucopolysaccharides) तथा कोलेजन का आपस में विपरीत सम्बन्ध होता है । अर्थात् जब कोलोजन की अधिक उत्पत्ति होती है तो म्यूकोपोलिसैखराईडज का व्रण में ह्रास होना शुरू हो जाता है तथा जब म्यूकोपोलिसैखराईडज का निर्माण हो रहा होता है उस समय कोलेजन की उत्पत्ति अभी नहीं हुई होती ।

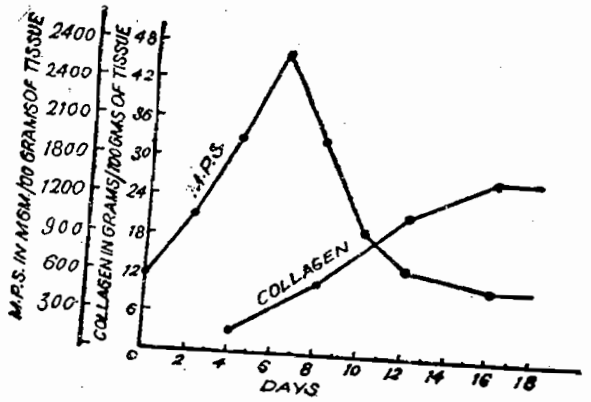

व्रण रोपण काल में जीव रासायनिक परिवर्तन
रेखाचित्र न० 4

आगन्तुज (सद्य) व्रणों के उपद्रव

सद्यः व्रण (Traumatic wound) में विशेष प्रकार के संक्रमण होने पर अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें से निम्न पांच (5) उपद्रव मुख्य हैं ।

(1) कोथ (Gangrene)
(2) ऊतीय शोफ (Cellulitis)
(3) विसर्प (Erysipelas)
(4) धनुस्तम्भ (Tetanus)
(5) जालक व्रण (Actinomycosis)

(1) कोथ

(Gangrene)

वृहद्दर्शक पूतीभवन (Macroscopic putrefaction) के कारण नष्ट हुई ऊतियों को कोथ (Gangrene) कहते हैं ।

हेतु :—

निम्न हेतु कोथ उत्पन्न करने में सहायक होते हैं ।

(i) **आघात**—अत्यधिक आघात (Severe injuries) से उत्पन्न व्रण, पिच्चित व्रण (Crushed injuries), शय्याज व्रण (Bed sores), अवगाढ़ कुशा (Tight splint) से उत्पन्न व्रण तथा विकृत पोषण (Mal-nutrtion) वाले रोगियों के आघातज व्रण इत्यादि अवस्थाओं में ऊतियों में विघटन (Devitalization) अर्थात् कोथ उत्पन्न होती है ।

(ii) रक्तवाहिनियों की व्याधियाँ—रक्तवाहिनियों में अनेक रोग हो सकते हैं जैसे बरजर का रोग, रेनाड का रोग एवं सिराओं की विकृतियाँ इत्यादि।

(क) बरजर का रोग (Burger's disease)—यह व्याधि अधिकतर पुरुषों में पाई जाती है। धूम्रपान से, वृद्धावस्था में धमनियों में कैल्शियम (Calcium) के जमा होने से तथा हृदयान्तावरण शोफ (Endocarditis) से उत्पन्न धमनी अन्तः शल्यता इत्यादि कारणों से धमनियों में शोफ तथा एंठन (Spasm) उत्पन्न हो जाती है। इससे धमनियों का संकोच होकर धमनियों का विवर (Iumen) कम हो जाता है। इस रोग से प्रभावित स्थान पर रक्त की न्यूनता होकर कोथ उत्पन्न होती है।

(ख) रेनाड का रोग (Raynaud's disease)—यह व्याधि प्रायः स्त्रियों में होती है। शाखाओं की धमनियाँ शीत के प्रति सूक्ष्म ग्राही (Sensitive) होने पर धमनियों में ऐंठन तथा संकोच उत्पन्न हो जाता है, इससे उनमें रक्त प्रवाह मन्द पड़ जाता है तथा रक्तवाहिका के अन्तिम पूर्ति प्रान्त में रक्त न्यूनता होकर कोथ उत्पन्न हो जाती है।

(iii) सिराओं की विकृति—गम्भीर शिराओं में घनास्रता उत्पन्न होने से जैसे अपस्फीत सिरा (Varicose vein) में तथा सिरा में सूचीवेध से सिराशोथ उत्पन्न होने से (सिराओं में रक्त परिभ्रमण के अवरुद्ध या अति न्यून हो जाने पर) ऊतियों में कोथ उत्पन्न हो जाती है।

(iv) अन्य रोग—मधुमेह के रोगियों में परिसरीयतन्त्रिका शोफ (Peripheral neuritis) तथा ऊतियों में ग्लुकोस (Glucose) के अधिक मात्रा में आ जाने से, एवं धमनियों में कैल्शियम (Calcium) के जमने से धातुओं में रक्त न्यूनता आ जाती है, इससे संक्रमण ऊतियों में शीघ्रता से फैलकर कोथ उत्पन्न करता है।

(v) संक्रमण—कोथ के जीवाणु (Cl. welchii, the gram positive Anaerobic bacteria and Cl. sporogens) प्रोटीन का विघटन (Porteolysis) करते हैं तथा अमोनिया और सल्फेरेटिड हाइड्रोजन (Ammonia and sulpherated hydrogen) उत्पन्न करते हैं। इनका व्रण पर संक्रमण होने से उनसे उत्पन्न हुई गैस पेशियों में भर जाती है। गैस का रक्त वाहिनियों पर दाब पड़ने से उनमें रक्ताल्पता उत्पन्न होकर कोथ उत्पन्न हो जाती है। कोथ के जीवाणु पुरुष के मल (Faeces) एवं गन्दे कपड़ों में रहते हैं, इसीलिये सुश्रुत ने व्रण को शुद्ध रखने को तथा व्रणित को पवित्र वस्त्रादि पहनाकर रखने के लिये कहा है।

लक्षण

कोथ में दो प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं।

I सार्वदैहिक लक्षण

II स्थानीय लक्षण

I सार्वदैहिक लक्षण—(i) कोथ से प्रभावित अंग के क्रियाशील होने पर (जैसे चलने इत्यादि से) ऊतियों में ऑक्सीजन की न्यूयनता हो जाती है (रक्त प्रवाह के मन्द होने से), इससे पेशियों में एंठन (Spasm) आती है तथा तीव्र वेदना होने लगती है।

(ii) रक्त सञ्चार में मन्दता आ जाने से प्रभावित अंग में विश्राम काल में भी वेदना रहने लगती है।

(iii) संक्रमण जन्य कोथ में विषाक्तता (Toxaemia) होने से ज्वर, वमन तथा रक्त भार में ह्रास इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

II स्थानीय लक्षण—(i) प्रभावित अंग में हिमोग्लोबिन (Haemoglobin) के विघटन (Disintegration) होने से विवर्णता (Discolouration) उत्पन्न हो जाती है।

(ii) धमनियों में स्पन्दन समाप्त हो जाता है तथा केशिकाओं में रक्त की अनुपस्थिति हो जाने से त्वचा को दबाने पर त्वचा के रंग में कोई परिवर्तन नहीं आता।

(iii) प्रभावित स्थान पर ऊष्मा का अभाव (Loss of heat) रहता है।

(iv) संवेदना समाप्त (Loss of sensation) हो जाती है।

(v) प्रभावित अंग में क्रिया का अभाव (Loss of function) हो जाता है।

थोड़े स्थान में कोथ होने पर मृतोतियों (Dead tissues) का शोषण हो जाता है। विस्तृत कोथ होने पर तथा साथ में संक्रमण रहने पर वहाँ की मृतोतियों का पूय भवन होकर वह पूति के रूप में शरीर से (Slough out) बाहर निकल जाती है।

भेद :

कोथ आर्द्र तथा शुष्क भेद से दो प्रकार की होती है। निम्न तालिका में इन दोनों में भेद दिखाया गया है।

शुष्क तथा आर्द्र कोथ में भेद

शुष्क कोथ	आर्द्र कोथ
(i) इसमें रक्त प्रवाह धीमे-धीमे कम होता है।	(i) सिरा धमनी इत्यादि का मार्ग सहसा बन्द हो जाता है।
(ii) इसमें संक्रमण का अभाव होता है।	(ii) इसमें संक्रमण उपस्थित रहता है।
(iii) अंग शुष्क या स्निग्ध झुर्रियों से युक्त होता है।	(iii) इसमें काले छाले पड़ जाते हैं तथा दुर्गन्ध आती है।
(iv) इसमें सीमा निर्धारण रेखा (Demarcation line) नहीं होती।	(iv) इसमें सीमा निर्धारण रेखा रहती है।
(v) विषाक्तता (Toxaemia) के लक्षण नहीं होते।	(v) संक्रमण के विषों के शोषण होने से विषाक्तता के लक्षण, जैसे ज्वर, वमनादि उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा :

कोथ की चिकित्सा इसके उत्पादक कारण तथा इसकी अवस्थाओं पर निर्भर करती है जैसे—

(i) **मधुमेह**—मधुमेह के रोगी में कोथ होने पर उसे मधुमेह की चिकित्सा देनी चाहिये। प्रभावित अंग को पूर्ण विश्राम दें तथा संक्रमण के अनुसार प्रति-जीवाणु औषधि (Antibiotic) का प्रयोग करें। सीमा निर्धारण रेखा के बनने पर उस रेखा से अंगविच्छेद (Amputation) कर देना चाहिये। यदि यह रेखा न बनी हो तो मृतोतकों (Slough) का स्थानीय छेदन (Excision) कर दें। व्रण के रोपण होने तक पूतिरोधक द्रव्यों (Antiseptics) से उसका प्रक्षालण करते रहना चाहिये।

(ii) **प्रमेह पिड़िका** (Carbuncle)—यदि प्रमेह पिड़िका आकार में बढ़ रही हो तो इसका छेदन (Excision) कर देना चाहिये तथा रोगी को प्रतिजीवाणु औषधियाँ (Antibiotics) देते रहें। पीड़ा शान्त करने के लिए इनफ्रारैड (Infra-red) किरणों का प्रयोग करें। व्रण पर मैंगनीशियम सल्फेट और ग्लिसरीन ($MgSO_4$ + Glycerine) के घोल को लगाएं और रोगी को खाने के लिये विटामिन एवं लोहयुक्त पदार्थ देने चाहियें।

(iii) **सिरा अन्तः शल्य**—सिरा में अन्तः शल्य (Embolus) होने पर

उसका छेदन कर्म (Embulectomy) कर दें। कटी हुई धमनी का सन्धान (Repair) कर दें। हेपारिन (Heparin) के सूचीवेध द्वारा रक्तस्कंदन की क्रिया को दबाए रखें तथा धमनियों को प्रसारित अवस्था में रखें (By Ponicol i. e. Nicotinyl alcohal tartrate 25 to 50 mgs. orally 4 times daily)। सीमा निर्धारण रेखा बनने पर अंग विच्छेद (Amputation) कर देना चाहिए।

(iv) यदि कोथ संक्रमण युक्त हो तो व्रण को यूसोल (Eusol) तथा हाइड्रोजन पराक्साइड (Hydrogen peroxide) से प्रक्षालन करें। मृतोतकों (slough) का छेदन या अंगविच्छेद कर दें। रोगी को ए० जी० एस सीरम को सूची वेध से दें (Injection anti gas gangrene serum 50,000 to 1 0,000 units)। द्वितीय संक्रमण (Secondary infection) होने पर पोलीवेलैन्ट का सूचीवेध (Injection Polivalent antitoxin 12,5 0 units I M.) दें या अन्य प्रति-जीवाणु औषधियाँ (antibiotics) देनी चाहिये।

[2] ऊतीय शोफ

(Cellulitis)

यह अधःत्वचा में प्रसरित होने वाली शोफ प्रायः पूयभवन (Suppuration) में परिवर्तित हो जाती है। इसका उत्पादक जीवाणु [स्ट्रेप्टो काकस (Streptococcus)] छोटे-छोटे व्रणों द्वारा अधः त्वचा तक पहुंचकर फिर हीन प्रतिरोधक शक्ति (Low resistance) वाले पुरुषों (मधुमेही, प्रमेही इत्यादि) में ऊतीय शोफ उत्पन्न करता है।

लक्षण :

इसमें त्वचा पर रक्तिमा, कण्डू, तीव्र वेदना, शोफ, स्पर्श-असह्यता (tenderness), ज्वर तथा शीतता (rigor) इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा

(i) रोगी को पौष्टिक आहार दें।

(ii) पैन्सिलीन (Penicillin) या अन्य उपयुक्त प्रतिजीवी औषधियों (Antibiotics) द्वारा चिकित्सा करें।

(iii) पूयोत्पादन होने पर भेदन कर्म द्वारा पूय का विस्रावण कर दें तथा पूयविरोधी (Antiseptic) मरहमों का स्थानीय प्रयोग करें।

(iv) प्रभावित स्थान पर लसिका परिभ्रमण बढ़ाने के लिए 5 प्रतिशत उष्ण लवण जल से अवगाह (5% Hot saline bath) करें।

(v) मधुमेह या प्रमेह जैसे (Urinary insufficiency) रोग होने पर इन रोगों की आवश्यक चिकित्सा भी साथ-साथ करनी चाहिए।

[3] विसर्प

(Erysipelas)

यह अधःत्वचा में प्रसरित होने वाली व्रणशोथ है। विसर्प व्याधि हीन-प्रतिरोध-शक्ति (Low resistance) वाले तथा कृश रोगियों में, स्ट्रेप्टो काकस हिमोलाईटिक (Streptococcus haemolytic) के संक्रमण होने से उत्पन्न होती है।

लक्षण :

इसमें स्थानीय शोफ, रक्तिमा, स्पर्श-असहता (Tenderness), श्वयथु (Oedema) तथा त्वचा फफोलों (Blebs) से युक्त हो जाती है। रोगी में अङ्गमर्द, (Rigor) तथा ज्वरादि लक्षण ऊतीय शोफ (Cellulitis) के समान मिलते हैं। इससे त्वचा में कोथ(Gangrene) भी हो सकती है। इसमें लसिका वाहिनियों के मुख पर तन्तुमयता (Fibrosis)होने से उनका मुख बन्द हो जाता है जिससे दीर्घ स्थाई श्वयथु (Persistent oedema) उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सा :

यह रोग संसर्ग (Contact) से फैलता है इसलिए विसर्प के रोगी को अलग (Isolate) ही रखना चाहिये। रोगी को पैन्सिलीन (Penicillin) या अन्य उपयुक्त प्रतिजीवाणु औषधियां (Antibiotics) देनी चाहिए। मैग्नीशियम सल्फेट ($MgSO_4$) का स्थानीय प्रलेप करें तथा वेदना के लिए इक्थियोल मरहम(Ichthyol ointment) लगाएं। विसर्प का स्थानीय प्रसार रोकने के लिए प्रभावित स्थान (Affected area) की अलट्रावायलट (Ultraviolet) किरणों द्वारा चिकित्सा करें।

[4] धनुस्तम्भ

(Tetanus)

यह रोग धनुस्तम्भ के जीवाणु (Clostridium tetani) द्वारा व्रण में संक्रमण होने पर उत्पन्न होता है। यह जीवाणु खाद युक्त मिट्टी में बहुतायत में रहता है। यह वात निपेक्षी (Anaerobic) होने से मृतोतकों (slough) में अधिक क्रियाशील रहता है।

भेद

यह रोग लाक्षणिक दृष्टि (Clinically) से चार प्रकार का होता है—

(i) तीव्र (Acute)

(ii) जीर्ण (Chronic)

(iii) विलम्बि (Delayed)

(iv) स्थानीय (Local)

इन भेदों के अतिरिक्त धनुस्तम्भ को निम्न प्रकार से भी विभाजित किया जाता है—

(v) शिरोगत धनुस्तम्भ (Head tetanus)

(vi) बलबार धनुस्तम्भ (Bulbar tetanus)

(vii) नवजातगत धनुस्तम्भ (Tetanus neonatorum)

लक्षण :

(i) तीव्र धनुस्तम्भ (Acute tetanus)—इसका उद्भव काल (Incubation period) 15 दिन से भी कम होता है। इसमें सर्वप्रथम बेचैनी होती है तथा तापमान (Temperature) और नाड़ी (Pulse) की गति कुछ अधिक हो जाती है। 24 घण्टे के पश्चात् मांसपेशियों में ऐंठन आनी शुरू हो जाती है, जो पहले पीठ पर फिर गर्दन व हनु की पेशियों पर और इसके पश्चात् चेहरे की पेशियों पर आती है। इस अवस्था को राईसस सारडोनिकस (Risus Sardonicus) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें चेहरे की आकृति एक विशेष प्रकार के बन्दर के चेहरे सदृश बन जाती है। अन्त में ऐंठन सम्पूर्ण शरीर गत पेशियों में फैल जाती है। इससे रोगी धनुष (Opisthotonus) के समान शय्या पर शिर और एड़ी के बल लेटा रहता है। ऐंठन के वेग इतनी तीव्रता से आते हैं जिससे कि पेशियाँ भी विदीर्ण (Rupture) हो जाया करती हैं। इसमें मृत्यु का कारण हृदय की गति का अवरोध (Cardiac arrest), श्रान्ति (Exhaustion) या फिर श्वास की पेशियों में ऐंठन आने से श्वासावरोध होता है।

कुचले की विषाक्तता (Strychnin poisoning) से भी पेशियों में ऐंठन आती है, परन्तु यह शाखाओं से प्रारम्भ होती है तथा इसके दो आक्षेप के वेगों के बीच में पेशियाँ बिल्कुल शिथिल हो जाती हैं, जबकि धनुस्तम्भ के दो वेगों के बीच में पेशियाँ पूर्ण रूप से शिथिल (Relax) नहीं होतीं।

(ii) जीर्ण धनुस्तम्भ (Chronic tetanus)—इसकी उद्भव काल (Incubation period) 2 से 6 सप्ताह तक होता है तथा इसमें लक्षण भी तीव्र-धनुस्तम्भ की अपेक्षा कम तीव्र होते हैं।

(iii) विलम्बि धनुस्तम्भ (Delayed tetanus)—इस व्याधिका

संक्रामक जीवाणु व्रण रोपण होने पर भी व्रण चिन्ह के तन्तुओं में देर तक पड़ा रहता है। कई वर्ष के पश्चात् वहाँ पर पुनः आघातज व्रण बनने से संक्रमण फिर से क्रियाशील हो जाता है, इससे उत्पन्न धनुस्तम्भ को विलम्बि धनुस्तम्भ कहते हैं।

(iv) स्थानीय धनुस्तम्भ (Local tetanus)—इसमें धनुस्तम्भ के रोगी का सर्व शारीरगत विष तो ऐण्टिटैट्नस-सीरम (Anti tetanus serum i.e.A.T.S.) के सूचीवेध से समाप्त हो जाता है परन्तु व्रण में पड़े संक्रमण से उत्पन्न हो रहा विष आस-पास की पेशियों की तन्त्रिकाओं (Nerves) पर प्रभाव करता रहता है। इससे केवल स्थानीय पेशियों में ऐंठन होती है।

(v) शिरोगत धनुस्तम्भ (Head tetanus)—जब चेहरे के आघात इन जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होते हैं तो इनसे उत्पन्न विष चेहरे की तन्त्रिकाओं (Nerves) से होते हुए मस्तिष्क में जाते हैं। विषों के प्रभाव से इन तन्त्रिकाओं की Sheaths में शोफ (Inflammation) उत्पन्न हो जाती है। इससे उन तन्त्रिकाओं द्वारा संचालित पेशियों में हल्का सा घात (Paralysis) उत्पन्न हो जाता है।

(vi) **बलबार धनुस्तम्भ** (Bulbar tetanus)—यह संक्रामक जीवाणु के मुख द्वारा निगले जाने पर उत्पन्न होता है, इसमें ऐंठन के वेगों का प्रारम्भ आशयों से होता है। इसमें ऐंठन सर्वप्रथम श्वास की पेशियों से प्रारम्भ होती है, इससे रोगी की श्वासावरोध होकर तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

(vii) **नवजातगत धनुस्तम्भ** (Tetanus neonatorum)—शिशु की नाभि नाल (Umblical cord) के व्रण द्वारा संक्रमण होने से उत्पन्न धनुस्तम्भ को नवजातगत धनुस्तम्भ कहते हैं।

चिकित्सा :

(i) **रोगविरोधी चिकित्सा** (Prophylactic treatment)—इस रोग की निरोधक चिकित्सा के लिए टैट्नस टाक्साईड (Tetanus toxoid) को सूची वेध द्वारा पेशी में देते हैं। फिर 8 सप्ताह पश्चात् इसका सूचीवेध पुनः करते हैं। इसके पश्चात् 9 मास बाद और फिर 4 वर्ष पश्चात् (Recall dose) पुनः देते हैं। रोग निरोधक चिकित्सा हो जाने के पश्चात् यदि किसी को सद्यः व्रण उत्पन्न होता है तो 12 वर्ष से बड़ी आयु में ए० टी० एस० 1,500 युनिटस (Inj. A. T. S. 1,500 units) मात्रा को सूची द्वारा पेशी में दें और बच्चों में इसकी 750 यूनिट्स की मात्रा दें।

(ii) **रोगी की चिकित्सा**—(क) धनुस्तम्भ के रोगी को अंधेरे कमरे में लेटा कर रखें, इससे रोगी कम से कम उत्तेजित होता है।

(ख) ब्रोमाईड्ज या पैरलडिहाईड (Bromides or paraldehyde) द्वारा रोगी को शान्त (Sedate) रखें।

(ग) रोगी को सिरा द्वारा पोषण पदार्थ (Glucose saline, proteins etc.) दें, या राईल की नलिका (Ryle' s tube) को नासिका द्वारा आमाशय में डालकर उससे तरल पोषक पदार्थ दें।

(घ) रोगी को माईनेसिन (Myanesin 0·5-1·0 grams) चार-चार घन्टे पश्चात् देते रहें, इससे रोगी संज्ञानाश की स्थिति में पड़ा रहता है।

(ड.) श्वास प्रणाली में नासाद्वारा रबड़ की 'नासा-अन्तः-श्वास-नलिका' (Nasotracheal tube) डालकर रोगी के श्वास पर पूर्ण नियन्त्रण रखें या फिर ट्रिक्योस्टोमि (Tracheostomy) कर देनी चाहिए।

(च) ए० टी० एस० की 100,000 अन्तर्देशीय यूनिट्स मात्रा (Inj. A. T. S. 100,000 international units) को आधा पेशी गत सूचीवेध से दें तथा आधा सिरा द्वारा दें। यह मात्रा 7 दिन तक रक्त में बराबर बनी रहती है। आवश्यकता होने पर 50,000 यूनिट्स और दे दें।

(छ) रोग का उद्भवन काल (Incubation period) जितना कम होता है रोग उतना ही अधिक भयानक होता है, इसलिए कम उद्भवन काल होने पर चिकित्सा शीघ्रता से करनी चाहिए।

जालक व्रण

(Actinomycosis)

यह रोग व्रण के स्ट्रेप्टोथरीक्स एक्टिनोमाईसिस (Streptothrix actinomyces) से संक्रमित होने पर होता है। इसका व्रण गन्धक के कण (Sulpher granules) से भरा हुआ प्रतीत होता है। इन कणों को सूक्ष्य दर्शीयन्त्र (Microscope) द्वारा देखने पर ये विषम रूप से बिखरी हुई Match sticks के समान अर्थात् एक विशेष आकृति में दिखाई देता है। यह व्रण धीरे-धीरे पास की धातुओं में फैलने वाला, कठिन (Indurated) तथा अनिश्चित वर्त्म (Indefinite edges) वाला होता है। यह चेहरे, ग्रीवा, वक्ष तथा उदर पर अधिक होता है। इसमें द्वितीय संक्रमण (Secondary infection) होने पर इससे पूय स्राव निकलने लगता है।

चिकित्सा :

रोगी को स्ट्रेप्टोमाईसीन एवं पैनिसिलीन (Streptomycin and penicillin) को दीर्घकाल तक देते रहें। आयोडीन युक्त दुग्ध (Iodised milk) दें। व्रण

का छेदन (Excision) कर दें। व्रण के जीर्ण (Chronic) होने पर गम्भीर क्ष-किरण (Deep X-ray) का प्रयोग करना चाहिये।

दग्ध व्रण

(Burns)

तापजन्य आघात (Thermogenic injuries), चाहे यह शीत से उत्पन्न हो या उष्णता (उष्ण जल, भाप, वस्त्रों की आग से, पिघली हुई धातुओं से, रासायनिक पदार्थ, बिजली इत्यादि) इन दोनों से एक जैसी मूल विकृति (Basic pathology) उत्पन्न होती है। इन दोनों प्रकार के आघातों को आजकल दग्ध व्रण के अन्तर्गत मान लिया गया है। सुश्रुत ने हजारों वर्ष पूर्व अति शीत से उत्पन्न आघात को भी दग्ध का ही एक भेद माना था यही नहीं, धूम से प्रभावित (Chocking in fumes) रोगी को भी धूम दग्ध कह कर इसे भी दग्ध का ही एक भेद माना है।

भेद :

(1) **रोग लाक्षणिक दृष्टि के अनुसार** (Clinically)—दग्ध व्रण चार प्रकार का होता है (i) त्वक् दग्ध (ii) मांस दग्ध (iii) सिरा स्नायु दग्ध (iv) अस्थि सन्धि दग्ध।

(2) **दग्धांश के अनुसार** (Degree of burn)—दग्ध व्रण चार प्रकार का होता है। (i) प्लुष्ट दग्ध (ii) दुर्दग्ध (iii) सम्यक् दग्ध (iv) अति दग्ध।

(3) **हेतु अनुसार**—हेतु अनुसार दग्ध व्रण छः प्रकार का होता है।

(i) रूक्ष दग्ध (ii) स्निग्ध दग्ध (iii) शीतलवर्षानिल दग्ध (iv) वज्राग्नि दग्ध (v) धूम दग्ध (vi) उष्णवात या आतप (धूप) दग्ध।

(i) **त्वक् दग्ध**—इसमें दग्ध की उत्पत्ति (बालों के जलने से होती है), दुग्धता तथा त्वचा का संकोच होता है। प्रथमांश दग्ध तथा द्वितीयांश दग्ध में भी त्वचा प्रभावित होती है (Skin is involved in Ist and 2nd degree burn)।

(ii) **मांस दग्ध**—इस दग्ध में मांस कबूतर के समान वर्ण का हो जाता है। यह व्रण थोड़ा शोफ व वेदना युक्त तथा शुष्क और संकुचित हो जाता है। यह अवस्था तृतीयांश दग्ध व्रण के अनुरूप होती है।

(iii) **सिरा स्नायु दग्ध**—इसमें दग्ध स्थान काले वर्ण का एवं ऊपर को उठा हुआ रहता है तथा व्रण स्राव का निरोध होता है (Complete burn of nerve vessels and tendons)। यह तृतीयांश दग्ध की उन्नत अवस्था है।

(iv) **अस्थि सन्धि दग्ध**—इसमें दग्ध स्थान पर रूक्षता, लालिमा, कर्कशता तथा कठिनता आ जाती है। यह भी तृतीयांश दग्ध की उन्नत अवस्था के समान होता है।

(2) **दग्धांश के अनुसार** (Degree of burn) दग्ध अंश के अनुसार दग्ध व्रण चार प्रकार का होता है।

(i) **प्लुष्ट दग्ध**—इसमें त्वचा में विवर्णता आ जाती है जैसे प्रथम अंश दग्ध (Ist degree burn) में त्वररक्तिमा (Erythema) युक्त होती है।

(ii) **दुर्दग्ध**—इस अवस्था में त्वचा पर छाले उठ आते हैं, दग्ध स्थान में शोफ, चोष, पीड़ा, लालिमा तथा पाक उत्पन्न हो जाता है। [द्वितीयांश दग्ध व्रण (2nd degree burn) में भी त्वररक्तिमा के साथ त्वचा पर फफोले (Blisters) पड़ जाते हैं]।

(iii) **सम्यक् दग्ध**—इस दग्ध में व्रण पके हुए ताल फल के समान लाल वर्ण का, स्थिर, स्राव रहित तथा रूक्षता इत्यादि सिरा स्नायु दग्ध के लक्षणों से युक्त रहता है। तृतीयांश दग्ध व्रण (3rd degree burn) में त्वचा की सब परतें (layers) पूर्णतया जल जाती हैं तथा तीव्र ताप से त्वचा कृष्ण वर्ण की (Chard) हो जाती है।

"तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च।
तस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम्॥" सु० सू० 11

(iv) **अति दग्ध**—इस दग्ध व्रण में गम्भीर धातुयें भी जल जाती हैं तथा शरीर की धातुओं का विघटन होता है। इसमें मांस लटक जाता है तथा स्नायु, अस्थि सन्धि इत्यादि सब रचनायें गहराई तक नष्ट हो जाती हैं। अतः दग्ध रोगी में ज्वर, दाह, प्यास, मूर्च्छादि उपद्रव होते हैं। यह दग्ध अवस्था तृतीयांश दग्ध व्रण के समान अति गम्भीरावस्था होती है।

(3) **हेतु के अनुसार**—हेतु के अनुसार दग्ध व्रण छः प्रकार का होता है—

(i) रूक्ष दग्ध (ii) सिनग्ध दग्ध (iii) शीतवर्षानिल दग्ध (iv) वज्राग्नि दग्ध (v) धूम दग्ध (vi) उष्णवात या आतप दग्ध।

(i) **रूक्ष दग्ध**—उष्ण लौहादि पदार्थों (सीधे अग्नि सम्पर्क से तथा विद्युत से उत्पन्न दग्ध, रूक्ष दग्ध के अन्तर्गत आते हैं) से उत्पन्न दग्ध को रूक्ष दग्ध कहते हैं।

(ii) **स्निग्ध दग्ध**—उष्ण तरल या उष्ण स्निग्ध पदार्थों से [रासायनिक दाहक पदार्थ (Chemicals caustics) तथा अम्ल (Acids) स्निग्ध दग्ध के अन्तर्गत आ जाते हैं] उत्पन्न व्रण को स्निग्ध दग्ध (Scalds) कहते हैं। उष्ण तरल पदार्थ सूक्ष्म वाहिनियों में प्रवेश करने से वे धातुओं को शीघ्रता से नष्ट कर देते हैं, इसलिए स्निग्ध दग्ध में वेदना अधिक होती है।

(iii) **शीतवर्षानिल दग्ध**—हिम युक्त पर्वतों से आने वाली अतिशीत वायु शरीर की धातुओं को नष्ट करके लसिकाययय शोफ (Oedema) तथा विस्फोट (Blisters

उत्पन्न करती है। शीत दग्ध (Frost bite) - 4°C तापमान से होता है। इससे धमनियों तथा केशिकाओं में ऐंठन आ जाती है जिससे वे संकुचित हो जाती हैं। वाहिनियों के संकोच जन्य अवरोध से स्थानीय अरक्तता (Ischaemia) तथा ऊति-नाश (Necrosis) हो जाता है। इससे केशिकाओं (Capillaries) की अन्तः कला (Endothelium) का ऊतिनाश हो जाने से फफोले (Blisters) [जो कोशिकाओं से प्लाज्मा के बाहर आने से बनते हैं] उत्पन्न हो जाते हैं।

(iv) वज्राग्नि दग्ध—वज्राग्नि (Lightning) के गिरने से दग्ध होने पर यदि रोगी बच जाए तो उसकी तुरन्त स्निग्ध तथा शीत चिकित्सा करनी चाहिए।

(v) धूम दग्ध (Suffocation due to fumes)—घर में आग लगने से यदि कोई पुरुष उसके धुएं में कुछ देर तक रह जाए तो इससे उत्पन्न अवस्था को धूम दग्ध कहते हैं। इससे श्वास कृच्छ्रता, अधिक छींकें, आध्मान, कास, आँखों में जलन, श्वास में धूम की गन्ध- शब्द, तथा रस का ज्ञान होना नष्ट हो जाता है। तृषा, दाह, ज्वर और मूर्च्छा होती है। धूम्र में कार्बन मोनो ऑक्साइड (CO) बहुत अधिक मात्रा में रहती है। इस गैस से विषाक्तता (Poisoning) होने पर यह गैस (gas) हिमो-ग्लोबिन (Haemoglobin) से मिलकर उसकी ऑक्सीजन (O_2) वहन करने की क्षमता नष्ट कर देती है। इससे शरीर में ऑक्सीजन की कमी आ जाने से मूर्च्छा होकर तुरन्त मृत्यु हो जाती है।

(iv) ऊष्माघात या आतप दग्ध (Heat stroke)–धूप या उष्ण वायु में अधिक देर तक रहने से तृषा, दाह, मूर्च्छा, ज्वरादि पित्त प्रकोप के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

ऊष्माघात (Heat stroke) से हाईपोथैलेमस (Hypothalamus) में स्थित ताप नियन्त्रण केन्द्र (Heat regulating centre), के क्रियाविहीन (Fail) होने से स्वेदाभाव (Loss of sweating), ज्वर (ज्वर 104°F से 107° तक), मूर्च्छा (Unconsciousness), शिर-शूल, वमन,भ्रम (Giddiness), आक्षेप (Convulsions), त्वचा रक्त वर्ण की रूक्ष (Dry) तथा नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है इसमें दृष्टि का भी भ्रम हो जाता है और आंखों में अनेक प्रकार के प्रकाश क दिखाई देने लगते हैं।

ऊष्मा जन्य ऐंठन (Heat cramps)—धूप व उष्णवात से, अग्नि के पा बैठने से, परिश्रम करने से एवं व्यायाम करने से अधिक स्वेद आता है। स्वेद के सा शरीर में से लवण (Salts) भी निकल जाते हैं। शरीर में लवण की कमी से ऐच्छि पेशियों (Voluntary muscles) में ऐंठन (Cramps) आने लगती है। त्वचा शी तथा गीली रहती है, परन्तु शरीर का तापमान सामान्य रहता है।

चिकित्सा :—

अग्नि दग्ध की चिकित्सा, हेतु तथा दग्धांश के अनुसार (consider करके) करनी चाहिये।

(i) प्लुष्ट दग्ध—प्लुष्ट दग्ध में स्विन्न रक्त को पिघलाने के लिये अग्नि कर्म अर्थात् स्वेदन चिकित्सा करनी चाहिये तथा खाने के लिये त्रिकटु रसाञ्जनादि उष्ण औषधियाँ देनी चाहियें।

(ii) दुर्दग्ध—दुर्दग्ध में यदि थोड़ा स्थान जला हो तो उपरोक्त उष्ण क्रिया करनी चाहिए और यदि अधिक स्थान जला हो और दाह, तृषादि लक्षण उत्पन्न हो रहे हों तो शीतघृत का लेप, चन्दन, नागरमोथा, जीवन्ती इत्यादि शीत द्रव्यों के क्वाथ से रोगी को सिञ्चन करना चाहिये। इस दग्ध में पहले उष्ण चिकित्सा से स्विन्न रक्त को पिघलाना चाहिये फिर शीत चिकित्सा करनी चाहिये।

(iii) सम्यक् दग्ध—सम्यक् दग्ध में निरन्तर दाह होती है। इसलिये वंश-लोचन, पिलखन, चन्दन, गेरु, गिलोय इत्यादि शीत द्रव्यों का एवं घृत का लेप करें। या घृत और मधु का लेप, मुलहठी, चन्दनादि शीत द्रव्यों को लेपनार्थ तथा खाने के लिये दोनों प्रकार से प्रयोग करें।

(iv) अति दग्ध—लटके हुए मांस को काटकर निकाल दें तथा पित्तज विसर्प सदृश चिकित्सा करें। चावलों के चूर्ण को पीसकर घृत से लेप करें तथा कमल पत्र से दग्ध स्थान को ढककर रखें।

(v) रूक्ष दग्ध—शीतल औषधियों से साधित घृत तथा तैल से, उपरोक्त वर्णित विधि द्वारा स्थानीय स्निग्ध चिकित्सा करें। खाने के लिये घृतादि स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करें।

(vi) शीतवर्षानिल दग्ध—शीत से प्रभावित अंग में व्यायाम के द्वारा उष्णता उत्पन्न करनी चाहिये। स्थानीय स्वेदन उष्णोपचार करना चाहिये। शीत दग्ध होने के पश्चात् दग्ध की सामान्य चिकित्सा घृत के लेपादि द्वारा करनी चाहिये।

(vii) वज्राग्नि दग्ध—वज्राग्नि दग्ध के पश्चात् यदि रोगी बच जाए तो उसकी उपरोक्त शीत वीर्य औषधियों से निर्मित प्रदेह, प्रलेप, स्नेह, अभ्यंगादि द्वारा चिकित्सा करें।

(viii) धूम दग्ध—(क) सर्वप्रथम रोगी को ऑक्सीजन देनी चाहिये या खुली हवा में लिटायें

(ख) रोगी को वमन करवाकर कोष्ठ की शुद्धि करें।

(ग) मधुर, अम्ल, लवण तथा कटु रस की औषधियों का कवल धारण करायें, इससे इन्द्रियाँ अपना कार्य करने के समर्थ हो जाती हैं।

(घ) खाने के लिये लघु तथा स्निग्ध (दूधादि) भोजन देना चाहिये।

आधुनिक मतानुसार दग्ध के भेद

आग, विद्युत, क्षार व अम्ल रासायनिक पदार्थ, वाष्प एवं उष्ण द्रव्यों से दग्ध उत्पन्न होते हैं, उष्ण द्रव से उत्पन्न दग्ध व्रण को स्निग्ध दग्ध (Scald) कहते हैं। 40°C (104°F) तापमान तक की उष्णता को शरीर की धातुयें सहन कर सकती हैं, 50°C से (122°F) से 55°C के ताप में रक्त के श्वेतकण क्रियाविहीन हो जाते हैं तथा लाल कणों की आकृति में विषमता आ जाती है। इससे अधिक तापमान में (60°C–65°C) के तापमान में) रक्त वाहिनियों में परिवर्तन आते हैं, ये विस्फारित हो जाती हैं तथा केशिकाओं की छछिद्रता (permeability) बढ़ जाती है जिससे लसिकामय शोफ (Oedema) हो जाता है। यह शोफ प्रथम 24 घण्टे में अत्यधिक होती है जिससे तीव्र स्तब्धता (10% burn in children and 14% burn in adults) में हो जाती है। इस अवधि के पश्चात् रक्त के लाल कण केशिकाओं की छछिद्रता में आकर रुक जाते हैं जिससे रक्ताल्पता उत्पन्न हो जाती है (Oedema fluid is high protein fluid, between lymph and plasma)।

55°C का ताप 3 सैकण्ड तक त्वचा के सम्पर्क में रहने से वेदनायुक्त त्वचा में विवर्णता उत्पन्न होती है। 60°C-65° का ताप 3 सैकण्ड तक त्वचा के सम्पर्क में रहने से त्वचा में स्फोट उत्पन्न होते हैं। (Due to death of part of malpighian layer)। 65°C का ताप 3 सैकण्ड तक त्वचा के सम्पर्क में रहने से उपत्वचा (Epidermis) पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है (गम्भीर स्थित स्वेद ग्रन्थियाँ तथा स्वेद वाहिकायें एवं केश कूप (Hair follicles) के नष्ट होने से बच जाने से), इसका रोपण 4-6 सप्ताह में हो जाता है अन्यथा अधिक समय लगता है तथा उपत्वचा व्रण के किनारों से बनकर भीतर को जाती है जिससे व्रण वस्तु (Scar) अधिक बनने से त्वचा की आकृति विकृत (Disfigure) हो जाती है। 70° C ताप पर रक्त वाहिकाओं में रक्त का स्कन्दन हो जाता है। इससे अधिक ताप रहने से त्वचा पूर्णतया नष्ट हो जाती है। Full skin thickness burn को गम्भीर दग्ध (Deep burn) कहते हैं। केवल उपत्वचा के नष्ट होने पर उत्तान दग्ध (Superficial burn) कहते हैं। ताप के अत्यधिक होने पर पूर्ण त्वचा के साथ-साथ मृदु धातुयें (Soft tissues) भी नष्ट हो जाती हैं तथा उनका वर्ण कोयले के समान काला (Carbonised) हो जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से दग्ध व्रण तीन प्रकार का होता है—

(1) प्रथमांश दग्ध (1st degree burn)

(2) द्वितीयांश दग्ध (2nd degree burn)

(3) तृतीयांश दग्ध (3rd degree burn)

(1) प्रथमांश दग्ध :—इस दग्ध में ताप के कारण त्वचा पर केवल विवर्णता उत्पन्न होती है (It is due to vaso-constriction) तथा इसके पश्चात्

वाहिका का विस्फार (Vaso-dilatation) होकर लसिकामय शोफ (Oedema) एवं रक्तिमा (Erythema) उत्पन्न हो जाती है, इसे प्रथमांश दग्ध कहते हैं।

(2) द्वितीयांश दग्ध—इस दग्ध में ताप के कारण त्वचा के दोनों परत (Epidermis and dermis) के बीच में निस्राव (Exudative fluid) इकट्ठा होकर त्वचा के दोनों परतों को अलग करके फफोला अर्थात् विस्फोट (Vesicle) उत्पन्न कर देता है। फफोले के ऊपर की नष्ट हुई त्वचा (Epidermis) दो सप्ताह की अवधि में पुनः उत्पन्न हो जाती है।

(3) तृतीयांश दग्ध—इस दग्ध में तीव्र ताप के कारण या ताप के अधिक समय तक त्वचा के सम्पर्क में रहने के कारण, त्वचा के दोनों परत (Ebidermis and dermis) प्रभावित (affected) हो जाते हैं या फिर नष्ट हो जाते हैं। दो सप्ताह के पश्चात् नष्ट हुई त्वचा शरीर से अलग हो जाती है तथा इससे उत्पन्न व्रण पर रोहणांकुर ऊतक (Granulation tissue) उत्पन्न हो जाते हैं। इन रोहणांकुरों के एपिथीलियम (Epithelium) द्वारा ढके जाने (रोपित हो जाने) पर पहले व्रण चिन्ह (Scar) बनाता है फिर इसके पश्चात् कभी-कभी यह व्रण चिन्ह अति विकसित (Hyper trophied scar or keloid) हो जाता है। इस व्रण चिन्ह के कारण संकोचक (Constrictions) उत्पन्न होकर यह उस स्थान को विकृत (Deform) कर देता है। यदि रोहणांकुरों के उत्पन्न होने पर व्रण पर त्वचा का प्रत्यारोपण (skin grafting) कर दिया जाए तो व्रण चिन्ह बहुत कम मात्रा में बनाता है।

लक्षण :—

प्रथमांश तथा द्वितीयांश दग्ध (Ist degree and 2nd degree burn) में शोथ तथा वेदना अधिक होती है। तृतीयांश दग्ध (3rd degree burn) में त्वचा के दोनों परत (Epidermis तथा dermis) अतः त्वगीय तन्त्रिकाओं (Subcutaneous nerves) के नष्ट हो जाने के कारण वेदना शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। तृतीयांश दग्ध से उत्पन्न गम्भीर व्रण के तल से पलावी (Plasma) के अधिक मात्रा में निस्रावित होने के कारण निर्जलीकरण (Dehydration) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है [Loss of plasma from the wound surface causes high concentration of protein contents in the blood, which increases its osmotic pressure and the intestetial fluid is sucked into the blood capillaries. In case loss of fluid continues, consequently the intra.cellular fluid is also sucked out, thus causing various symptoms of dehydration]। इससे रोगी को प्यास लगती है, शीत भी लग सकती है तथा स्तब्धता (Shock) के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं, रक्त के दाब में ह्रास, नाड़ी की गति में तीव्रता तथा नाड़ी क्षीण होते लगती है, रक्त में जल के कम होने से हिमोग्लोबिन की सान्द्रता बढ़ जाती है (Hameo concentration is increased ,thus increasing the haema-

tocrit value of blood), परन्तु दो सप्ताह पश्चात् लसिकामय शोफ (Oedema) का द्रव रक्त में शोषित होने लगता है। इससे द्वितीय रक्ताल्पता (Secondary anaemia) उत्पन्न हो जाता है, इसलिये दग्ध में रक्ताधान भी करना चाहिये। ऊतियों के नष्ट होने से, उनसे उत्पन्न विषों के शोषण होने से या वहां पर संक्रमण होने से दग्ध से दूसरे सप्ताह में अत्यधिक ज्वर, नाड़ी की गति तीव्र तथा कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। ये लक्षण मृत ऊतकों के विषों के कारण तथा Antigen antibody की प्रति-क्रिया से उत्पन्न होते हैं।

उत्तान तथा गम्भीर दग्ध की जानकारी—दग्ध उत्तान (superficial) है या गम्भीर (Deep) इसकी जानकारी 16–21 दिन पश्चात् ही हो पाती है। यदि व्रण रोपण 16-21 दिन तक न हो तो गम्भीर दग्ध अवस्था मानी जाती है। 16-21 दिन में व्रण रोषण होने पर दग्ध को उत्तान दग्ध कहा जाता है पतली त्वचा में जैसे हाथ या पैर के पृष्ठ भाग में या अण्ड कोष में यदि (i) दग्ध के पश्चात् श्वेत धातु (white coagulated surface) दिखाई दे, (ii) त्वचा को दबाने पर वहां पर त्वचा के वर्ण में अन्तर (Bleaching on pressure) न हो (iii) तथा सुई की नोक चुभने पर वेदना की अनुभूति न हो, तो दग्ध को गम्भीर दग्ध समझना चाहिये। मोटी त्वचा में इन लक्षणों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

साध्यासाध्यता—दग्ध रोगी में साध्यता व असाध्यता (Prognosis) का निर्णय केवल मात्र दग्ध व्रण की गम्भीरता पर ही निर्भर नहीं करता, परन्तु इसके विस्तार पर भी निर्भर करता है। दग्ध विस्तार की जानकारी बायल द्वारा बताए गए रूल ऑफ नाईन (Rule of nine) से होती है। इस नियम के अनुसार शिर तथा प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा 9% वक्ष, उदर तथा प्रत्येक अधः शाखा आगे से 9% तथा पीछे से 9% और एक प्रतिशत (1%) गुह्यांग होता है। दग्ध के 50 प्रतिशत से अधिक होने पर मृत्यु प्रायः निश्चित होती है। बच्चों में 10 प्रतिशत तथा बड़ों में 20 प्रतिशत द्वितीयांश दग्ध होने पर निर्जलीकरण (Dehydration) उत्पन्न होकर तृष्णा, वमन, बेचैनी, उन्माद, अल्प-मूत्रता, नाड़ी गति में तीव्रता एवं शिरा-शैथिल्य (Collapsed veins) लक्षण उत्पन्न होते हैं।

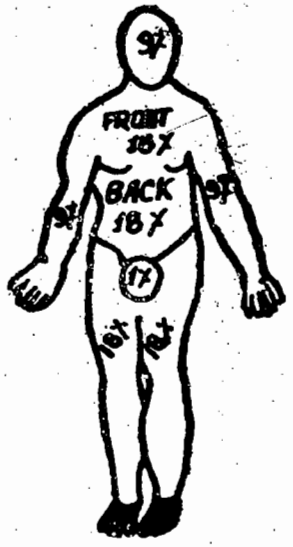

रेखाचित्र नं० 5 रूल ऑफ नाईन

चिकित्सा :

दग्ध स्थान को संक्रमण विरोधी घोल से (Antiseptic solution) या सामान्य उष्ण लवणोदक (Normal saline) से धोना चाहिये। रोगी को तुरन्त

चाय, काफी, या अन्य उष्ण पदार्थ पीने को दें तथा रोगी को कम्बल से ढक दें। वेदना शान्ति के लिए रोगी को वेदना हर औषध (Inj Morphine sulphate $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{6}$ grain I. M.) दें। त्वचा पर अम्ल या क्षार (Strong acid or alkali) पड़ने पर उसे तुरन्त पानी से धो देना चाहिए। दग्ध उत्पन्न होने के पश्चात् आठ घन्टे के अन्दर, साठ किलोग्राम वजन के व्यक्ति का दस प्रतिशत से अधिक दग्ध होने पर प्रायः 1,500 ml. ग्लूकोज, 1,000 ml. सामान्य लवण जल; तथा 1,000 ml. कोलायडल घोल दे देना चाहिए। फिर आठ घन्टे से 24 घन्टे के भीतर (16 घन्टे में) यही मात्रा पुनः देनी चाहिए तथा 24 घण्टे से 48 घन्टे के बीच में (24 घन्टे के समय में) यही पदार्थ इतनी ही मात्रा में पुनः दें [48 घन्टे तक निर्जलीकरण (Dehydration) की अवस्था तीव्र रहती है]। द्रव इतनी मात्रा में देना चाहिए जिससे मूत्र का निर्माण कम से कम 50 c.c. प्रति घन्टा होता रहे (निर्जलीकरण होने पर मूत्र मात्रा 25 c.c. प्रति घन्टा तक रह जाती है)। रोगी में स्तब्धतः उत्पन्न न हो इस लिए द्रव का आधान 24 घन्टे के भीतर कर देना चाहिए। यदि 24 घण्टे में द्रव आधान न किया जाए तो (vasomotor control) समाप्त हो जाने से अपरिवर्तनीय स्तब्धता (Irreversible shock) उत्पन्न हो जाती है जो कि फिर द्रव आधान करने पर भी ठीक नहीं होती। रक्त का हिमेटोक्रिट मूल्य (Haematocrit value) 65% रहना चाहिये। वयस्क में द्रव की अधिक मात्रा एकदम से न दें, परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके दें। बच्चों को द्रव की आवश्यक मात्रा शीघ्रता से दे देनी चाहिए। गम्भीर दग्ध व्रण (Deep burn) में अस्थि-मज्जा अवसादित (Depress) हो जाती है, इससे द्वितीय रक्ताल्पता (Secondary anaemia) उत्पन्न होती है। यह स्थिति उत्पन्न न हो, इसके लिए रोगी को कुछ दिनों के अन्तर पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में रक्ताधान (Blood transfusion) करते रहना चाहिये। रोगी को आहार में प्रोटीन (Proteins) के पदार्थ अधिक मात्रा में दें। दग्ध व्रण में द्वितीय संक्रमण (Secondary infection) होने पर भी स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है, इसलिए पहले से ही जीव विरोधी औषधि (Penicillin 5,00,000 unit 1 hourly I. M.) देना प्रारम्भ कर देना चाहिए। रोगी को धनुर्वात विरोधी सीरम (A.T.S. 15000 units) भी दे देना चाहिए।

स्थानीय चिकित्सा—दग्ध स्थान पर गीले प्लोत द्वारा मृतोतकों को साफ करना चाहिए। स्फोट (Blisters) बनने पर उनका सूई से वेधन (puncture) करके फिर दग्ध स्थान पर किसी पूय विरोधी (Antiseptic) मरहम, जैसे सोफरा-माइसीन मरहम इत्यादि को लगाकर गाढ़ (Tight) बन्ध बान्ध दें या पैटरोलियम जैली (वैसलीन) लगाकर 3 दिन के लिए गाढ़ बन्ध लगा दें (Closed method)। 8 दिन पश्चात् व्रण की गलित धातुओं का शोधन होने पर व्रणों पर पपड़ी (Scab) बनने के लिए उन्हें खुला छोड़ दें (Exposure treatment)। व्रण में संक्रमण होने पर पपड़ी को उतार कर पूय विरोधी मरहम लगाएं। उष्ण लवण जल से सेक करें।

गम्भीर व्रण के शुद्ध (Granulation) होने पर त्वचा का प्रत्यारोपण (Skin grafting) कर देना चाहिए। दग्ध (3rd degree burn) में 10 से 15 दिन पश्चात् रोगी की अवस्था संतोषप्रद होने पर रोगी को सार्वदैहिक संज्ञाहरण देकर (Under general anaesthesia) मृतोतकों (Necrosed tissues) को शल्य कर्म द्वारा निकाल देना चाहिए। फिर वहाँ पर हो रहे रक्त स्राव को बन्द करके, त्वचा का प्रत्यारोपण कर दें तथा संक्रमण से बचाव के लिए 5% रजत लवण (5% $AgNO_3$) की मरहम लगाएं।

ऊष्माघात की चिकित्सा—उष्ण वातातप दग्ध (Sun stroke) होने पर शीत स्पंज करे, हिमवस्ति (Ice cold enema) दें तथा रक्त परिभ्रमण शिथिल न हो इसके लिए त्वचा का मर्दन (Massage) करें। उष्णता जन्य ऐंठन (Heat cramps) आने पर रोगी को शीत स्थान पर ले जाएं तथा विश्राम दें। रोगी को 15-15 मिनट पश्चात् आधे गिलास पानी के साथ एक ग्राम नमक देते रहें जब तक कि ऐंठन समाप्त न हो जाए। अति तीव्र रोगियों में 1000 से 2000 मि०लि० लवण जल को सिरा द्वारा आधान करें। (Inj intravenous saline solution)।

9
क्षुद्र रोग वर्णन

क्षुद्र रोग—इन रोगों को क्षुद्र रोग क्यों कहा गया है, इसके लिये निम्न युक्तियाँ दी जाती हैं—

(i) इनका वर्णन क्षुद्र रूप से (संक्षेप में) किया गया है, अर्थात् इनका दोष दूष्य के अनुसार विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है।

(ii) इन रोगों के निदान, लक्षण एवं चिकित्सा का क्रमानुसार संहिताओं में विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु इन्हें क्षुद्र रूप में लिखा गया है।

(iii) यह वे रोग हैं जिनका उल्लेख किसी वर्गीकरण में नहीं हो पाया है।

(iv) यह भी हो सकता है कि इन रोगों से पीड़ित रोगी प्राचीन काल में बहुत कम मिलते होंगे।

आचार्य चरक ने इन रोगों को न तो एक स्थान पर ही संकलित किया है तथा न ही इनको क्षुद्र नाम से कहा है। अन्य आचार्यों ने इनकी संख्या अलग-अलग बताई है, जैसे—

सुश्रुत मतानुसार=44
वाग्भट मतानुसार=36
माधव मतानुसार=43
शार्ङ्गधर मतानुसार=60

क्षुद्र रोगों में सुश्रुत का मत ही अधिक मान्य है, क्योंकि अन्य आचार्यों की अपेक्षा सुश्रुत ने इन रोगों का वर्णन अधिक विस्तार से किया है।

सुश्रुत मतानुसार क्षुद्र रोग—अजगल्लिका, यवप्रख्या, अन्धालजी, विवृता, कच्छपिका, बल्मीक, इन्द्रवृद्धा, पनसिका, पाषाण-गर्दभ, कक्षा, विस्फोटक, अग्नि-रोहिणी, चिप्प, कुनख, अनुशयी, विदारिका, कदर, अलस, इन्द्रलुप्त, दारूणक, अरूंषिका, पलित, मसूरिका, यौवनपिड़का, पद्मिनीकण्टक, जतुमणि, मशक, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यङ्ग, परिवर्तिका, अवपाटिका, निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अहि-पूतना, वृष्ण कच्छु एवं गुदभ्रंश।

क्षुद्र रोगों का उभयमत से विवेचन :

(1) **अजगल्लिका**—यह पिड़िका स्निग्ध, त्वचा के वर्ण की, ग्रंथित, वेदना रहित एवं मूंग के समान होती है। इसमें कफ एवं वायु दोष की प्रधानता रहती है। यह प्रायः बालकों में होती है परन्तु बड़ों में भी हो सकती है। अपक्व अवस्था में ही इसमें से रक्त निकाल देना चाहिए। इस पर सीप, सर्जक्षार व यवक्षार का लेप करें, या काली निशीथ, कलिहारी एवं पाठा के कल्कों का लेप लगायें। अजगल्लिका के पकने पर इसकी व्रणवत् चिकित्सा (पहले शोधन चिकित्सा फिर रोपण चिकित्सा) करें।

It seems to be a small mass of subcutaneous lymph glands.

(2) **अन्धालजी (अन्त्रालजी)**—इसे वाग्भट ने अलजी तथा माधवकार एवं भोज ने अन्त्रालजी के नाम से कहा है। यह कफ एवं वात दोषों से उत्पन्न होती है। यह कठिन, मुखरहित, ऊँची उठी हुई, गोल एवं अल्प पूय युक्त पिड़िका है। इसमें सर्वप्रथम स्वेदन करें तथा मैनशिल, हरिताल, कूठ एवं देवदारू का लेप करें। फिर अन्धाजली के पकने पर इसका भेदन कर दें एवं व्रणवत् उपचार करें।

It seems to be a little swelling which is not soft. It may become inflamed and suppurate like that of a localised lymph adenitis thus terminating in to suppuration.

(3) **विवृता**—इसमें पित्तदोष की प्रधानता होती है। यह पके हुए गूलर फल के समान वर्ण की, अधिक जलन युक्त, गोलाकार, ज्वर उत्पन्न करने वाली एवं खुले मुख की पिड़िका है। इसकी चिकित्सा पित्तज विसर्प के समान करनी चाहिए। विवृता के पक जाने पर इसका काकोल्यादिगण (शल्य विज्ञान प्रथम भाग अध्याय 4 में देखें) से सिद्ध घृत से रोपण करें।

It seems to be a condition of acute inflammation which usually arises due to staphylococcus infection. Boil is a red follicular papule, which becomes increasingly tender and painful. The boil on treatment either subsides or becomes pustular, following with central necrosis with discharging of a cone. It heals with a granulation scar.

Treatment—Look the patient for diabetes or for any other systemic disorder, specially in chronic cases. Rest, sedation, administration of B-complex, low carbohydrate diet and good hyegiene is necessary.

(4) **कच्छपिका**—अरुणदत्त ने अलजी को कच्छपी का ही एक विशेषण बताया है। कच्छपी वायु एवं कफ दोष से उत्पन्न होती है। यह कच्छुए के समान मध्य से ऊपर को उठी हुई तथा एक ही स्थान पर 5-6 पिड़िकाओं से युक्त एवं अत्यधिक वेदनावान् व्याधि है। इसकी चिकित्सा भी ऊपर बताई गई अन्धालजी की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

It is a condition like that of the infected lymph glands of either groin or similar condition may also arise if 4-5 boils are collectively appearing in axilla or groin.

(5) **बल्मीक**—यह रोग सर्प की बामी के समान एवं तीनों दोषों से युक्त होता है। गर्दन, कन्धा, बगल, हाथ एवं पाँव की सन्धि में यह रोग होता है। इसमें दाह, खुजली, सूचीवत् पीड़ा एवं क्लेद युक्त व्रणों वाली गांठ बनती है। चिकित्सा न करने पर बल्मीक अनेक मुखों से युक्त एवं अधिक उन्नत हो जाती हैं। इसे असाध्य कहकर चिकित्सा करें। बल्मीक को शस्त्र से चीर कर क्षार अथवा अग्नि से जलाएं। पहले रोगी को वमनादि से शुद्ध करना चाहिए, फिर छोटे बल्मीक से रक्त मोक्षण करायें या अर्बुदोक्त विधि से उसका शोधन करके रोपण चिकित्सा करें। इसके ऊपर कुलत्थ की जड़, गिलोय, जमालगोटा मूल, निशीथ मूल एवं तिल कल्क में सत्तू मिलाकर लेप करें,। स्निग्ध द्रव्यों से उपनाह करें तथा इसके पक जाने पर नाड़ी व्रण के समान चिकित्सा करें (इसे काट कर जला दें)। दूषित मांस को शोधन करके क्षार से रगड़ें या अग्नि से जला दें, एवं रोपण तैल लगावें। हाथ एवं पांव पर उत्पन्न बहुत छिद्र युक्त बल्मीक को असाध्य जानकर छोड़ देना चाहिए।

It may be a condition of piling up of the dried secretion of sebaceous glands or the sprouting granulation of a sinus, containing foreign body in it (For its description, see 6th chapter of 2nd part of this book.)

(6) **इन्द्र वृद्धा**—इन्द्रवृद्धा कमल की कर्णिका के आकार की छोटी-छोटी पिड़िकाओं से घिरी हुई पिड़िका है। यह वात एवं पित्त दोष से उत्पन्न होती है। इसकी चिकित्सा भी विवृता की चिकित्सा सदृश करनी चाहिए।

It seems to be a collection of small **Pimples**, which usually appear after fever, on the **angle of mouth. These are the collection** of seborrheic pimples.

(7) **पनसिका**—शालूक (कमलकन्द) के आकार की तीव्र पीड़ा युक्त, वायु एवं कफ दोष से उत्पन्न होने वाली पिड़िका को पनसिका कहते हैं। यह पिड़िका कान के चारों ओर या पीठ पर उत्पन्न होती है। इसकी चिकित्सा भी अन्धालजी के समान करनी चाहिए।

It looks like a boil, placed over mastoid one or on the back. On these places subcutaneous tissue is very less and bone lies just (direc'ally) under the tense skin. There is more pain on the boils of these sites due to streching of less mobile skin. Also see it under the heading "vivrita."

(8) **पाषाण गर्दभ**—यह कफ एवं वायु से उत्पन्न होने वाली अल्प पीड़ा युक्त एवं स्थिर शोथ है। यह शोथ हनु सन्धि प्रदेश में होती है। इसकी चिकित्सा विवृता के समान की जाती है।

It seems to be a condition of enlarged parotid gland, the enlargement may be due to obstruction of its duct by stones or by pressure of tumour from out side the duct. This tumour may be of Parotid gland. But mumps, a viral epidemic disease, can not be taken as 'pashan gardabha" because it is a sort of paitic disease having fever (100°F), sore throat, red and tense skin, with leucocytosis. The treatment of mumps like rest, local warmth etc. is quite different from that of the principle of treatment of "Pashan Gardabha,'.

(9) **जाल गर्दभ**—यह पित्त दोष से उत्पन्न होने वाली एवं विसर्प के समान फैलने वाली पतली एवं ताम्र वर्ण की शोथज व्याधि है। इसमें शोथ, ज्वर, दाह तथा थोड़ा पाक होता है। भोज एवं जतुकर्ण ने इसे विसर्प माना है। इसकी चिकित्सा विवृता या पित्तज विसर्प के समान करनी चाहिए। इसमें लंघन, रक्त मोक्षण एवं शोधन चिकित्सा विशेष रूप से करें। रोगी को अम्ल प्रधान रसायन का प्रयोग कराएं। विसर्प का विस्तृत वर्णन द्वितीय भाग के अध्याय 6 में देखें।

This condition is similar to cellulitis or erysipelas. It is the inflammation of subcutaneous tissues, which is due to Streptococcus haemolyticus. It specially occurs in those persons whose body resistance is low. It's symptoms are tenderness, oedema, redness with blebs, fever with rigor and persistent oedema may also occur in this condition. Treatment—Penicillin or other antibiotics should be administered. Ichthyol ointment should be applied locally for relief of pain and magnesium sulphate ointment for oedema. It's spread should be checked by exposing the affected area to ultraviolet radiations.

(10) **कक्षा**:—वायु युक्त पित्त दोष से, लाजा के समान कक्षा में जो सूक्ष्म एवं घनी पिड़िकायें होती हैं उन्हें कक्षा कहते हैं। ये वेदना युक्त कृष्ण वर्ण के विस्फोट भी बन सकती हैं जो कि कक्षा के अतिरिक्त बाहु, पार्श्व एवं अंस में भी पाई जाती हैं। इनकी चिकित्सा पित्तज विसर्प के समान करनी चाहिए।

It seems to be a condition of cellulitis of axilla or its near by area. For details of cellulitis, see it under the heading 'Jal Gardhabha'

(11) **विस्फोटक**:—पित्त दोष रक्त को दूषित करके एक स्थान पर या सारे शरीर में मसूरिका से भी अधिक कष्टदायक विस्फोट उत्पन्न करता है, जैसे कि अग्नि दग्ध से विस्फोट उत्पन्न होते हैं। इसमें ज्वर भी रहता है। इसकी चिकित्सा पित्तज विसर्प के सदृश करें।

Vesicular and bullous eruptions ('Visphot') may arise in many conditions, such as eczema, Pompholyx, prickly heat, impetigo herpes, variola, varicella, dermatitis, drug eruptions (By bromides, iodides, gold salts etc.) in hot moist atmosphere and in sun light exposed areas.

Eczema is the reaction of skin due to fatigue, emotions, sweat, autosensatization etc. It causes intra cellular oedema of epidermis, resulting in to vesicles, capillary dilatation, oedema and erythema. The grouped papules become vesicular and rupture, thus causing weeping and crusting. In chronic cases it causes itching, pigmentation and thickning of skin.

(12) **अग्निरोहिणी**:—अग्निरोहिणी में पित्त दोष की प्रधानता रहती है। इसमें माँस को फाड़ने वाले तथा अग्नि के समान जलने वाले स्फोट (कक्षा में) उत्पन्न होते हैं। रोगी को ज्वर रहता है तथा रोगी 5-7 या 15 दिन में मर जाता है। अग्निरोहिणी को असाध्य कहकर इसकी पित्तज विसर्प के समान चिकित्सा करें।

This condition is often taken as plague, but in plague patients dies within 2-4 days. It may be taken as a big acute abscess of axilla which may also accompany with local blisters and fever.

(13) **चिप्प (क्षत, उपनख)** :—पित्त एवं वात दोष नख के मांस के आश्रित होकर दाह एवं पाक उत्पन्न करते हैं, इसे चिप्प कहते हैं। इसमें उष्ण जल से सेक करके दूषित माँस को काट दें तथा रक्त मोक्षण करें। व्रण पर कोल्हू का तैल लगाकर वहाँ पर राल का चूर्ण डालकर उसे बाँध दें। यदि इस विधि से व्रण का रोपण न हो तो सिद्ध तैलों से व्रण का रोपण करें।

These symptoms are similar to that of the symptoms of whitlow. In whitlow inflammation is due to infection of terminal pulp space. Its detailed description is given in 6th chapter of 2nd part of this book.

(14) **कुनख (कुलीन)**—अभिघात के कारण रुक्ष, कठिन एवं काले वर्ण के नख को कुनख कहते हैं। इसकी चिकित्सा उपरोक्त वर्णित चिप्प की चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिए।

This is a condition of haemorrhage under the nail. It clots and turns into black colour For its detailed description see 6th chapter of 2nd part of Shalya Vigyan.

(15) **अनुशयी** :—इसमें कफ दोष प्रधान रूप से रहता है। यह पिड़िका गम्भीर धातुओं से बनती है इसलिये यह त्वचा के वर्ण की होती है, यह पिडिका कफ के कारण अन्दर से पकती है। इसकी चिकित्सा कफज विद्रधि के समान करनी चाहिए।

These symptoms look like that of the symptoms of a deep seated abscess, especially in sole or in palm, as the tissues of palm & sole are delicate internally and having hard skin tissues externally. Therefore the abscess of these places takes more time for pus formation and to rupture out side. See inflammation in chapter 5 and abscess in chapter 6 of 1st part of Shalya Vigyan.

(16) **विदारिका** :—सुश्रुत ने विदारिका को सन्निपात जन्य कहा है परन्तु चरक ने इसे वात जन्य बताया है (हो सकता है इसमें पित्त अनुबन्ध रूप से रहता हो)। यह विदारीकन्द के समान कठिन, गोल, लाल वर्ण की एवं ज्वर से युक्त कक्षा या वंक्षण में उत्पन्न होती है।

इसकी चिकित्सा कफज ग्रन्थि के समान इसके समीपवर्ती प्रदेश से रक्त का विस्रावण करवा कर करनी चाहिए। इसमें ढाक मूल एवं अजकरण का लेप करना चाहिये। इसमें पहले अभ्यंग करें फिर स्वेदन एवं विम्लापन करें (अंगुष्ठ से मलें), इसके पश्चात् पुनर्नवा, बिल्व मूल व नागवृत्रिक (जिगण) का लेप या अजकरण एवं पलास जड़ का लेप करें। विदारिका में व्रण उत्पन्न हो जाने पर पहले इसका शोधन करें फिर कषाय या काकोली इत्यादि द्रव्यों से सिद्ध तैल से रोपण करें। विदारिका के पकने पर इसे शस्त्र से चीर कर इस पर पटोल, नीम एवं तिल कल्क को घृत एवं मधु से लगाएं या लेप करें तथा क्षीरी वृक्षों के कषाय से व्रण का प्रक्षालन करें।

This condition looks like that of the infected enlarged lymph glands of axilla and groin.

(17) **शर्कराबुंद**—मांस, सिरा व स्नायु के आश्रित मेद, वायु एवं कफ से मिलकर गाँठ के समान शर्कराबुंद को उत्पन्न करता है। इस गाँठ के फूटने पर शहद, घृत एवं वसा के सदृश अत्यधिक स्राव निकलता है। इसके विदीर्ण होने के पश्चात् वायु वहाँ के मांस को सुखाकर ग्रन्थि युक्त शर्करा को उत्पन्न करती है। इसकी सिराओं से अकस्मात् अनेक रंग वाला दुर्गन्धित एवं क्लेद युक्त अत्यधिक मात्रा में स्राव (रक्त) निकलने लगता है। इसका उपचार मेदज अर्बुद सदृश करना चाहिए।

This description is similar to that of the signs of sebaceous horn (Cock's peculiar tumour). The sebum from the sebaceous cyst or from the hyperactive sebaceous gland comes out and piles up (like 'Sharkara'), forming a dried heap or a horn like structure. On getting infected, the sebaceous cyst or the sebaceous gland may give rise to foul smelling slimy secretion. (Consult sebaceous cyst in 6th chapter of 2nd part of Shalya Vigyan.)

(18) **पामा**—पामा में स्राव निकलता है तथा इसमें छोटी-छोटी पिड़िकायें बनती हैं, जिनमें कण्डू एवं दाह होती है। ये लक्षण पित्त की अधिकता से होते हैं।

इसकी चिकित्सा कुष्ठ रोग के अनुसार करनी चाहिए। इसमें मोम, सौंफ एवं सरसों का लेप उत्तम रहता है। इसके अतिरिक्त बच, दारुहल्दी, पीत सरसों, करंजादि तैल, या फिर शीशम, अगुरु, सरल, देवदारु तथा बैल इत्यादि वृक्षों से पाताल यंत्र द्वारा निकाला हुआ तेल लगाना चाहिए। कुछ लोग नारियल के कठोर छिलके का, या बादाम के छिलके से निकाला तैल भी लगाते हैं। ये तैल बहुत तीव्र होते हैं, तथा लगाने पर बहुत जलन करते हैं। इसके लिए गन्धक द्रुति अधिक

उत्तम रहती है, यह प्रभावकारी औषध होने के साथ-साथ लगाने पर जलन भी नहीं उत्पन्न करती ।

These signs are like that of the scabies.

Scabies—It is caused by Sarcoptes scabies. The fertilised adult sarcoptes female burrows 1/4"–1/2" long under the skin and lay there eggs, common places of its infection are fingers, webs, ulnar border of the hand, anterior axillary fold, around the nipple, penis, palm, sole, thigh, buttocks and abdominal wall.

It is the reaction of the skin to the exoparasite. At burrows, there forms the vesicles and papules which give intense itching.

Treatment—Benzyl benzoate 25%, Tetmosol, Eurox ointment (crotamiton ointment) or any other keratolytic ointment can be used.

(19) **विचर्चिका**—हस्त एवं पाद में चरम के फटने से रेखायें (राजी) उत्पन्न हो जाती हैं । इनमें अधिक कण्डू, रूक्षता एवं पीड़ा रहती हैं । विचर्चिका के पैर में उत्पन्न होने पर इसे विपादिका कहते हैं । चरक ने इसे कण्डू युक्त अत्यधिक स्राव वाली एवं श्याव वर्ण की पिड़िकाओं का मण्डल कहा है ।

It is taken as eczema. It can be classified under dry and wet varieties of eczema. **Dry eczema** is the chronic form covered by sticky keratolytic scales, it occur in perianal region due to the infection of thread worms. On scalp and behind the ears, it is caused from fissures.

Wet eczema—It is the mode of reaction of skin. Consequently it leads to vesicle formation, oedema, capillary dilatation and migration of lymphocytes and hytocytes to the epidermis. Ruptured papulo-vesicles causes weeping, crusting and bullae formation. It causes thickning of the skin, pigmentation and itching. There is no definite cause of eczema, but allergic sensatization of skin, sweat retention, emotion, fatigue, endocrine and nutritional factors are considered as the causative factors of eczema.

Treatment—Vioform or Betnovate-ointment for local use, and

potassium permagnate ($KMnO_4$) 1/5,000 for compression dressing (in acute stage).

(20) **रकसा (राजिका या गुमहोरी)**—यह कफ की अधिकता से होती है । ग्रीष्म ऋतु में स्वेद के कारण, स्राव रहित, कण्डू युक्त, राई के समान वर्ण एवं आकार की पिड़िकायें अधिक स्वेद वाले स्थान पर उत्पन्न होती हैं । इनकी चिकित्सा पित्तज विसर्प के समान करनी चाहिये ।

Its signs and symptoms look like that of the prickly heat.

(21) **पाददारी (विपादिका)**—अधिक परिभ्रमणशील या नंगे पांव चलने वाले व्यक्तियों के पांव के तलवे रुक्ष होने से (वायु के कारण) वहाँ पर दरारें उत्पन्न हो जाती हैं, इसे पाददारी कहते हैं । रोगी में पहले स्नेहन एवं स्वेदन देकर अभ्यंग करें. फिर रक्त-मोक्षण करायें । मोम, वसा, मज्जा, राल, जोंखार तथा गेरू को मिलाकर दरारों में भर दें ।

Rhagades are the scarring of radiating cracks with ulceration. It appears at anus, angle of mouth, on hands or on feet. It occurs more in winter season when the skin is dry. Such cracks may also appear due to eczema.

Treatment—In eczematous cracks, Betnovate ointment is applied Otherwise wax is filled in the cracks.

(22) **कदर**—कंकड़, पत्थर से कुचले हुए या कांटे इत्यादि से क्षत हुए पैरों में जो बेर के समान गाँठ उत्पन्न होती है उसे कदर कहते हैं । इसमें वेदना एवं स्राव होता है, यह निम्न, मध्य या उन्नत किसी भी प्रकार की हो सकती है । भोज के अनुसार यह हाथ में भी उत्पन्न होती है । भोज ने इसे वात कफज माना है तथा शर्करा एवं कंटक इसके पर्याय माने हैं । सुश्रुत ने इस रोग में मेद एवं रक्त के साथ अन्य दोषों का भी अनुबन्ध बताया है । कदर को शस्त्र से काटकर अग्नि तप्त तैल से जलाना चाहिए ।

It looks like callosity, which forms due to hyper keratosis i. e. due to the thickning of the stratum cornium layer of the skin. It should be pealed off by scalpel and there after the colloidal solution of salycylic acid and ether should be applied over it. Mild exposure of X-ray (600r) checks its growth. See it in chapter 6th, of 2nd part of this book.

(23) **अलस**—कीचड़ अथवा गंदे पानी में चलने से पैरों की अंगुलियों के

बीच में गीलापन, खुजली, जलन और पीड़ा उत्पन्न होती है, इसे अलस कहते हैं। पैरों को कांजी में भिगोकर नीम, तिल, कासीस, हरिताल व सेन्धा का लेप करें या लाक्षारस (महावर) व हरिताल का लेप करें। कण्टकारी से सिद्ध सरसों का तैल लगायें या कासीस, हल्दी एवं मैनशिल लगाएं। इसमें रक्त मोक्षण भी करना चाहिए।

It looks chilblain (erythema pernio). In chilblain there is redness, intense itching and swelling which increases on warming the affected area in front of fire It may ulcerate form blisters, erythema may swell up or it gives rise to serous exudate. It is an abnormal response of the skin to cold and damp climate. Its lesion appear on toes, heel, ear and fingers.

Treatment—Avoid dampness & cold, use socks & gloves. Increase the local circulation by swinging or rubbing the limb with campherated oil. Apply boric acid ointment on the ulcers. Sometimes administration of vit—K and nicotinic acid are found beneficial. 'Alas' may be considered as Dhobi itch also.

(24) खालित्य (इन्द्रलुप्त)—भ्राजक पित्त वायु से मिलकर रोमों को गिरा देता है। इसके पश्चात् रक्त व कफ उनसे मिलकर रोम कूपों को अवरुद्ध कर देते हैं, इससे नये रोम कूप उत्पन्न नहीं हो पाते। आचार्य कार्तिक ने दाढ़ी के बाल गिरने को इन्द्रलुप्त, सिर के बाल गिरने को खालित्य तथा सर्व शरीर गत बाल गिरने को रूक्षा कहा है। (These may be termed as Alopecia areata, Alopecia simple and Alopecia universalis successively).

रोगी को पहले स्नेहन स्वेदन दें तथा फिर सिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण करें। स्थानीय प्रयोग के लिए मरिच, मैनशिल, कासीस तथा तूतीया के कल्क या तगर एवं देवदारू के कल्क का लेप करें। चमेली, कनेर, चित्रक एवं करंज से सिद्ध तैल का अभ्यंग करें।

Alopecia arcata (patchy hair loss)—In Alopecia areata there is one or more bold patches on the salp (mostly on beard) with pale and shining skin and a few slender broken hairs. Emotional disturbances are considered as a cause of this condition. Hair-fall in ringworm infection is also like it, but here hairs become bent and fragile Saborrhoea, androgenic hormonal excess and heredity are the causes for common baldness.

Treatment—Give tonics and B-complex to the patient and

stimulent lotions should be applied locally such as perchloride of mercury 1/2%in spirit or cantheradine oil etc. Rich Protein diet should be given to the patient.

(25) दारूणक—कफ एवं वायु के प्रकोप से जब बालों का स्थान कठिन, खुजली युक्त तथा रुक्ष होकर दरार युक्त हो जाता है तो इसे दारूणक कहते हैं। विदेह ने इसमें पित्त एवं रक्त का अनुबन्ध भी बताया है।

Dandruff Ptyriasis capitis—In simple type of dandruff there is the brany scaling of the scalp which detach readily. This condition runs through out life period of an individual. In steatoid type scales become larger, greasy adherent with underlying red and moist skin, as found in seborrheic dermatiti.

Treatment—Weekly shampoo washing, local application of sulpher, acid salicylic or acetone etc, are good for dandruff.

Seborrheic dermatitis—It occurs at face and scalp, there is diffused erythema, scaling and crusting. Skin becomes oedematous and the keratinization of the skin is imperfect.

Treatment—Give bed rest, sedation, tetracycline and other antibiotics. Locally apply calaminelotion or normal saline compressions and antiseptics with hydrocortisone ointment. In chronic cases apply sulpher & 3%salicylic acid in paraffin base.

(26) अरूंषिका—कफ, रक्त एवं कृमियों के कारण शिर में अनेक मुख वाले स्राव युक्त एवं क्लिन्न व्रण को अरूंषिका कहते हैं।

इस रोग में पहले रक्त मोक्षण कराएं फिर नीम के क्वाथ से परिषेक करें। तथा घोड़े की लीद के रस में सैन्धव मिलकर लेप करें (घोड़े की लीद में टेट्नस का जीवाणु रहता है इसलिए इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए); या हरिताल, हल्दी, नीम और पटोल पत्र कल्क का मुलैठी, नील कमल एरण्ड और भांगरा कल्क का लेप करना चाहिए।

Such condition may appear in Scabies, pediculosis or in impetigo contagiosa.

Impetigo Contagiosa of the head—It is caused by staphylococcal infection and is very common in summer season. The infection is pyogenic and it remains superficial in children, but in adults it forms tense, clear or purulent blisters along with fever. When these blisters grow, they look circinate impetigo.

Treatment—Chlortetracycline or neomycin ointment is to be applied locally (Use of sulpher ointment and penicillin may cause allergic dermatitis);

(27) पलित—क्रोध, शोक एव श्रम के कारण उत्पन्न ऊष्मा पित्त से मिल कर बालों को समय से पूर्व ही पका देती है- इसे पलित रोग कहते हैं। नील पत्र, भांगरा, अर्जुन छाल, मैनफल (काले फूल वाला), लौह चूर्ण, बीजक, क्षिण्टी पुष्प, त्रिफला तथा भांगरा स्वरस के साथ सुश्रुतोक्त विधि (सु० चि० 25) से सिद्ध तैल को लगाने से पलित रोग नष्ट हो जाता है अर्थात् इसकी स्थानीय क्रिया से बाल रञ्जित हो जाते हैं।

Canities (Grey hair)—There is no specific cause known for turning of grey hair before 35-60 years. Some of the causes contribute for turning the hairs grey. These causes are trigeminal neuralgia, as an after effect of herpeszoster, ringworm spots, severe illness and prolonged emotional stress. F. Taylor has considered the obstruction in flow of pigments in the heir by air bubbles, as its cause.

(28) मसूरिका—इस रोग में सर्व शरीर गत, गले में या मुख पर पीत एवं ताम्र वर्ण के मसूर समान पिड़िका या स्फोट उत्पन्न होते हैं। इस रोग से शरीर में दाह, ज्वर एवं पीड़ा होती है। माधव ने इसका वर्णन अधिक विस्तृत रूप से किया है। माधव के अनुसार लवण, कटु एवं अन्य दुष्ट एवं विरुद्ध पदार्थ खाने से एवं ग्रहों के प्रकोप से दोष प्रकुपित होकर दूषित रक्त से मिलकर इस रोग को उत्पन्न करते हैं। तीनों दोषों से एवं रक्त से 5 प्रकार की एवं रसादि सप्त धातुओं से 7 प्रकार की मसूरिका उत्पन्न होती है। (इसमें सामान्य लक्षण ठण्ड लगना, ज्वर, शिरःशूल, पृष्ठ शूल, मिचली, वमन एवं आक्षेप सहित रक्त वर्ण की पिड़िकायें उत्पन्न होती हैं) यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैलता है।

त्वगक्षिरोगापस्मारराजयक्ष्मामसूरिकाः।
दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् सङ्क्रमन्ति नरान्नरम् ॥ (सु०)

This disease corelates to smallpox.

Smallpox (Variola)—It is an acute infectious disease with 2 days of incubation period. It appears on exposed parts of the body. Its on-set is very, rapid. It starts with vomiting, fever (102°–104°F) and headache. After 3 days of these symptoms, vesicles appear which becomes Ist vesicles then pustules appear (causing severe septicaemia and death), spleen gets enlarged, there is salty feeling in the mouth and lymphocytosis occur. Its virus resists drying for years together. This disease gives life long immunity.

Complications—Laryngitis, ottitismedia, inflammation of eyes, osteomyelitis, broncho pneumonia, encephalitis etc. are the major complications of small pox.

Treatment—Isolation of the patient and administration of analgesics for pain (aspirin), Borax for gargles and do sponging for fever. Wash the skin with 2% $KMnO_4$ solution and give antibiotic (penicillin) for prophylaxis of secondary infection.

(29) मुखदूषिका (यौवन पिड़िका)—युवा पुरुषों के मुख पर सेमल के कांटों के समान वेदनाशील, घटा तथा मेद से भरी, कफ वायु एवं रक्त से उत्पन्न होने वाली पिड़िकाओं को मुखदूषिका कहते हैं।

यौवन पिड़िकाओं की चिकित्सा में सर्वप्रथम वमन करायें, नस्य दें एवं ललाट की सिरा से रक्त मोक्षण करें। रोगी के मुख या यौवन पिड़िका से प्रभावित अन्य स्थान पर लोध्र, धनियाँ एवं वच; या लोध्र, सेन्धा, सरसों, धनियाँ एवं कुठ का लेप करना चाहिए। या नारियल की मन्जरी का बरगद के कोमल पत्रों के साथ लेप करायें। कुछ लोग इस पर सेमल के कांटों का लेप करने को भी कहते हैं।

It seems to be acne vulgaris, **Acne vulgaris**—it is a disease of puberty. At this age there is androgenic stimulation of pilosebaceous follicles, causing excessive sebum. Its retention coarse thicking of the horny layer of skin. Skin become greasy, course, thick, prominent with follicular orifices. It may complicate to papules, indurated nodules or cysts formation. It may appear with blackened horny follicular plugs. **Sits**—Face, back, shoulder, cheeks and back of neck. **Exacerbation** may be due to fatigue, emotional stress, excessive use of choclate, lack of open air, squeesing the lesions, use of tonics, iodides bromides and corticosteroids. **Treatment**—Wash the affected area with warm water and apply lotion

of 6%sulpher in zinc sulphate & give 1,00,000 units of vit-A daily in two divided doses. To avoid scarring use CO_2 snow. Use superficial x-ray therapy, ultraviolet light or use broad spectrum antibiotics for longterm treatment.

(30) **पद्मिनी कण्टक**—यह व्याधि वात एवं कफ दोष से उत्पन्न होती है। इसमें गोलाकार, श्वेत वर्ण के या पाण्डु वर्ण के कण्टक या मण्डल उत्पन्न होते हैं जो कमल के समान होते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर को भर लेते हैं। रोगी को नीम का क्वाथ घृत एवं मधु से पिलायें, नीम या नमक एवं अमलतास के पत्र के कल्क को लगायें। नीम का सेवन करायें; इसी के क्वाथ से वमन करायें एवं नीम से सिद्ध घृत पिलायें।

Some of the commentators has termed it as papilloma of the skin.

(31) **जतुमणि**—यह जन्म-जात (Congenital) व्याधि है जो कि कफ एवं रक्त से उत्पन्न होती हैं। इसमें लाल वर्ण के श्लक्ष्ण, वेदना रहित एवं उठे हुए मण्डल उत्पन्न होते हैं। इसे शस्त्र से काटकर फिर क्षार से अथवा सूर्यकांत मणि से या किसी विधि से जलाना चाहिए।

This condition resembles to congenital mole. It is formed from the pigments and the pigment cell. It is considered as a tumour. It may remain silent and harmless through out life time of an individual. Some times in adult life it is converted into malignancy, presenting the symptoms like itching, redness, secretions, ulceration or induration etc. A mole with these symptoms should be broaldy excised along with adequate borders, in order to avoid its occurence.

(32) **मषक**—यह वेदना रहित, स्थिर एवं उड़द की तरह काले वर्ण के तिल के समान होते हैं जो ऊपर को उठे रहते हैं। यह वात द्वारा प्रेरित कफ व मेद से उत्पन्न होते हैं (भोज)। इनकी चिकित्सा पूर्व वर्णित जतुमणि की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

It seems to be an elevated mole or the wart (verruca). It is formed from the viral infection of epithelial cells. It is of three types as, verruca vulgaris, verruca filliformis and verruca planteris. For its treatment, curate and cauterise it or apply superficial X-ray. For details see it in 6th chapter in Ist part of this book.

(33) **तिल कालक**—वायु व पित दोष से तथा कफ के उद्रेक (शुष्कता) से काले वर्ण के तथा तिल के समान आकृति वाले, वेदना रहित, त्वचा में स्थित, अनुन्नत (समान) चिन्ह को तिलकालक कहते हैं। इसकी चिकित्सा उपरोक्त वर्णित जतुमणि की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

It is a non elevated mole, formed from the pigmented material or the pigmented cells. It is called as **Melanoma**. It is of many types, such as junctional naevus, Intradermal naevus, compound naevus and neuro naevus. It should be removed by block dissection, as it is very much notorious for being converting into malignancy. For details see it in 6th chapter in Ist part of this book.

(34) **व्यङ्ग**—परिश्रम, शोक या क्रोधादि से प्रकुपित वात एवं पित्त से शरीर के किसी भाग पर पीड़ा रहित, काला या श्वेत वर्ण का त्वचा के बराबर एवं मण्डलाकार उत्पन्न हुए चिन्ह को व्यङ्ग कहते हैं। इसकी चिकित्सा के लिए समीपस्थ सिरा का वेध करके रक्त विस्रावण कराना चाहिए। रोगाक्रान्त स्थान पर समुद्र-फेन, अर्जुन या क्षीरी वृक्षों की छाल व अंकुर को दूध में घिसा कर लेप करें। दोनों प्रकार का जीरा, काले तिल व सरसों को दूध में पीसकर लगाएं या सेमल के कांटों को दूध में पीस कर लगाएं। मन्जीठ या मधु को श्वेत घोड़े के खुर की राख को मक्खन में मिलाकर लेप करें। मञ्जिष्ठादि तैल एवं कुमकुमादि तैल का प्रयोग करें। कैथ एवं खिरनी का कल्क लगाएं। बला, अतिबला, हल्दी एवं मुलैठी का लेप लगाएं या वट, गेरू इत्यादि का लेप लगाएं।

Chloasma-These are symmetrical patches of diffuse brown pigmentation of the mid forehead and cheeks. These patches develop in pregnancy and disappear after parturition, or may persist for years together. It olso occur at menopause time or in patients with ovarian tumour.

(35) **न्यच्छ (लसुन)**—शरीर के किसी भाग पर बड़ा या छोटा, काला या श्वेत वर्ण का, जन्म से ही उत्पन्न होने वाला चिन्ह न्यच्छ कहलाता है। इसे लान्छन भी कहते हैं। इसकी चिकित्सा व्यङ्ग में बताई विधि से करनी चाहिए।

It is the abnormal colouration (discolouration) of some areas of the skin, in child age, since his/her birth. It remains as such through out the life time of an individual.

(36) **नीलिका**—व्यंग के समान लक्षणों वाले किन्तु वर्ण में काले एवं मुख के अतिरिक्त अन्य स्थान पर उत्पन्न होने वाले मण्डल को नीलिका कहते हैं। यह वायु से कठोर एवं श्याव वर्ण का, पित्त से किनारों पर ताम्र एवं कुछ नील वर्ण लिए हुए, कफ से किनारों पर श्वेत वर्ण एवं कण्डू युक्त तथा रक्त से किनारे लाल, ताम्र वर्ण के तथा यह दाह एवं चिमचिमाहट से युक्त होता है। इसकी चिकित्सा पूर्व वर्णित व्यङ्ग के समान करनी चाहिए।

Such symptoms arise in many conditions. It is the discolouration of the skin, other than the face. It may be due to many caues

such as exposure to sun, Addison's disease, cachexiatic conditions typhoid or malaria fever, rheumatoid arthritis, cirrhosis of liver, diabetes, tuberculosis, capillary angiomata etc., melanoderma and also by taking the preparations of arsenic.

(37) **चर्मकील**—प्रकुपित व्यान वायु कफ से मिलकर गुदोष्ठ या त्वचा के बाह्य प्रदेश में स्थित होकर जिस कील के समान गांठ को उत्पन्न करता है उसे चर्मकील कहते हैं। इसमें वात दोष की अधिकता रहने से सूई चुभने की पीड़ा एवं परुषता। कफ दोष की अधिकता से श्वेतता, स्निग्धता तथा ग्रन्थि के समान आकार। पित्त एवं रक्त दोष की अधिकता से चर्मकील में कालापन या लालिमा रहती है। इसकी चिकित्सा इसे शस्त्र से काटकर एवं अग्नि व क्षार से जलाकर की जाती है।

This description seems to be of the **corn**. Corn is the horny plug of stratum cornium. It becomes very hard and causes pain when pressure is applied over the corn. **Treatment**—Application of colloidal solution of 20% salicylic acid for a few days or application of 1,000r of x-ray destroys the corn. Also see it in 6th chapter of part Ist of this book.

(38) **परिवर्तिका**—हस्त मैथुन से या संकुचित योनि की स्त्री से बलात्कार करने से, व्यान वायु शिश्न चर्म को प्रभावित कर देती है। इससे शिश्न-त्वचा शिश्न मणि के ऊपर चढ़कर ग्रन्थि रूप में परिवर्तित हो जाती है। कभी-कभी इसमें दाह, पीड़ा एवं पाक भी होता है। इसमें कफ का अनुबन्ध रहने से खुजली और कठिनता आ जाती है।

इसमें घृत लगाकर स्वेदन करें फिर पुलटिस बान्धें। शिन्न मुण्ड की त्वचा को मुष्ठी में दबाते हुए धीरे-धीरे आगे को ले जाते हुए उसे स्व: स्थान में स्थापित करें। त्वचा के स्वस्थान में आने पर सतवनादि वात हर उपनाहों को 5-6 दिन तक दें।

This description looks like the condition of **Paraphymosis**. The tight prepuse of penis when pulled behind the glans, it acts like a constricting band, causing oedema. For details consult 23rd chapter of 2nd part of shalya vigyan.

(39) **अवपाटिका**—अल्प योनि वाली बाला से वेगपूर्ण सम्भोग करने पर, शिश्न को जोर से हाथ से मलने से एवं उपस्थित शुक्रवेग को रोकने से (शिश्न को हाथ से बलपूर्वक दबा देने पर) शिश्न का चर्म विदीर्ण हो जाता है, इसे अवपाटिका कहते हैं। इसकी चिकित्सा भी उपरोक्त बताई परिवर्तिका की विधि से करनी चाहिए।

It is the **tear** in the prepuse of the penis. It may be a simple tear or it may associate with paraphymosis. The treatment of simple tear is only antiseptic dressing. The treatment of paraphymosis is reduction, as described in 23rd chapter of 2nd part of shalya vigyan.

(40) **निरुद्ध प्रकश**—मर्दन पीड़न एवं अभिघात से व्यान वायु चर्म के साथ मिलकर मणि को पूर्ण रूप से आच्छादित कर लेती है (त्वचा मणि से चिपक जाती है)। इससे मूत्र स्रोत रुक जाता है। मूत्र छिद्र संकीर्ण होने से मूत्र धार मन्द वेग से एवं वेदना के साथ आती है।

चिकित्सा—

दो मुख वाली नाड़ी को स्निग्ध करके शिश्न छिद्र में प्रवेश करें एवं सूअर की वसा या मज्जा से परिषेक करें। ऐसे ही तीन दिन के अन्तर पर क्रमशः मोटी नाड़ी लगाते जायें तथा रोगी को स्निग्ध अन्न खाने को दें। या फिर सीवनी को बचाकर इसे शस्त्र से चीर कर सद्यःक्षत विधि से चिकित्सा करें।

It is a condition of **phymosis** In phymosis the prepusal meatus is either pinhole or it is so narrow that it can not be retracted back over the glans. The retention of smegma may cause balanitis. In this condition dilatation should be done in infants and circumcision in children. For details consult it in 23rd chapter of 2nd part of this book.

(41) **सन्निरुद्ध गुद**—वायु एवं मल के वेग को रोकने से प्रकुपित अपान वायु गुदा का आश्रय लेकर गुद द्वार के बाहर एवं अन्दर के मार्ग को संकीर्ण (छोटा) कर देती है। इससे मल कठिनाई से आता है इसकी चिकित्सा निरुद्ध प्रकश के समान करनी चाहिए। यह व्याधि कष्ठ साध्य होती है।

This condition is like that of an anal stricture, see its details in 17th chapter of 2nd part of shalya vigyan.

(42) **अहिपूतना**—मल मूत्र (गुदा) को साफ न करने से तथा स्वेद आने पर स्नान न करने से शिशुओं में गुद स्थान पर रक्त एवं कफ जन्य कण्डू उत्पन्न होती है। इससे शीघ्र ही छाले (विस्फोट) उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे स्राव निकलता है। इस प्रकार के अनेक व्रणों के मिल जाने को अहिपूतना कहते हैं।

चिकित्सा :

शिशु की धात्री के दुग्ध का शोधन करें। परवल पत्र एवं त्रिफला या रसौंत, बेर एवं खैर के कषाय से व्रणों का रोपण करें। बेर छाल एवं सेन्धा नमक को कांजी में पीस कर लेप करें या रोपण कल्क में ठीकरे का चूर्ण और तुत्थ का चूर्ण मिलाकर लगायें।

This condition is like that of Napkin rash. **Napkin Rash (Jacquet's or infantile Erythema)**—Ammonia liberated from wet

napkins, spoiled with stool and urine, causes chemical irritation and erythema (Urine + Urea splitting organisms of the stool = Ammonia + CO_2. The skin becomes red causing superficial blisters. Blisters on rupture may cause deep excoriation. This condition is very painful when urine or stool touches these ulcers. **Treatment**—Train the child to pass urine and stool in pot or change the wet napkins immediately when it gets spoiled, wash the hips with warm water, sprinkle boric acid in napkins or use petrolium jelly, use zinc oxid or gention violet on ulcerated areas (boric acid should not be usede in ulcerated areas).

(43) वृषण कच्छु—स्नान न करने से, उबटन न मलने से, मल अण्डकोषों में एकत्रित होकर एवं उसके आर्द्र होने से वृषण में कण्डु होती है। इसमें शीघ्र ही स्रावयुक्त स्फोट उत्पन्न होते हैं। यह रोग कफ तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है। इस रोग में भी उपरोक्त वर्णित, अहिपूतना के समान स्थानीय चिकित्सा करें।

It is like a wet eczema of scrotum as described under the heading "vicherchika".

(44) गुदभ्रंश—प्रवाहण एवं अतिसार के कारण, रूक्ष एवं निर्बल शरीर वाले व्यक्ति की गुद वलियाँ प्रवाहण से बाहर आ जाती हैं। इसे गुद-भ्रंश कहते हैं। गुदा में स्वेदन देकर स्नेहन करें, फिर हाथ से बल्लियों को भीतर प्रविष्ट कर दें तथा छिद्र युक्त चमड़े की पट्टी (वस्त्र) को गुदा पर बाँध दें। आन्त्र रहित चुहिया को महा पंचमूल के साथ दूध में पकायें, फिर इस दूध एवं वात नाशक औषधियों के साथ तैल को सिद्ध करें। यह तैल रोगी को पिलायें एवं इसी से अभ्यंग करें।

Prolapse of rectum—In this condition either the anal sphincter gets loose or there is loss of fat from ishiorectal fossa as found in emaciated people. There may be complete or incomplete prolapse of rectum. The treatment of prolapse is of many fold the medicinal treatment, the injection treatment, the cauterization or the surgical treatment. For details, see 17th chapter in 2nd art pof Shalya vigyan.

10

रक्त स्राव

(Haemorrhage)

व्याख्या

रक्तवाहिनियों से बाहर निकले रक्त को रक्तस्राव कहते हैं। वाहिनियों से निकला हुआ रक्त जब बाह्य अर्थात् त्वचा के ऊपर आकर दर्शित होता है तब इसे बाह्य रक्त स्राव (External haemorrhage) कहते हैं। रक्त जब शरीर के अन्दर की किसी गुहा में इकट्ठा होता है तब इसे अन्तः रक्तस्राव (Internal haemorrhage) कहते हैं। वाग्भट्ट ने अन्तः रक्तस्राव की अवस्था को अन्तर्लोहित नाम से कहा है। यह अव्यक्त रक्तस्राव शरीर के भीतर अनेक स्थानों पर मिल सकता है, जैसे यकृत या प्लीहा के विदीर्ण होने पर, बड़ी अस्थियों के भग्न या मस्तिष्क गत रक्त स्राव की अवस्था में। यह अव्यक्त रक्तस्राव (Concealed haemorrhage) जब अन्नवह प्रणाली में (Bleeding peptic ulcer) होता है तो रक्त वमन (Haematemesis) या रक्तमल (Malena) के रूप में व्यक्त होता है। इसी प्रकार फुफ्फुस गत रक्तस्राव कासज वमन (Haemoptysis) द्वारा तथा मूत्र वह संस्थान के अवयवों का रक्तस्राव रक्त मूत्र (Haematurea) द्वारा व्यक्त होता है।

हेतु :

(i) आघात (Trauma)—शस्त्रादि या हिसक पशुओं के काटने से (जैसे भग्न, छिन्न व्रण इत्यादि का रक्तस्राव)।

(ii) अधिक रक्तदाब (High blood pressure)—रक्तवाहिनियों में अधिक रक्त दाब हो जाने से यह विदीर्ण हो जाती हैं। इसमें प्रायः अन्तः रक्तस्राव होता है, परन्तु यदा कदा बाह्यः रक्तस्राव जैसे नासिका से रक्तस्राव (Epistaxis) भी हो सकता है।

(iii) वाहिनी परिगलन—वाहिनियों की दीवार के परिगलन अर्थात् ऊतिनाश (Necrosis) होने से, जैसे दाब जन्य ऊतिनाश (Pressure necrosis) में रक्तस्राव हुआ करता है।

(iv) संक्रमण—संक्रमण के कारण वाहिनियों की दीवार नष्ट होने पर रक्तस्राव होता है।

(v) **रक्त स्राव की प्रवृत्ति** (Diathesis)—रक्त में विभिन्न रक्त स्कन्दन घटकों (Factors) [एन्टीहिमोफिलिक घटक (Anti haemophaelic factor) कैल्शियम (Calcium) इत्यादि] की कमी से भी रक्तस्राव होता है।

(vi) **विटामिन की कमी** (Vitamin deficiency)—विटामिन की कमी से, जैसे विटामिन 'के' (Vitamin K) की कमी से यकृत में प्रोथ्राम्बिन (prothrombin) न बनने से, रक्त का स्कंदन नहीं हो पाता, जिससे रक्त स्राव की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, तथा विटामिन 'सी' (Vitamin C) की कमी से रक्तवाहिनियों में सच्छिद्रता (Porosity) बढ़ जाने पर श्लेष्म कलाओं से रक्तस्राव होता है।

(vii) **घातकार्बुद** (Malignancies)– आमाशय एवं वृहदान्त्र के घातक अर्बुदों में या रक्त गत कैन्सर (Leukaemia) इत्यादि अवस्थाओं में भी रक्तस्राव होता है।

प्रकार [क] रक्त वाहिकाओं के आधार पर रक्तस्राव तीन प्रकार का होता है।

(i) धमनी गत रक्तस्राव
(ii) सिरागत रक्तस्राव
(iii) कोशिका गत रक्तस्राव

(i) **धमनीगत रक्तस्राव** (Arterial haemorrhage)---यह रक्त स्राव तीव्र गति से होता है तथा इसका वर्ण चमकीला लाल होता है। रक्तस्राव की गति नाड़ी स्पन्दन (Arterial pulsation) के अनुसार तीव्र तथा मन्द होती रहती है।

(ii) **सिरागत रक्तस्राव** (Venous haemorrhage)—यह रक्तस्राव मन्द गति से नियमित धारा बद्ध लगातार होता रहता है। इस रक्तस्राव का रंग लाल होता है परन्तु अधिक रक्तस्राव होने से ऑक्सीजन की कमी होने पर यह गहरे श्याम वर्ण का हो जाता है।

(iii) **कोशिकागत रक्तस्राव** (Capillary haemorrhage)—कोशिका से रक्तस्राव बराबर होता रहता है तथा यह चमकीले लाल वर्ण का होता है। यदि यह मन्द गति का रक्तस्राव अधिक समय तक चलता रहे, जैसा हिमोफीलिया में होता है, तो यह रोगी को घातक अवस्था तक पहुंचा देता है।

[ख] रक्त स्राव कालानुसार तीन प्रकार का होता है।

(i) प्राथमिक
(ii) प्रतिक्रियात्मक
(iii) द्वितीयक

(i) **प्राथमिक रक्तस्राव** (Primary haemorrhage) —शस्त्र कर्म के समय आघात से या अन्य आगन्तुज कारणों से रक्तवाहिनियों के कटने से जो रक्तस्राव होता है उसे प्राथमिक रक्तस्राव कहते हैं।

(ii) **प्रतिक्रियात्मक रक्तस्राव** (Reactionary haemorrhage)—यह रक्त स्राव प्राथमिक रक्तस्राव के बन्द होने के 24 घन्टे के अन्दर (सामान्यत: 4 से 6 घण्टे में) पुन: प्रारम्भ हो जाता है। इस रक्त स्राव का कारण प्राय: वमन, कास का वेग या रक्त दाब में वृद्धि (High blood pressure) होता है। इन कारणों से, बान्धी हुई रक्तवाहिनियों की गाँठ खुल जाने से या स्कन्धित रक्त के थक्के (Coagulum) के अपने स्थान से हट जाने से यह रक्त स्राव होता है

(iii) **द्वितीय रक्त स्राव** (Secondary haemorrhage) —यह रक्त स्राव प्राथमिक रक्त स्राव के बन्द होने के 6-14 दिन पश्चात होता है इस रक्त स्राव के अनेक कारण होते हैं जैसे—

(i) आन्त्रव्रण में, क्षयज व्रण में एवं वाहिका सीवन स्थान इत्यादि में संक्रमण होने से।

(ii) निकास नलिका के लगातार दाब से वाहिका में ऊतक क्षय (Necrosis) होकर।

(iii) अस्थि भग्न के नोकीले टुकड़ों से।

(iv) घातकार्बुद से वाहिका के प्रभावित होने से।

सम्प्राप्ति—सामान्यत: शरीर से 10%(500 ml.) रक्त का स्राव हो जाने से कोई विशेष हानि नहीं होती, शरीर इसकी क्षति पूर्ति कुछ ही घण्टों में कर लेता है। 35% रक्त निकलने पर स्तब्धता कुछ तीव्र (Shock is moderately severe) होती है।

50% रक्तस्राव होने से प्राय: मृत्यु हो जाती है (Fatal haemorrhage) इसलिए रक्त की क्षति पूर्ति तुरन्त करनी चाहिये।

अत्यधिक रक्तस्राव से सिराओं में रक्त की वापसी कम हो जाती है, इससे हृदय निष्कासन (Cardiac out put) भी कम हो जाता है जिससे रक्त का दाब (Pressure) कम होकर ऊतकों को ऑक्सीजन नहीं मिल पाती, इसलिए हृदय की गति बढ़ जाती है तथा रक्त वाहिनियाँ सँकुचित हो जाती हैं। यह अनुकम्पी क्रिया (Sympathetic action) एड्रनलीन, नारएड्रनलीन तथा कोर्टिकोस्टेरायड (Adrenalin, noradrenalin and corticosteroids) द्वारा सम्पन्न होती है। रोगी में इस प्रक्रिया के कारण अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं जैसे—पाण्डुता (pallor), त्वचा का शीत एवं आर्द्र होना (Cold and clanny skin), शिराओं का पिचक

(Collapse) हो जाना, नाड़ी की गति में तीव्रता, बेचैनी तथा श्वास की गति में भी तीव्रता आ जाती है। अत्यधिक रक्तस्राव होने की अवस्था में रक्तवाहिका की संकोचक क्रिया अपना कार्य करना बन्द कर देती है, हृदय एवं मस्तिष्क भी कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं, तथा रोगी घातक अवस्था में (मृत्यु समीप) पहुंच जाता है।

लक्षण

तीव्र रक्तस्राव (Acute blood loss)—शरीर से तीव्रता से रक्त स्राव हो जाने पर, पाण्डुता, नाड़ी की गति में तीव्रता, बेचैनी, श्वास कष्ट, त्वचा शीत एवं आर्द्र,, सिराओं में शिथिलता इत्यादि उपरोक्त सब लक्षण पाए जाते हैं। कुछ देर पश्चात् कर्णनाद (Tinnitus), तृष्णा, अन्धता, नाड़ी प्रसार में कमी (Low volume pulse) के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। यदि तीव्र रक्तस्राव को रोकने का प्रबन्ध न किया जाये तो हृदय एवं मस्तिष्क में कार्य अवरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

जीर्ण रक्तस्राव (Slow blood loss)—जीर्ण रक्त स्राव अनेक कारणों से हो सकता है जैसे रक्तार्श (Bleeding piles), गर्भाशय के अर्बुद, उण्डुक के घातक बुंद (Carcinoma of caecum) तथा पेप्टिक व्रण (peptic ulcer) इन कारणों से रक्त के आयतन (Blood volume) में कमी नहीं होती, परन्तु रक्त कणों (Blood cells) का लगातार ह्रास होता है। इससे रोगी में पाण्डुता (Anaemia), श्वास कृच्छ्रता तथा हृदय निष्कासन (Cardiac out put) की अत्यधिक वृद्धि हो जाने से धीरे-धीरे हृत्कार्य अवरोध (Cardiac failure) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसे रोगियों में रक्ताधान (Blood transfusion) करते समय ध्यान रखना चाहिये क्योंकि इन रोगियों को सम्पूर्ण रक्त की अपेक्षा घनित रक्तकण (Pack cell volume) की आवश्यकता होती है।

आयुर्वेदाचार्यों ने अन्तः रक्त स्राव (अव्यक्त रक्तस्राव) को अन्तर्लोहित संज्ञा दी है और कहा है।

तत्रान्तर्लोहितं शीत पादोच्छ्वास करानम्।
रक्ताक्षं पाण्डु वदनमानद्धं च विवर्जयेत्॥ अ० स० उ० 29

अन्तर्लोहित अवस्था में यदि रोगी के हाथ, पैर, मुख शीतल हो गये श्वास मन्द हो गया हो एवं शरीर पाण्डु वर्ण का हो गया हो तो ऐसे रोगी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए (अर्थात् वह रोगी निश्चित ही मर जाता है)

सामान्य लक्षण

1. किसी विशेष स्थान पर चोट लगने का इतिहास
2. मुख का रंग रक्त रहित या पीला सा पड़ जाता है (Pallor face)
3. बेचैनी (Restlessness)
4. हाथ पाँवों का ठण्डा हो जाना (Skin-cold)
5. प्यास अधिक लगना (Thirst and Dryness of tongue)

6. दृष्टि की क्षीणता
7. नाड़ी का तीव्र और दुर्बल होना (Pulse rapid and feeble)
8. रक्त चाप का कम होते जाना (Low Blood Pressure)
9. शरीर के ताप की कमी (Body temp. (Subnormal) slowly becomes low)
10. Tenderness and swelling over the particular site.)

सुश्रुतमतानुसार लक्षण—आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि अत्यधिक रक्तस्राव हो जानें से शिर-शूल, अन्धता, अधिमंथ, तिमिर, आक्षेप, दाह, पक्षाघात, एकाङ्ग विकार, हिक्का, श्वास, कास, पाण्डुता तथा मृत्यु भी हो सकती है।

"तदति प्रवृतं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थ तिमिरप्रादुर्भावं, धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णा दाहौ हिक्कां कास श्वासं पाण्डुरोग मरणं चापादयति।"

सु० सू० 14।30

स्थानानुसार लक्षण—

(i) **मस्तिष्क**—आघात के कारण या रक्तभार के बढ़ने से रक्तस्राव होने पर मूर्च्छा, [जड़ता या सन्यास (Stuper or coma)] तथा सम्बन्धित धमनियों में ऐंठन और पक्षाघात इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। तारामण्डल (Pupil) में विस्तार हो सकता है। श्वास अत्यधिक गहरा (Gasping) एवं नाड़ी (Pulse) अत्यन्त शिथिल (क्षीण) हो जाती है।

(ii) **महास्रोत** (G. I. T.)—आमाशय व्रण (Peptic ulcer), आमाशय परिस्फिती (Gastric varices) आमाशयार्बुद (Carcinoma stomach), आघात आन्त्र-विपुटी शोथ (Diverticulitis), क्षुद्रान्त्र एवं वृहदान्त्र के सौम्य एवं घातक अर्बुद, वृहदान्त्र में शोथ एवं व्रण (Ulcerative colitis) इत्यादि कारणों से महास्रोत में रक्तस्राव होने पर दौर्बल्य, मूर्च्छा, रक्तवमन (उर्ध्व महास्रोत में रक्तस्राव होने पर जैसे आमाशय में) या काला मल (रक्त युक्त मल) Malena (अधः महास्रोत में रक्त स्राव होने पर मल गहरे लाल रंग का भी हो सकता है), इससे रोगी में पाण्डुता, नाड़ी की गति तीव्र तथा रक्तभार का ह्रास हो जाता है।

आमाशयस्थे रूधिरे रूधिरश्छर्दयेत पुनः।
आध्मानं अतिमात्रं च शूलं च भ्रंशदारूणम्॥ सु० चि०
पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च।
शीतता चाप्यधो नाभेरवेभ्यो एकस्य चागमः॥ सु० चि०

(iii) मूत्रवहस्रोत (Urinary tract) इस स्रोत में आघात होने से, रक्तभार की वृद्धि से, अश्मरी से या पैपीलोमा (Papilloma) अर्बुद से रक्तस्राव होकर, वह मूत्रमार्ग से बाहर (Heamaturia) निकलता है। यदि रक्तस्राव वृक्क या गविनी से हो रहा हो तो वह पैन्सिल की तरह लम्बा थक्का (Clot) होता है, तथा मूत्राशय से आने पर वह बड़े-बड़े थक्कों के रूप में निकलता है।

सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने भी मूत्रमार्ग से रक्त आने का कारण वस्ति का विदीर्ण होना एवं अश्मरी बताया है। **"अथ जातासु···स रुधिर मूत्रता।" सु० नि० एवं "तत्संक्षोभात् क्षते स स्रमायासाच्यति रुग्भवेत।" वाग्भट्ट**

(iv) फुप्फुस (Lungs)—राजयक्ष्मा में, तीव्र कास में, या आघात के कारण (उरः क्षत से) रक्तवाहिनियों के फटने से रक्तवमन (Heamoptysis) होता है। यह रक्त झाग युक्त तथा कास के वेग के साथ वमन के रूप में फुप्फुसों से आता है। इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। रक्त के साथ फुप्फुसों से श्लेष्मा भी आ सकता है।

फुप्फुस या वक्ष के आघात से अन्तर्पर्शुका धमनी (Intercostal artery) से या फुप्फुस से ही रक्त निकलकर फुप्फुसीय गुहा (Pleural cavity) में भर जाता है, इसे रक्तवक्ष (Haemothorax) कहते हैं। इससे स्तब्धता (Shock) उत्पन्न होती है तथा इसके दाब (Pressure) के कारण हृदय और फुप्फुसों की क्रिया सुचारू रूप से नहीं हो पाती (Cardio pulmonary embrassment)।

(v) स्त्रियों में—स्त्रियों में गर्भाशय से अऋतुकालीन रक्तस्राव के अधिक मात्रा में आने पर (Matropathia haemorrhagica) भी स्तब्धता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा :—

"देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः॥" सु० सू० 14

अर्थात् शरीर का मूल आधार रुधिर है, इससे ही शरीर धारित (जीवित) रहता है। इसलिये सब उपायों से रुधिर की रक्षा करनी चाहिए।

रक्तस्राव की चिकित्सा दो प्रकार से होती है।

(1) स्थानीय (Local)

(2) सार्वदैहिक (General)

(i) **स्थानीय :—"चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।**
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा।" सु० सू० 14

रक्त को रोकने के 4 उपाय हैं यथा—सन्धान, स्कदन, पाचन एवं दहन।

(i) सन्धान—(व्रणं कषायः सन्धत्ते) कषाय द्रव्यों से जैसे पंचक्षीरी वृक्ष फिटकरी, रजत का लवण (Ferric Perchloride), तारपीन का तैल, ब्रोम्बोफॉ

(Tropical thrombophobe) तथा अड्रनेलीन (Adrenalin) इत्यादि से या धमनी को सूत्र से बाँधकर रक्त स्राव बन्द करें।

(ii) स्कन्दन—(रक्तं स्कन्दते हिमम्) शीतल पदार्थों से या हिम के स्पर्श से केशिकायें संकुचित होती हैं) रक्तस्राव बन्द करें।

(iii) पाचन—(तथा सम्पाचयेद्भस्म) क्षार, शंख, शुक्ति रेशम इत्यादि की भस्म लगनी चाहिए।

(iv) दहन—(दाहः सङ्कोचयेत् सिराः) केशिकाओं के रक्त स्राव को दहन (Cautery) द्वारा बन्द करें।

असिद्धिमत्सु चैतेषु दाह परम्इष्यते॥ सु० सू० 14

उपरोक्त कर्मों से रक्त स्राव न रुकने पर दहन कर्म करना चाहिए। दहन कर्म रक्तस्राव रोकने का एक अचूक उपाय है (इसे अग्निकर्म अध्याय में देखें)

(v) अन्य विधियाँ—(क) केशिकाओं से होने वाला रक्तस्राव कुछ देर (3-5 मिनट) तक दबाए (Pressure) रखने से बन्द हो जाता है।

(ख) वाहिनियों से होने वाले रक्तस्राव में धमनी संदंशयन्त्र (Artery forceps) से धमनियों को पिच्चित (Crush) करने से सामान्यतः रक्तस्राव रुक जाता है। यदि ऐसा करने से रक्त स्राव न रुके तो वाहिनी को धागे से बान्ध दें।

(ग) शाखा को सिर से ऊपर उठाकर रखने से भी शाखाओं का रक्तस्राव कम हो जाता है।

(घ) बड़ी वाहिनियों से होने वाले रक्तस्राव में वाहिनी को धागे से बान्ध देना ही ठीक रहता है, इसके लिये सामान्य नियम यह है—

सर्वप्रथम रक्तस्राव के स्थान में विकेशिका (Gauze) को भर दें और वहां पर रक्त लाने वाली बड़ी धमनी को दबाकर रखें, जैसे अधोशाखा से होने वाले रक्त स्राव में और्वी धमनी (Femoral artery) को दबाकर रखते हैं, फिर कुछ देर पश्चात् विकेशिका को निकालकर कटी हुई वाहिनी को आरट्रीफारसेप्स से पकड़कर बाँधने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ङ.) द्वितीय रक्तस्राव होने पर घाव में विकेशिका (Gauze) को दबा-दबाकर भर दें एवं 2-3 दिन के लिए विकेशिका को ऐसे ही पड़ा रहने दें।

(च) यदि मृत्युकारक रक्तस्राव (अत्यधिक रक्तस्राव) हो रहा हो और किसी भी विधि से वह बन्द न हो रहा हो तो वहाँ पर पोषण करने वाली बड़ी धमनी को बाँध देना चाहिए अन्यथा (देरी करने से) अत्यधिक रक्तस्राव से रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्तस्राव रुकने पर बाँधी हुई धमनी के पास से (दूरस्थ भाग से) अंगविच्छेद (Amputation) कर देना चाहिये।

(छ) कपाल की त्वचा से रक्तस्राव को रोकने के लिए त्वचा को अस्थि की ओर दबाकर रखें या गेलिया (Galea) को धमनी संदंश यन्त्र से पकड़कर बाहर की ओर खींचते हैं। कपाल के आवरण (Fibrofatty layer) में पड़ी हुई रक्त वाहिनियों को पकड़ना बहुत कठिन होता है।

(ज) मस्तिष्क से रक्तस्राव होने पर स्थानीय संज्ञानाश करके शंख प्रदेश पर छेद (Bur hole) बनाकर या अस्थि में ट्रिफाईन (Trephine) करके डियूरामैटर (Duramatter) को सुई से ऊपर उठाकर सावधानी से उसका भेदन करें। मस्तिष्क को बचाते हुए रक्तगुल्म (Haematoma) का परिषेक (Irrigation) करना चाहिए और रक्त को आचूषण कर्म द्वारा निकालें तथा कटी हुई वाहिनी का दहन कर्म कर दें। शंख प्रदेश में रक्तस्राव न मिलने पर उसे ललाट भाग में ढूंढें तथा इसके पश्चात् पार्श्व भाग (Parietal Part) में देखें और यदि यहाँ भी रक्तस्राव न मिले तो विपरीत ओर (दिशा में) छेद (Bur hole) करके रक्तस्राव को ढूंढ़ना चाहिये। मस्तिष्क से लसिकामय श्वयथु (Oedema) कम करने के लिये रोगी को सिरा में 12% मेनीटोल या यूरिया (Manitol or urea) देना चाहिये। इससे मूत्र अधिक आने से श्वयथु कम हो जाता है। छः मास पश्चात् अस्थिछेद को स्वस्थि प्रत्यारोपण (Auto bone graft), टैन्टेलम (Tentalum) से या प्लास्टिक (Acrylic plastic) इत्यादि के प्रत्यारोपण द्वारा कपाल के छेद को बन्द कर देना चाहिए।

(झ) महास्रोत (G. I. T.) :—आमाशय से रक्तस्राव होने पर प्रति अम्लीय पदार्थ (Antacids as Gelusil) दें, या हिम शीत दुग्ध को आमाशय नलिका या Ryle's tube द्वारा बूंद-बूंद करके दें। रोगी में शीतता (Hypothermia) उत्पन्न करें, इसके लिए 50% इथनोल (Ethnol) द्वारा 5–10°C तक तापमान कम कर दें। रक्तस्राव बन्द हो जाने पर भी 16–48 घन्टे तक यही चिकित्सा करते रहें। इसमें वाहिका संकोचक (Vassopressor) औषधियाँ कदापि नहीं देनी चाहिए क्योंकि इसमें मर्म (Vital organs) की धमनियों का संकोच होने से उनमें आक्सीजन की और भी अधिक कमी हो जाती है।

आमाशय से रक्तस्राव यदि ग्रासनली वाहिकाविस्फार (Oesophageal varices) के कारण हो रहा हो तो आमाशय में संगस्टेकन नलिका (Sungstaken tube, as shown in Fig. No. 56 in Part II) डाल देनी चाहिए। इसके लगे दोनों गुबारे फुला देने से, इनके दाब से वहां का रक्तस्राव बन्द हो जाता है। इस नलिका द्वारा आमाशय से रक्त को भी निकालते रहना चाहिये (अन्यथा यह शरीर में विषाक्तता उत्पन्न करता है) इस नलिका से रोगी को पोषण पदार्थ देते रहें। इसका विस्तृत वर्णन शल्य विज्ञान द्वितीय भाग के उदर रोग अध्याय में देखें।

(2) सार्वदैहिक चिकित्सा—

(i) रोगी को सिर नीचे तथा पैर ऊपर (Trendlenburg position) करके लेटाकर रखें।

(ii) रोगी को विषम चेष्टा (Rough and jerky movements) नहीं करने दें।

(iii) रोगी को कोष्ण रखें (अधिक उष्णता से वाहिनियों का विस्फार होकर स्तब्धता बढ़ती है)।

(iv) रोगी को अवसादित (Sedation) अवस्था में रखें। इसके लिए पैन्टोबार्बिटल सोडियम (Pentobarbital sodium 0·1 gm, I. m.) दें

(v) 50% रक्तस्राव होने पर रोगी में तुरन्त रक्ताधान करें, (1—1½ घन्टे में 4000 ml. तक दे दें) तथा रक्तभार को सामान्य अवस्था (Systolic B. P. 100 m.m. Hg) में लायें। इसके अभाव में रक्त-वारि विस्फारक द्रवों (Plasma expanders), जैसे Dextran 6% I. V. drip से इत्यादि को दें।

(vi) रक्त प्रवृत्ति होने पर आवश्यकतानुसार ए० एच० जी० (A. H. G.) या 500 C. C. ताजे रक्त का आधान करें या प्लाज्मा तथा रक्त चक्रिकाएँ दें। फाईब्रीनोजन (Fibrinogen) की कमी होने पर विटामिन 'के' (Vit—K) को वटी रूप में या सूची (Inj. Mephyton 50–100 mg. I. M.) रूप में दें।

11

स्तब्धता (shock)

व्याख्या :

रक्तवाहिनियों में रक्त ग्रहण करने की क्षमता (Volume capacity) और परिभ्रमणशील रक्त की मात्रा (Blcod Volume) के अनुपात में असामञ्जस्य (Disparity) की अवस्था को स्तब्धता कहते हैं। इससे अवसाद (Prostration) हो जाता है। स्तब्धता की अवस्था में सामान्यतः दो क्रियाएं दृष्टिगोचर होती हैं—

(i) रक्त वाहिनियों में रक्त की मात्रा में न्यूनता आ जाना।

(ii) रक्त वाहिनियों का संकुचित होना।

(i) रक्त वाहिनियों में रक्त की मात्रा में न्यूनता आ जाने से हृदय निष्कासन (Cardiac out put) में कमी आ जाती है, जिस से रक्तदाब भी कम हो जाता है, इस कारण ऊतकों (विशेषतः हृदय एवं मस्तिष्क) में ऑक्सीजन की कमी (Hypoxia) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(ii) रक्त वाहिनियों में रक्त दाब में कमी आने से परिसरीय (Peripherall) रक्त वाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं जिस कारण परिसरीय प्रतिरोध (Periphera resistance) बढ़कर रक्तभार में वृद्धि हो जाती है, इसके फलस्वरूप ऊतकों को ऑक्सीजन पहुंचाने में सहायता मिलती है, अतः इसे सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया भी कहा जा सकता है। यदि इस अवस्था में रक्त वाहिनियों में रक्त की मात्रा बढ़ा दी जाए (By transfusion) तो रोगी स्तब्धता से सामान्य स्वस्थ अवस्था में पहुंच जाता है। इस प्रकार की स्तब्धता को ही **परिवर्तित स्तब्धता** (Reversible shock) कहते हैं, और यदि रक्तस्राव चलता रहे तथा समय से रक्ताधान (Blood transfusion) न किया जाए तो हृदय एवं मस्तिष्क में रक्त की कमी से ऊतियों के प्रभावित (Tissues of vital organs are affected) होने से **अपरिवर्तनीय स्तब्धता** (Irreversible shock) उत्पन्न हो जाती है। रोगी में रक्त वाहिनियों के संकोच से तथा रक्त की कमी से श्वेत वर्णता (Pallor), त्वचा में शीतलता, स्वेद का आना तथा नाड़ी गति में तीव्रतादि लक्षण उत्पन्न होने से रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस अवस्था में रक्ताधान करने से भी रोगी को बचाया नहीं जा सकता।

सुश्रुत संहिता में भी रोगी के कोष्ठ में रक्त भर जाने (Internal haemorrhage) पर ऐसे ही लक्षणों का वर्णन किया गया है।

सुश्रुत के अनुसार—कोष्ठ में रक्त भर जाने से रोगी श्वेत वर्ण का (Pale) हो जाता है; पैर, मुख एवं हाथ ठंडे हो जाते हैं, श्वास ठंडी हो आती है, आंखें लाल हो जाती हैं तथा दोष रुक जाने से रोग असाध्य हो जाता है।

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डु शीतपादकराननम्।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं विवर्जयेत्॥ सु० चि० 2

भेद—

(1) **प्राथमिक** (Primary)—इस के अन्तर्गत तन्त्रिकाजन्य अर्थात् वात-नाड़ीजन्य (Neurogenic), मानसिक (Psychogenic) एवं वासोवेगल (Vaso-vagal) इत्यादि स्तब्धता आती है।

(2) **द्वितीयक** (Secondary)—इस के अन्तर्गत निम्न भेद आते हैं।

(i) अल्परक्तित (Oligaemic) स्तब्धता।

(ii) रक्तवाहिका जनित (Vesogenic) स्तब्धता।

(iii) हृदय जनित (Cardiogenic) स्तब्धता।

(iv) तीव्र ग्राहिक (Anaphylactic) स्तब्धता।

(1) **प्राथमिक स्तब्धता (Primary shock)**—इस प्रकार की स्तब्धता तुरन्त उत्पन्न होती है।

हेतु : (क) कुछ लोग रक्त को देखने से (केचिद् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः) या उसकी गन्ध से ही मूर्च्छित हो जाते हैं, अर्थात् इनमें मूर्च्छा स्तब्धता के पश्चात् होती है।

(ख) डर जाने से या दुःखद समाचार सुनने से।

(ग) तीव्र वेदना से जैसे अण्डकोश (Testes) पर आघात लगने पर।

(घ) रक्तवाहिका विस्फारक (Vasodilator) औषधि के प्रयोग से।

(ङ.) तथा उच्च स्तर के मेरु संज्ञानाश (High spinal anaesthesia) से।

इस प्रकार की स्तब्धताओं में अल्पमूर्च्छा से लेकर मृत्यु तक भी हो सकती है। इन कारणों से रक्त वाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं जिससे शरीर का रक्त अत्यधिक मात्रा में आशयिक शय्या (Splanchnic bed) तथा ऐच्छिक मांसपेशियों (Voluntary muscles) में चला जाता है। इससे मस्तिष्क रक्ताल्पता अर्थात् प्रमस्तिष्क रक्ताल्पता (Cerebral anaemia) उत्पन्न होकर मूर्च्छा (Uncons-ciousness) आ जाती है।

पूर्व रूप—इसमें रोगी में श्वेतता (Pallor), शीतस्वेद (Cold sweating), दुर्बलता (Weakness), मितली (Nausea) तथा हल्कापन (लघुता) प्रतीत होता है ।

लक्षण—पूर्व रूप के लक्षणों के पश्चात् तुरन्त मूर्च्छा, रक्तभार में कमी (Hypotension) तथा हृदय गति में मन्दता (Bradycardia) इत्यादि लक्षण कुछ क्षणों के लिए उत्पन्न होते हैं । इसके पश्चात् रोगी चेतनावस्था में आ जाता है । सुश्रुत में भी रक्त की गन्ध से उत्पन्न मूर्च्छा के लक्षणों में श्वास अस्पष्ट (Feeble respiration) और मूर्च्छा उत्पन्न होना बताया है । यह लक्षण तन्त्रिका-जन्य स्तब्धता के ही अनुरूप है ।

"स्तब्धाङ्ग: वृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छित:"

चिकित्सा—*(क) रोगी को पूर्ण विश्राम दें ।*

(ख) रोगी को सिर नीचे तथा पैर ऊपर (Trendelenburg position) करके लेटायें, ऐसा करने से ऐच्छिक पेशियों से रक्त निकल कर मस्तिष्क में पहुंचना शुरू हो जाता है और कुछ ही क्षणों में रोगी ठीक हो जाता है ।

(ग) स्तब्धता उच्चस्तर मेरु संज्ञानाश (High spinal anaesthesia) के कारण से होने पर रक्त वाहिनी-दाब वर्धक औषधियाँ (Vasopressure agents, like Ephedrine hydrochloride 20-50 mg. I. M. or 10-25 mg. I. V. for 20 minutes; maphentine or methedrine 15-20 mg. I. M. or 10-20 mg. I. V. four hourly) दें ।

आयुर्वेद मतानुसार—इस अवस्था में तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण अभ्यंग या कौंच को शरीर पर रगड़ने से (इससे तीव्र कण्डू होती है), या फिर गाना, बजाना इत्यादि से रोगी की मूर्च्छा तोड़ें तथा कस्तूरी भैरव रस 1/2—1 रत्ती या मकरध्वज 1 रत्ती की मात्रा में दें ।

(2) **द्वितीय स्तब्धता (Secondary shock)**

यह स्तब्धता विभिन्न प्रकार के हेतुओं के कारण निम्नलिखित 4 प्रकार की हो सकती है ।

(i) अल्परक्तित स्तब्धता (Oligaemic shock)

शरीर से रक्त या प्लावि (Plasma) के निकलने से रक्त की मात्रा में न्यूनता आ जाती है, इस से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे अल्परक्तित स्तब्धता (Oligaemic shock) कहते हैं । इसमें यदि अपने से ही प्रत्यावर्तित-वाहिका संकोचक-प्रतिक्रिया (Reflex vaso constriction) से यह अवस्था ठीक न हो पाए

तो धातुओं में रक्त की कमी से ऑक्सीजन (O_2) की कमी होकर, उन ऊतियों का नाश (Damage) होना प्रारम्भ हो जाता है । अत: इस अवस्था के उत्पन्न होते ही चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए, क्योंकि शरीर से 35-45% रक्त स्राव होने से तीव्र स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है तथा 50% रक्त स्राव हो जाने से मृत्यु की सम्भावना हो जाती है । परन्तु बच्चों में, जीर्ण रोगों में, संज्ञानाश में कार्टिकोस्टिरायड (Corticosteroid) लेने वाले रोगी में तथा एडिसन के रोग में (Addison's disease) में [अन्तिम दोनों अवस्थाओं में एड्रिनेलिन (Adrenalin) की कमी से वाहिका संवेदनाघात (Vasomotor paralysis) के कारण से] स्तब्धता अत्यधिक तीव्र होती है । यह स्तब्धता शीघ्रता से उत्पन्न होती है ।

हेतु—(क) आघात से उत्पन्न अत्यधिक बाह्य या अन्त: रक्त स्राव ।

(ख) पिच्चित व्रणों में या नील व्रणों में (Crushed injuries or contused wounds) से उत्पन्न रक्तस्राव ।

(ग) व्याधि जन्य अन्त: रक्त स्राव जैसे—आमाशय व्रण, अन्न नलिका की सिरा अपस्फिति (Oesophageal varices) इत्यादि ।

(घ) विभिन्न कारणों से उत्पन्न पर्युदर्याशोथ (Peritonitis), वमन, अतिसार इत्यादि से उत्पन्न निर्जलीकरण (Dehydration) के कारण ।

(ङ.) भग्न से, जैसे लम्बी अस्थियों में अनेक भग्न होने से अन्त: रक्त स्राव होकर स्तब्धता उत्पन्न होती है ।

(च) दग्ध जन्य व्रण में प्लावि के क्षय से (Plasma loss) ।

(छ) आमाशय विस्फार से आमाशय में आमाशय के ही स्राव भरते जाते हैं जिससे निर्जलीकरण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है ।

लक्षण—(क) **क्षतिपूरक स्तब्धता** (Compensated shcck)—20% रक्त स्राव होने से शरीर इसकी क्षतिपूर्ति कर लेता है । इसमें रक्त भार में थोड़ी सी न्यूनता होती है, हृदय की गति तीव्र हो जाती है, अवसाद तथा अनुकम्पी तन्त्रिका-संस्थान (Sympathetic nervous system) की क्रिया तीव्र हो जाती है, इसके अतिरिक्त श्वेतता, शीतस्वेद, तृषा, दौर्बल्य, तथा स्थिति आश्रित अल्परक्त भार (Positional hypotension) इत्यादि भी उत्पन्न होते हैं ।

(ख) **स्थापित स्तब्धता (Established shock)**—यह अवस्था शरीर में से 35% रक्त के निकल जाने पर उत्पन्न होती है । इसमें प्रकुन्चन रक्त भार (systolic blood Pressure) 100 m. m. Hg. से भी कम हो जाता है, हृदय की गति तीव्र होती है, नाड़ी बहुत दुर्बल (Thready pulse) हो जाती है । शरीर में शिथिलता (Prostration), रक्त में प्रगाढ़ता (Haemo concentration) आ जाती है (जबकि स्तब्धता निर्जलीकरण या दग्ध के कारण होती है) । इस दशा में हिमोग्लोबिन

(Haemoglobin) 15·0 हो gm तक जाती है, क्योंकि इसमें केवल प्लाज्मा का ही ह्रास होता है रक्त कण एवं हिमोग्लोबिन की हानि नहीं होती। अनुकम्पी क्रिया तीव्रता (Sympatheticover activity) में रोगी खुली वायु की ओर भागता है (Air hunger) क्योंकि उसे ऑक्सीजन की अधिक आवश्यकता रहती है। अतः रोगी बार-बार शीघ्रता से मुख खोलकर श्वास लेता है, तथा इन्द्रियों की शक्तिनाश (Dulness of sensation) इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों के उत्पन्न होते ही तुरन्त रक्ताधान (Blood transfusion) कर देने से एक दो घण्टे में ही रोगी की स्थिति में सुधार हो जाता है।

(ग) स्थाई स्तब्धता (Resistant shock)—इस अवस्था में रोगी की चिकित्सा करने से रोगी की बिगड़ती हुई अवस्था में क्षणिक लाभ होता है, परन्तु थोड़े समय पश्चात् ही रोगी पुनः स्तब्धता में चला जाता है। यह अवस्था अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है, जैसे बहुत देर तक रक्तस्राव होते रहने से, मस्तिष्काघात से, श्वासक्रिया या रक्त परिभ्रमण में व्यवधान होने से जैसे फलेलवक्ष (Flail chest) से या फिर संक्रमण से, ऑक्सीजन की कमी (Hypox a) तथा इलैक्ट्रोलाईट (Electrolyte) के असन्तुलन इत्यादि से एवं अनेक प्रकार की व्याधियों के एक साथ रहने से यह स्तब्धता उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—अल्परक्ति स्तब्धता की निम्न विधि से चिकित्सा करनी चाहिये।

(क) रक्तस्राव की चिकित्सा करें।

(ख) ऑक्सीजन को नासिका द्वार से दें।

(ग) रक्त की पूर्ति कर या रक्त वाहिका-संकोचक औषधियाँ (Vaso pressure agents) दें।

(घ) तीव्र वेदना होने पर वेदना हर औषधि दें।

(ङ.) रोगी को विश्रामावस्था में रखना चाहिए।

(च) अन्य व्याधियों की चिकित्सा करें।

रक्त स्राव की चिकित्सा—रक्तस्राव अध्याय में बताये गये सन्धान (कषाय द्रव्यों से या वाहिका को बांधकर), स्कन्दन (शीतता या हिम द्वारा), पाचन (क्षार से), दहन (अग्निकर्म से) इत्यादि विधियों के द्वारा बहते हुए रक्त को रोकना चाहिए।

ऑक्सीजन को तब तक देते रहें जब तक रोगी की श्वास क्रिया में या ऑक्सीजन न्यूनता (Hypoxia) में सुधार न हो जाए।

रक्त की पूर्ति—रोगी में रक्ताधान शीघ्रता से करना चाहिए अर्थात् रक्त

की 400c. c. की मात्रा 1-2 घण्टे के अन्दर दे देनी चाहिये। रक्ताधान तब तक करते रहें जब तक कि आकुन्चन रक्त भार (Systolic blood pressure) 100 m. m. Hg. तक न पहुंच जाए। प्लाज्मा के ह्रास होने पर प्लाज्मा या ग्लुकोस 5% सिरा द्वारा देना चाहिए, मूत्र के अल्प मात्रा में आने पर (Oliguria) डेक्सट्रावन (Dextravan) 1.5 gms/kg Body weight or mantiol 25-75 ml, I. V. drip से) सिरा में सूचीवेध द्वारा दें। अल्पमूत्रता में यदि सुधार न हो अर्थात् मूत्र की मात्रा प्रति घण्टे 50-60 c. c. तक न आने लगे तो 4 घण्टे के पश्चात् पुनः यह मात्रा दी जा सकती है। यह शरीर में माइक्रोसरकुलेशन (Microcirculation) को बढ़ाता है। इससे रक्त प्रवाह भी बढ़ता है। यदि यह चिकित्सा रक्त भार बढ़ाने में सफल न हो पाये तो साथ में रक्त वाहिनी भार वर्धक औषधियाँ, जैसे मैफन्टीन या एफिड्रीन (Mephentine 5 mg I. V./minute or ephedrine 20-50 mg. I. V. hydrocortisone 100 mg I. V.) इत्यादि दें, परन्तु ये औषधियाँ प्रारम्भ में ही नहीं देनी चाहियें क्योंकि शरीर में Plasma या रक्त की कमी बने रहने से तथा रक्त वाहिनियाँ देर तक संकुचित रहने से वृक्क एवं यकृत् को हानि पहुंचती है।

वेदना को शांत करने के लिए रोगी को पैथाडीन (Pethadine 100 mg I. M.) दें क्योंकि वेदना से स्तब्धता और अधिक बढ़ती है। **नोट—मस्तिष्काघात मूर्च्छा या श्वास कष्ट होने पर मारफीन की सूचीवेध कदापि नहीं करना चाहिए।** अन्य अवस्थाओं में वेदना होने पर मारफीन (Morphine hydrochloride 8-10 mg I. V.) दे सकते हैं।

रोगी को पूर्व विश्रामावस्था में अर्थात् लेटाकर रखें एवं उसे थोड़ा गर्म रखना चाहिए, अधिक उष्णता नहीं देनी चाहिए, क्योंकि इससे रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होने से रक्त भार और भी कम हो जाता है।

अन्य व्याधियाँ होने पर उनकी भी चिकित्सा करनी चाहिए। रोग अवस्था के मूल्यांकन के लिए रोगी का रक्तभार, नाड़ी की गति, द्रव के ग्रहण तथा उसके निकास की तालिका (Input and output chart) चार्ट पर एक-एक घन्टे पश्चात् अंकित करते रहें। जलाधिक्य (Over hydration) को भी ध्यान में रखना चाहिए यह अवस्था सिराओं में रक्तभार बढ़ने पर उत्पन्न होती है। इससे फुफ्फुस में लसिकामय श्वयथु (Oedema) होकर मृत्यु हो जाती है (Patient drowns in his own fluids)।

(ii) रक्त वाहिका जनित स्तब्धता (Vasogenic shock)

यह स्तब्धता तीव्र संक्रमण की विषाक्तता से उत्पन्न होती है, जैसे कोली-एयरोबैक्टर (Coli-aerobactor) या प्रोटियस (Proteus gram positive baci-

lli) से आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) आन्त्रवृद्धि की विषाक्त अवस्था (strangulation of hernia) तथा पर्युदर्या कला शोथ (Peritonitis) इत्यादि में। इनके विषों का प्रभाव सीधे हृदय पर होता है, जिस कारण हृदय की गति कम हो जाती है। इन विषों से रक्तवाहिनियाँ विस्फारित हो जाती हैं तथा तीव्र ज्वर होता है। रक्त की परीक्षा करने पर रक्त के श्वेताणु तथा न्यूट्रोफिल (Neutrophils) की संख्या में अत्यधिक वृद्धि पाई जाती है।

चिकित्सा—स्तब्धता उत्पादक कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए, जैसे विषाक्त आन्त्रवृद्धि में पूय निष्कासन (Pus drainage in strangulated hernia), निर्जलीकरण (Dehydration) उत्पन्न होने पर ग्लुकोस या लवण जल (Glucose or normal saline) को सिरा द्वारा सूचीवेध से बूंद-बूंद करके (By intravenous drip method से) देना चाहिए, तथा आवश्यकता होने पर इलैक्ट्रोलाइटस भी दें। रक्ताल्पता होने पर रक्ताधान करें। संक्रमण का संवर्धन (Culture) तथा सूक्ष्म ग्राहिता (Sensitivity) परीक्षा करके तदानुसार प्रतिजीवी औषध (Antibiotics) की व्यवस्था करनी चाहिए। आवश्यकता होने पर रक्तवाहिनी-भार-वर्धक औषधियों (Vasopressure agents, like Whymycin or Betnovate or Efcorlin etc.) को सिरा गत सूचीवेध विधि द्वारा दें। द्रव के शरीर से पर्याप्त मात्रा में पहुंचने के पश्चात् भी यदि मूत्राल्पता (Oliguria) बनी रहे तो रक्त वाहिनी-विस्फारक (Vasodilator) औषधियों को देना चाहिए जैसे-पैपावेरीन Papaverine hydrochloride 30-100 mg. I. M.) या रेजरपाइन 1-5 mg. प्रतिदिन दें, या manitol 10% सिरा द्वारा दें।

(iii) हृदय जन्य स्तब्धता (Cardiogenic shock)—

हृदयगत विषक्षों (Temponads) में, जैसे हृदयावरोध जन्य गलन (Myocardial infarction), रक्ताधिक्य हृदयपात (Congestive heart failure), फुफ्फुसीयान्तः शल्यता (Pulmonary embolism), हृदय गति की अति तीव्रता या अतिमन्दता (Tachycardia or brady cardia) इत्यादि अवस्थाओं से रक्त भार में अल्पता, नाड़ी भार में अल्पता (Low pulse pressure), अल्प मूत्रता (Oliguria) तथा अधिक स्वेद इत्यादि लक्षण मिलते हैं।

चिकित्सा—(क) वेदनाहर औषधियाँ दें जैसे पैथाडीन मा मारफीन (Pethadine 100 mg. I. M. or morphine O·4 to 0·6 grains I. M. or 8—10 mg. I V.)।

(ख) रोगी को ऑक्सीजन देना प्रारम्भ कर दें।

(ग) रक्त-वाहिनी भार-वर्धक। (Vasopressure) औषधियों का प्रयोग करें।

(घ) रोगी को पूर्ण विश्राम दें।

(ड.) नासिका द्वार से ऑक्सीजन दें।

(iv) तीव्र ग्राहिक स्तब्धता (Anaphylactic shock)—

यह एक तीव्र मृत्यु कारक प्रतिऊर्जा जन्य प्रतिक्रिया (Fatal allergic reaction) है जो कि किसी औषधि के प्रति तीव्र ग्राहिक (Sensitive) रोगियों में उस औषधि (Serums, antibiotics etc.) को मुख या सूचीवेध द्वारा लेने के कुछ ही क्षणों के पश्चात् उत्पन्न होती है।

लक्षण—इस प्रकार की स्तब्धता में रोगी में मानसिक आशंका (Apprehension), सार्वदैहिक लसिकामय शोफ (श्वयथु) (Generalised oedema), शीतपित्त (Urticaria), अवरुद्धता अर्थात् श्वास लेने में कष्ट (Chocking, wheezing), कास, श्वास (दमे) के वेग, अल्प रक्त-भार (Low blood pressure), मूर्च्छा, आक्षेप, मूत्र असंयति (Incontinence of urine), तथा नेत्र तारा मण्डल सहकारित हो जाता है और यदि समय से चिकित्सा न की जाय तो अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—(क) रोगी को पूर्ण विश्राम अवस्था में लिटाकर रखें।

(ख) रोगी को खुली हवा में रखें तथा आवश्यकता होने पर ऑक्सीजन दें या कृत्रिम श्वास क्रिया द्वारा श्वास दें।

(ग) इस अवस्था में आशयिक शय्या (Splanchnic vessels) का विस्फार होने से हृदयनिष्कासन (Cardiac out put) कम हो जाता है, अतः तुरन्त, अड्रीनलीन (Adrenalin 0·5—1 ml of 1 : 1000 एफिड्रीन, (Ephedrine hydrochloride 1 : 1000 1. M. after every 10-15 minutes) को सूचीवेध से दें, और साथ में एन्टी हिस्टामिन वा स्टिरायड (Antihistamin, as Inj. Avil 10 mg., I. M; or steroids, as Inj. Betnovate 100 mg, I. V. 5 hourly) देने चाहिए।

(ड·) श्वास नलिकाओं को विस्फारित करने के लिए (श्वासावरोध की अवस्था में) एमाइनोफाइलीन (Inj. Aminophyline 1/4-1/2 gm. in 10-20 ml. normal saline I. V. 4 hourly) दें।

12

आधान

(Infusion)

व्याधियों की कुछ ऐसी अवस्थायें होती है जिनमें रोगी के शरीर में मुख द्वारा तरल पहुंचाना कठिन हो जाता है जैसे—तीव्र वमन, कण्ठ गत शोथमय व्याधियाँ, जिनमें निगलने में कठिनाई होती है। अनेक प्रकार के शस्त्रकर्मों के उपरान्त जब रोगी को मुख से तरल देना वर्जित होता है, इत्यादि अवस्थाओं में जब किसी भी तरल पदार्थ या द्रव औषध का मुख के अतिरिक्त मार्ग से शरीर में प्रवेश किया जाता है तो इसे 'आधान' या 'Infusion' कहते हैं।

मुख के अतिरिक्त द्रव औषध को शरीर में प्रवेश करने के अनेक मार्ग हैं, उन मार्गों के अनुसार आधान की भी अनेक विधियाँ हैं जैसे—

(1) अन्तः सिराधान (I. V. infusion i.e., intra venous infusion.)

(2) अधः त्वगाधान (S/c infusion i.e., sub cutaneous infusion).

(3) अन्तः पेशी आधान (I. M. infusion i. e., intramuscular infusion).

(4) मलाशयाधान (Rectal infusion).

(1) अन्तः सिराधान (Intra venous infusion)

किसी द्रव औषधि को सिरा आधान करने या उसे सिरा द्वारा शरीर में पहुंचाने को अन्तः सिराधान (Intra venous infusion) कहते हैं।

अन्तः सिराधान बाहु में प्रगण्ड द्विशिरस्का पेशी (Biceps brachii) के पार्श्व में स्थित बहिर्बाहु सिरा (Cephalic vein) से, अन्तः बाहु सिरा (Basilic vein) से करते हैं। अधः शाखा में अन्तः गुल्फ (Medial malleolus) के थोड़ा ऊपर अधः शाखा दीर्घ-सिरा (Long saphenous vein) में द्रवाधान करते हैं। इस सिरा में प्रायः धनास्रता (Thrombosis) उत्पन्न हो जाती है। अन्य सिराओं, जैसे हाथ के पृष्ठ भाग की सिरायें इत्यादि में भी अन्तः सिराधान (Intra venous infusion) किया जा सकता है। आपात्काल (Emergency) में कपोणि खात (Cubital fossa) में स्थित बड़ी सिराओं अर्थात् बहिर्बाहु सिरा या अन्तर्बाहु सिरा

(Cephalic vein or Basilic Vein) औवीं सिरा (Femoral vein) में द्रवों का आधान करना चाहिये, परन्तु यहाँ पर आधान करने पर रोगी को कष्ठ होता है क्योंकि रोगी की बाहु या टांग को कुशा (Splint) लगा कर स्थिर करना होता है जिससे रोगी टांग या बाहु को संकुचित न कर सके (क्योंकि सिरा मुड़ने के कारण इससे सूची निकलने का भय रहता है या आधान द्रव (Infusion fluid) की गति में अवरोध हो जाता है) इसलिए आपात काल के अतिरिक्त इन सिराओं में आधान नहीं करना चाहिए।

विधि :—सर्वप्रथम सिरा के समीपस्थ (पूर्व) भाग (Proximal part) में अरिष्ठा (Torniquet) को बाँधकर सिराओं को आध्मानित (Distend) कर लेना चाहिए। फिर सूचीवेध की सुई (Injection needle) द्वारा सिरा में वेध करें। सूची में रक्त आने पर उसे आधान यन्त्र (Infusion set) से जोड़ दें तथा सूची को बाहू के साथ बाँध दें ताकि बाहु हिलाने पर सुई सिरा से बाहर न निकलने पाए। यदि रोगी स्तब्धावस्था में हो या अधिक स्थूल हो जिससे उसकी सिरायें दिखाई न पड़ रही हों, उसे अवस्था में सिरा दर्शन करने के लिये व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये परन्तु एक छोटा सा शस्त्रकर्म "कट ओपन" (Cut open) कर देना चाहिये। इस शस्त्रकर्म में बहिर्बाहु सिरा (Cephalic vein) या अधःशाखा-दीर्घ-सिरा (Long saphenous vein) के ऊपर की त्वचा पर छोटा सा अनुप्रस्थभेदन (Transverse incision) करें। फिर अकर्तक डाइसैक्शन (Blunt dissection) से सिरा को अनावृत (Expose) करके सिरा के नीचे से दो सूत्र डाल दें। एक सूत्र को सिरा के पूर्व भाग की ओर बाँध दें तथा दूसरे सूत्र से सिरा को ऊपर उठाकर कर्तरी (Scissor) से सिरा पर छोटा सा 'V' के आकार का कर्तन करें। फिर उसमें सिरा के प्रमाण के अनुसार एक प्लास्टिक की प्रवेशिनी (Canula) डालकर उसके ऊपर दूसरे सूत्र द्वारा सिरा को बांध दें और प्रवेशिनी को आधान यन्त्र से जोड़ दें।

यदि द्रवाधान अतिशीघ्रता से करना हो या 50% ग्लूकोज (Glucose) जैसे उत्तेजक (Irritant) पदार्थ देने हों तो अन्तर्बाहु सिरा का उपरोक्त विधि से कर्तन करके प्लास्टिक के नाड़ी यन्त्र (Plastic catheter) को ऊर्ध्व-महासिरा (Superior vena cava) तक पहुंचायें या अधःशाखा दीर्घ-सिरा (Long saphenous vein) का वंक्षण में उपरोक्त विधि से कर्तन करके प्लास्टिक के नाड़ी यन्त्र को निम्नमहासिरा (Inferior vena cava) तक पहुंचायें। ऐसा करने पर भी कभी-कभी तीक्ष्ण द्रवों के घोल से घनास्र (Thrombus) बन जाता है।

यदि रोगी बच्चा हो तो उसमें द्रवाधान औवीं सिरा में करना चाहिए। इस के लिए बच्चों में वंक्षणगत औवीं धमनी (Femoral artery) का स्पर्श करके उसके

अन्दर की ओर स्थित बाँवी सिरा में सूचीवेध करके द्रवाधान करें (क्योंकि सिरा धमनी के अन्तः भाग की ओर रहती हैं)। इसमें लम्बी सूची का प्रयोग करना चाहिये, तथा बच्चे की टांग मोड़ने से सूची निकल न जाए इसलिए उसकी कटि तथा टांग को कुशा (Splint) से सीधा बाँध देना चाहिये।

5% ग्लुकोस (Glucose) का घोल या सामान्य लवण घोल (Normal saline solution) को आधान यन्त्र द्वारा सतत बूंद-बूंद (Continuous drip) के रूप से सिरा में देना चाहिये। आधान द्रव की गति रोगी की अवस्था पर निर्भर

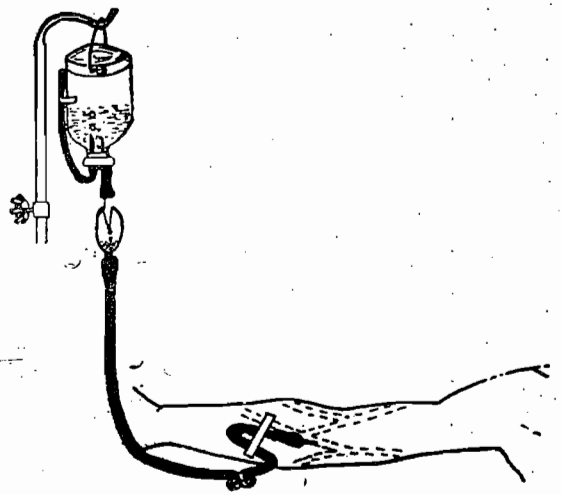

रेखा चित्र नं० 6
अन्तः सिराधान की विधि

करती है, जैसे आमाशय द्रव आचूषण (Gastric aspiration), अत्यधिक स्वेदन या निर्जलीकरण (Dehydration) की अवस्थाओं में द्रव की गति 50 बूंद प्रति मिनट अर्थात् $\frac{1}{4}$ पिन्ट प्रति घण्टा होनी चाहिए। परन्तु अत्यधिक निर्जलीकरण (Acute dehydration) मे आधान द्रव को 100 बूंद प्रति मिनट की मात्रा में दें। सामान्य अवस्थाओं में 30 बूंद प्रति मिनट देना चाहिए। डैक्स्ट्रान या इन्ट्राडैक्स (Dextran or intradex) जैसे प्लाज्मा विस्फारक (Expanders) रक्त में 24 घण्टे तक 0% मात्रा में रुके रहते हैं जिससे इन द्रव्यों द्वारा कुछ समय तक के लिए रक्त भार बनाए रखा जा सकता है।

रोगी को आधान द्रव की मात्रा शरीर से द्रवांश के निकास तथा आधान (Out put and input) के आधार पर देनी चाहिए। सामान्यतः एक व्यक्ति के

शरीर से लगभग 3 लिटर द्रवांश प्रतिदिन मल, मूत्र, स्वेद तथा श्वास से वाष्प के रूप में निकल जाता है। इसलिये इतना ही द्रवांश रोगी को प्रतिदिन मिलना चाहिए।

अधिक दिन तक आधान द्रव (Glucose) देते रहने से रोगी में विटामिन तथा इलैक्ट्रोलाइट्स (Vitamins and electrolytes) की कमी हो जाती है। इसलिये रोगी में इन पदार्थों (B-complex, Vit.c electrolytes) की पूर्ति करते रहना चाहिये।

अयोग्य (Contra indications)—(i) हृदय दौर्बल्य तथा हृदय के ऐसे ही अन्य रोगों से पीड़ित रोगी।

(ii) फुफ्फुस में द्रवाधिक्य या घनी-भवन (Congestion or consolidation) होने पर।

(iii) अधिक रक्त भार (High blood pressure) होने पर।

(iv) वृक्क शोथादि के कारण वृक्कों में क्रिया असमर्थता (Incompetancy) होने पर।

(2) अधःत्वगाधान (Sub cutaneous infusion)

यदि औषध द्रव किसी कारण से सिरा द्वारा न दिए जा सकें तो कक्ष (Axila) के थोड़ा नीचे के स्थान में, अधः उदरीय भित्ति (Lower abdominal wall) में या ऊरु के बाह्य भाग इत्यादि की अधःत्वचा में औषध द्रव का आधान कर देना चाहिये। आधान यन्त्र के कुंड (Reservoir or infusion set) को कम ऊंचाई पर रखना चाहिए तथा आधान द्रव के साथ में हाईल्युरोनाईडेज (Hyaluronidase) को भी मिला देना चाहिये, इससे अधःत्वचा से द्रवांश का शोषण शीघ्रता से हो जाता है।

(3) अन्तःपेशी आधान (Intra muscular infusion)

इसमें उरु के बाह्य भाग (Lateral side of the thigh) में आधान यन्त्र की सूची को अस्थि तक गहरा पहुंचाकर आधान द्रव देना चाहिए।

(4) मलाशय आधान (Rectal infusion)

मलाशय द्वारा केवल जल का या सामान्य लवण जल (Normal saline) का ही आधान किया जाता है। (ग्लूकोज मलाशय से बहुत कम मात्रा में शोषित होता इसलिए इसे इस मार्ग से नहीं देते)। इसमें द्रव कुण्ड (Reservoir) को रोगी से फुट ऊँचा रखना चाहिये तथा मलाशय में नाड़ी यन्त्र (Catheter) द्वारा आधान

द्रव को 60 बूंद प्रति मिनट की गति से देना चाहिये। यदि मलाशय से द्रव वापिस आने लगे तो उसकी गति कम कर देनी चाहिये या द्रव कुण्ड को ऊँचा कर देना चाहिए। इस विधि से दिया गया द्रव रक्त परिभ्रमण में अधिक देर तक रहता है जबकि सिरा द्वारा आधान किया गया द्रव शीघ्र ही वृक्कों द्वारा उत्सर्जित हो जाता है। इस मार्ग से द्रवाधान के लिए विसंक्रमण-करण पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती।

रक्ताधान (Blood transfusion)

रोगी का कोष्ठ भिन्न होकर अत्यधिक रक्तस्राव होने पर रोगी को रक्त पिलाना चाहिये (रोगी में रक्त की पूर्ति करनी चाहिये)।

अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्॥ सु० चि० 2

रक्ताधान दो शब्दों से मिलकर बना है, रक्त तथा आधान। रक्त का अर्थ है 'रुधिर' और आधान का अर्थ है 'प्रदान' अर्थात् रक्त का प्रदान करना। इस क्रिया में एक मनुष्य रक्त देने वाला होता है, जिसे रक्तदाता (Blood donor) कहते हैं तथा दूसरा मनुष्य रक्त लेने वाला होता है, जिसे रक्त ग्राहक (Blood recipient) कहते हैं "रक्त-दाता से लेकर रक्त-ग्राहक में रक्त का पहुंचाना ही रक्ताधान (blood transfusion) कहलाता है।"

योग्य :—

रक्ताधान करने की आवश्यकता अनेक अवस्थाओं में हो सकती है, जैसे—

(i) अत्यधिक रक्त स्राव से जब स्तब्धता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

(ii) रक्त स्राव जन्य स्तब्धता—बहुत से शस्त्रकर्मों में आपातकालीन स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावनायें रहती हैं (अत्यधिक रक्त स्राव के कारण) जैसे वक्ष एवं उदर के गम्भीर शल्य कर्मों में या वाहिनियों के शल्य कर्मों में।

(iii) रक्ताल्पता (शस्त्रकर्म के पूर्व या पश्चात् जब रोगी का हिमोग्लोबिन (Haemoglobin) 9 ग्राम प्रति 100 सी. सी से कम हो जाता है, उस स्थिति में रक्ताधान किया जाता है। लेकिन तीव्र पाण्डु रोग (Severe anaemia) में पूर्ण रक्त की अपेक्षा घन रक्तकण (Pack red cells) देना ही लाभदायक होता है।

(iv) प्रोटीन न्यूनता (दग्ध एवं निर्जलीकरण की तीव्र अवस्थाओं में लवण जल एवं प्लाज्मा के साथ-साथ रक्ताधान भी लाभप्रद होता है)।

(v) कामला जन्य रक्त स्कन्दन की विकृतियां होने पर पूर्ण रक्त का आधान करना चाहिए।

(vi) हिमोफिलिया जन्य रक्त स्राव की प्रवृत्ति में, अवरोधज कामला में एवं पुरा इत्यादि व्याधियों में भी रक्ताधान आवश्यक हैं।

(vii) तीव्र संक्रमण (Acute infection) में, जैसे विषमयता (Septiaemia), कोथ (Gas gangrene), विपाशित आन्त्रवृद्धि (Strangulated ernia) इत्यादि अवस्थाओं में रक्ताधान से रोगी की रोग प्रतिरोध क्षमता में धार होता है।

(viii) कुछ व्याधियों में अस्थाई लाभ के लिए, जैसे रक्त कैन्सर (Leukaeia) हाजकिन का रोग (Hodgkins disease) या कैन्सर चिकित्सा के लिए युक्त औषधियों के साथ-साथ रक्ताधान करना लाभप्रद होता है।

(ix) कार्बन मोनोक्साईड (Carbon monoxide) गैस की विषाक्तता की अवस्था में।

(x) गर्भस्थ शिशु रक्ताणुविनाश (Erythroblastosis foetalis due to Rh factor) की अवस्था में सद्योजात शिशु में पूर्ण रक्त का आधान किया जाता है।

रक्त का आपस में (अन्योन्य) मिलान (Cross matching)

रक्ताधान के पूर्व रक्त ग्राहक (Recipient) और रक्तदाता (Donor), दोनों के रक्त का आपस में मिलान करके देख लेना चाहिए। इस क्रिया को रक्त का अन्योन्य मेलन (Cross matching) कहते हैं। मिलान किये बिना रक्ताधान करने से दोनों के रक्त में असमानता होने पर पहले रक्तदाता के रक्ताणुओं का गुच्छीकरण (agglutination) होता है फिर रक्त संलयन (Haemolysis) जैसी घातक प्रतिक्रियाएं होने से रक्त ग्राहक की मृत्यु हो सकती है।

रक्ताणुओं (R. B. C) में A, B और Rh तत्व होते हैं जिन्हें समूहजनन (Agglutinogen) तत्व कहते हैं। सीरम (Serum) में 'A' और 'B' के विरोधी तत्व (Anti A and Anti B) रहते हैं जिन्हें समूहिका (Agglutinin) कहते हैं।

ग्राहक (Receiver) का सीरम अत्यधिक मात्रा में होने के कारण उनमें समूहिका (Agglutinin) भी अधिक होती है जो कि रक्तदाता के अल्प रक्ताणुओं के समूह जनन (Agglutinogens) को प्रभावित करके उन्हें (रक्तदाता वाले सीरम रक्ताणुओं को) नष्ट कर देती है परन्तु इसके विपरीत रक्तदाता वाले सीरम और उनकी समूहिका (Agglutinin) अल्प मात्रा में होने के कारण रक्त ग्राहक (Recipient) क अत्यधिक रक्त कणों को प्रभावित करने (नष्ट करने) में असमर्थ

अधिक सीरम (अधिक समूहिका) + अल्प रक्ताणु (अल्प समूहिका जनन) = संलयन (Haemolysis) या पिण्डीकरण (समूहिका) (Agglutination)

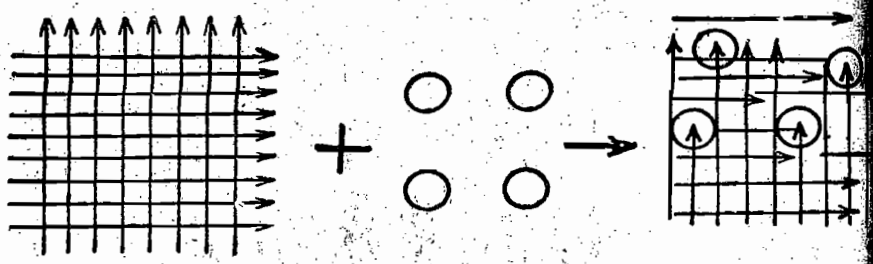

रक्त ग्राहक (Recipient) रक्तदाता (Donor) दोनों के मिलने से

अल्प सीरम (अल्प समूहिका) + अत्यधिक रक्ताणु (अत्यधिक समूहिका जनन) = असंलयन (No haemolysis)

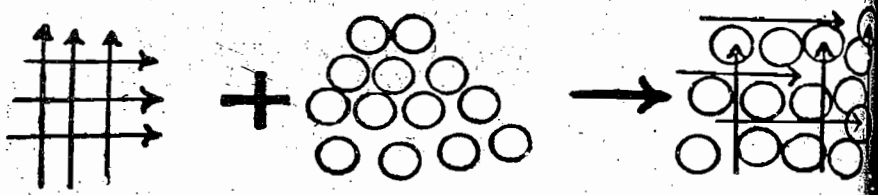

रक्त दाता (Donor) रक्त ग्राहक (Recipient) दोनों के मिलने

रक्त का अन्योन्य मेलन (रेखाचित्र नं० 7)

होती है। इसलिए रक्तदाता (Donor) के रक्ताणुओं को रक्तग्राहक के सीरम अन्योन्य मेलन (Cross match) करके देख लेना चाहिए, जैसा कि चित्र नं० दिखाया गया है।

रुधिर वर्गीकरण (Blood grouping)

उपरोक्त समूहिका (Agglutinin) तथा समूहिका जनन (Agglutinogen) के आधार पर रक्त को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। इन्हें रुधिर (Blood groups) कहते हैं। इस वर्गीकरण को रुधिर वर्गीकरण (Blood grouping) कहते हैं। ये चार वर्ग निम्न तालिका में दिखाए गए हैं।

रुधिर वर्गीकरण

क्रम सं०	वर्ग (Group)	समूहिका जनन (Agglutinogen)	समूहिका (Agglutinin)
1	O	रक्ताणुओं में समूहिका जनन का अभाव रहता है।	'A' और 'B' के विरोधी समूहिका सीरम में रहते हैं।
2	A	रक्ताणुओं में 'A' समूहिका जनन रहते हैं।	'B' के विरोधी समूहिका सीरम में रहते हैं।
3	B	रक्ताणुओं में 'B' समूहिका जनन रहते हैं।	'A' के विरोधी समूहिका सीरम में रहते हैं।
4	A + B	रक्ताणुओं में 'A' ओर 'B' समूहिका जनन रहते हैं।	सीरम में कोई समूहिका नहीं होता है।

रक्त वर्गों का आपस में मिलान

रक्तदाता के रक्ताणुओं का वर्ग	रक्त ग्राहक के सीरम से मिलान करने पर			
	O	A	B	A + B
O	−	−	−	−
A	+	−	+	−
B	+	+	−	−
A + B	+	+	+	−

+ समूहन (मिलान नहीं होता)
− असमूहन (मिलान हो सकता है)

उपरोक्त तालिका से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—

(i) O सर्वदाता वर्ग है (Universal donor) अर्थात् सब वर्ग के रोगियों को रक्त दे सकता है परन्तु केवल 'O' वर्ग के दाता से ले सकता है।

(ii) A + B सर्वग्राही (Universal recipient) अर्थात् सब वर्ग के दाताओं से रक्त ले सकता है, परन्तु केवल A + B को ही दे सकता है।

(iii) A वर्ग का दाता A तथा A + B को रक्त दे सकता है और A तथा O से ले सकता है।

(iv) B वर्ग का दाता B तथा A + B को दे सकता है और B तथा O से ले सकता है, जैसा कि निम्न निष्कर्ष चित्र में दिखाया गया है।

निष्कर्ष चित्र

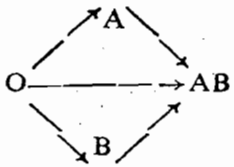

रीसस घटक (Rhesus factor or Rh. factor)—रक्ताणुओं में A तथा B समूह जनन (Agglutinogen) के अतिरिक्त 80 प्रतिशत व्यक्तियों में एक अन्य प्रकार का तत्व भी पाया जाता है जिसे Rh factor कहते हैं। वह घटक भी एक प्रतिजन (Antigen) होता है। जिन मनुष्यों के रक्ताणुओं में यह रीसस घटक रहता है उन्हें रीसस सप्रत्य (Rh. positive i. e. Rh + ve) कहते हैं तथा जिन रोगियों में यह घटक नहीं होता उन्हें रीसस ऋणात्मक (Rh-ve) वर्ग कहते हैं।

रीसस ऋणात्मक (Rh-ve) ग्राहक को रीसस सप्रत्य (Rh + ve) रक्त देने पर रीसस के प्रतिपिण्ड (Antibodies) बनकर रक्ताणुओं को नष्ट कर देते हैं। इसी तरह से जब रीसस ऋणात्मक (Rh-ve) माता को रीसस सप्रत्य (Rh + ve) गर्भ (Foetus) होता है तो माता के रीसस प्रतिपिण्ड (Rh antibodies) बनकर बच्चे (गर्भ) के रक्ताणुओं को नष्ट कर देते हैं जिससे बच्चे पैदा होते ही रक्ताल्पता के कारण मर जाते हैं। इसलिए रीसस ऋणात्मक माता (Rh-ve Mother) को तथा रीसस ऋणात्मक पुरुषों को (प्रथम रक्ताधान के पश्चात्) केवल रीसस ऋणात्मक (Rh-ve) रक्ताधान ही करना चाहिए। क्योंकि यदि किसी कारण वश Rh-ve वर्ग के रोगियों का रक्त Rh-ve वर्ग के रोगियों को दे दिया जाए तो ग्राहक के रक्त में एक समूहिका (Agglutinin) जिसे anti-D कहते हैं उत्पन्न हो जाता है। फिर दूसरी बार यदि इसी Rh-ve ग्राहक को रक्त की आवश्यकता पड़ती है और यदि भूल से इसे दूसरी बार भी Rh-ve रक्तधान कर दिया जाए तो परिणाम बहुत घातक होते हैं।

रुधिर वर्ग जानने की विधि (Method of blood grouping)—स्टाक सीरम (Stock serum) A तथा B में से एक एक बूंद लेकर एक कांच की स्लाईड (Slide) पर रखें। फिर ग्राहक (Recipient) या दाता (Donor), जिसके रक्त के वर्ग का ज्ञान करना हो, उससे रक्त की एक बूंद लेकर उसे 20 गुणा लवण जल

(Normal saline) से तनु करके फिर उसमें से एक-एक बूंद कांच की स्लाईड पर दो स्थान में रखें, A स्टाक सीरम तथा B स्टाक सीरम को प्रत्येक बूंद में डालें। फिर उसे थोड़ा हिलाकर 5 मिनट बाद सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से देखें तथा समूहन (Agglutination) के आधार पर रक्त के वर्ग का विनिश्चय करें जैसा कि रूधिर वर्गीकरण की पद्धति (रेखाचित्र नं० 8) में दिखाया गया है।

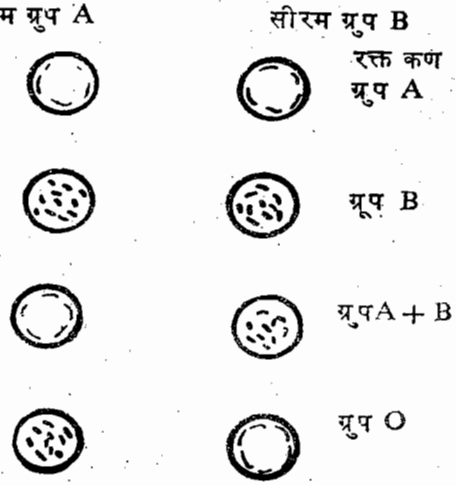

रूधिर वर्गीकरण की पद्धति (रेखाचित्र नं० 8)

(i) स्टाक सीरम 'A' में समूहन होने पर ग्राहक या दाता का रक्त 'B' वर्ग का होता है।

(ii) स्टाक सीरम 'B' में समूहीकरण होने पर रक्त का वर्ग 'A' होता है।

(iii) स्टाक सीरम 'A' तथा 'B' दोनों में समूहन न होने पर रक्त 'A + B' वर्ग का होता है।

(iv) स्टाक सीरम 'A' तथा 'B' दोनों में समूहन न होने पर रक्त 'O' वर्ग का होता है।

रक्त ग्राहक (Recipient) तथा रक्त दाता (Donor) दोनों के रक्त का वर्ग जान लेने के पश्चात् दोनों के रक्त से एक-एक बूंद लेकर अन्योन्य मिलान (Cross match) करके भी देख लेना चाहिये। यदि 5 मिनट में समूहन बन जायें तो रक्त को असंयोज्य (Incompatible) जानना चाहिये अर्थात् ऐसे रक्त का आधान (Transfusion) नहीं करना चाहिये।

रक्ताधान विधि

रक्ताधान विधि में दो क्रियाओं का समावेश होता है :—

(i) दाता से रक्त की प्राप्ति।

(ii) ग्राहक को रक्ताधान।

(i) दाता से रक्त की प्राप्ति—दाता के रक्त से ग्राहक के रक्त का अन्योन्य मिलान करने के पश्चात् रक्त दाता (Donor) को शय्या पर लेटा दें। उसके एक बाहु पर रक्त भार मापक यन्त्र (Sphygmomanometer) को लगाकर उसे 70mm Hg. पर स्थित कर दें या अरिष्टा (Torniquet) बांध दें। इससे अग्र बाहु में सिरागत रक्त परिभ्रमण रुक जाने से वहाँ की सिरायें ऊपर को उठ आती हैं। निर्जीवाणु कृत बोतल (Sterilized bottle) जिसमें 3.4% सोडियम साइट्रेट का घोल (3·4% Sod. Citrate solution 80 ml. for one pint blood or Anhydrous glucose 3 gms., Di Sodium monophydrate 2 gms. and water 120 ml. i. e. an anti coagulant solution for 600 ml. of blood.) रखा होता है, उसमें रोगी की सिरा से रक्त की एक पिन्ट मात्रा को बोतल में भर लें। रक्त निकालते समय बोतल को धीरे-धीरे गोल दिशा में घुमायें या उसे धीरे-धीरे हिलाते रहें। (For thorough mixing of blood and anti coagulant Solution)। फिर रक्त-युक्त बोतल को अच्छी तरह से बन्द कर (air tight) 2°C—6°C तापमान में रख दें। इस तरह इसे 14-21 दिन तक रखा जा सकता है। इससे अधिक समय तक रखने पर रक्ताणुओं का संलयन (Haemolysis) होने से उसके रंजक कणों (Pigments) की एक पीत प्लाज्मा मंडल की परत (Plasma zone) उसके ऊपर बन जाती है। यदि यह परत एक इंच (1") से अधिक चौड़ी हो तो उस रक्त के रक्ताणुओं के भंगुर (Friable R. B. C.) होने के कारण उसे असंयोज्य रक्त (Incompatible blood) जानना चाहिये अर्थात् वह आधान (Transfusion) के योग्य नहीं होता।

(ii) ग्राहक को रक्ताधान (Blocd transfusion to the recipient)—ग्राहक रोगी को शय्या पर लेटाकर उसकी सिरा में पहले बताई गई 'अन्तः सिरा-धान विधि' से बोतल में लिए गये दाता (Donor) के रक्त का आधान (अन्तः क्षेपण) करें। यदि रोगी अत्यधिक स्तब्धता (Severe shock) में हो तो रक्ताधान को अति तीव्र गति से करें अर्थात् दो पिन्ट रक्त को 5 मिनट में दे देना चाहिए। रोगी का रक्तभार 100 mm. Hg. पर पहुंच जाने पर आधान की गति 30 बूंद प्रति मिनट कर देनी चाहिये।

3 से 8 वर्ष तक के बच्चों में तीव्र स्तब्धता होने पर उरोस्थि (Sternum) या अन्तर्जन्घास्थि (Tibia) की अस्थिमज्जा (Bone marrow) में व्रीहिमुख शस्त्र (Trocar) से वेधन करके नाड़ी यन्त्र (canula) द्वारा रक्ताधान करना चाहिए।

सावधानियां—रक्ताधान करते समय निम्न बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये।

(1) रक्ताधान से पूर्व रक्तदाता के वर्ग का पुनर्निरीक्षण कर लेना आवश्यक है। यह भी जान लेना चाहिये कि रक्त का अन्योन्य मिलान (Cross matching) हुआ है या नहीं।

(2) रक्ताधान की मात्रा तथा उसकी आधान गति का आदेश रोगी के आदेश पत्रक (Doctor's form) में लिख देना चाहिए।

(3) आपात् स्थिति के लिए दो या तीन रक्ताधान यन्त्र तैयार रखने चाहियें ताकि 2 बोतल रक्त को 15 मिनट के समय में आधान किया जा सके।

(4) रक्ताधान से पूर्व दाता के रक्त को 37°C (Room temperatue) तापमान तक ले आना चाहिये अन्यथा शीत रक्त का आधान करने से शरीर का तापमान न्यून होकर हृदयावरोध हो सकता है।

(5) अस्थानिक सगर्भता (Ectopic pregnancy) में या उदर के विदीर्ण होने पर रोगी के ही निकले हुए रक्त को 6 पर्त की विकेशिका (Gauze) से छान कर उस में 3-8 सोडियम साईट्रेट (Sodium citrate) का विलयन मिलाकर रोगी को आधान किया जा सकता है, इसे स्वःरक्ताधान (Auto transfusion) कहते हैं।

(6) Rh. negative नवजात शिशु में रक्त संलयन पाण्डु (Haemolytic anaemia) होने पर उसे Rh. negative रक्त को नाभीय सिरा द्वारा (By plastic catheter) आधान करना चाहिये तथा शिशु के अपने रक्त को निकालते रहें। **इस क्रिया** को आदान-प्रदानीय रक्ताधान (Exchange transfusion) कहते हैं।

उपद्रव (Complications)—

रक्ताधान करते समय निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

(i) शीत कंप (Rigor)—रक्ताधान यन्त्र (Drip set) या दाता के रक्त (Donor blood) के पाइरोजन (Pyrogen) के द्वारा संक्रमित होने पर शीत-कम्प, तीव्र-ज्वर, वमन तथा शिरःशूल होता है।

(ii) तीव्र-ग्राहिक प्रतिक्रिया (Anaphylactic reaction)—यदि रोगी में रक्ताधान करते ही तीव्र ग्राहिक प्रतिक्रिया के लक्षण शीत-पित्त (Urticaria), ज्वर तथा श्वास-कृच्छ्रता इत्यादि होने लगें तो रक्ताधान को तुरन्त बन्द कर देना चाहिए। और रोगी को सिरा द्वारा एविल (Avil 50 mg. I. v) या एफीड्रीन (Ephedrine जैसी औषधि तुरन्त दे देनी चाहिए।

(iii) रक्त संलायी प्रतिक्रिया (Haemolytic reaction)—असंयोज्य (Incompatible) रक्ताधान करने पर रक्त का संलयन (Haemolysis) होकर कामला (Jaundice) एवं हीमोग्लोबिनमेह (Haemoglobin uria) उत्पन्न होते

हैं। इस कारण हेमेटिन रंजन (Haematin pigments) (मूत्र की अम्ल प्रतिक्रिया होने पर) वृक्क में तलछट (Settle) होकर वृक्कपात (Kidney failure) तथा कटि प्रदेश में तीव्र पीड़ा उत्पन्न करता है। इसके लिए रोगी को मीठा सोडा (Soda bicarbonate) सूची द्वारा सिरा में दें, इसमें मूत्र की क्षारीय प्रतिक्रिया होकर हिमेटिन रंजन (Haematin pigments) का तलछट नहीं बनता (Haematin pigments are soluble in alkaline media)।

(iv) **संक्रामक रोग**—दाता (Donor) के रक्त द्वारा ग्राहक में अनेक तरह की संक्रामक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जैसे यकृत शोफ (Hepatitis), फिरंग (Syphilis), मलेरिया (Malaria), इन्फुलएन्जा (Influenza) और संक्रामक ज्वर इत्यादि।

(v) **अति जलीकरण** (Over hydration)—रक्त ग्राहक के फुफ्फुस तथा हृदय के व्याधि ग्रस्त होने पर, अति जलीकरण (Over hydration) होने से या रक्त का शीघ्रता से आधान (Infusion) करने से फुफ्फुस में लसिकामय श्वयथु (Oedema), श्वास कृच्छ्रता तथा श्यावता (Cyanosis) उत्पन्न हो जाती है। रोगी की ग्रीवा की सिरायें पूर्ण रूप से भरी हुई (Engorged) दिखाई देती हैं। ऐसा होने पर रोगी को खड़ा कर दें तथा उसकी शाखाओं पर अरिष्टा (Torniquet) बांध दें (At 70 mm. Hg.), इससे कुछ देर के लिए रक्त सिराओं में रुक जाता है।

(vi) **रक्त स्राव की प्रवृत्ति** (Haemorrhagic diathesis)—स्टाक अर्थात् एकत्रित किये हुए रक्त (Stored blood) में रक्त चक्रिकाओं (Blood platelets) की कमी आ जाने से रक्त में रक्त-स्कन्दन करने वाले घटक factor) की कमी हो जाती है, इससे रक्त ग्राहक में रक्त स्राव की प्रवृत्ति हो जाती हैं। इसकी चिकित्सार्थ ताजा प्लाज्मा, या ताजा रक्त या रक्त चक्रिकाओं का निलम्बन (Suspension of blood platelets) का आधान करना चाहिए, या फिर फाइब्रिनोजन (Fibrinogen) देनी चाहिए।

(vii) **अधिक रक्ताधान**—अधिक रक्ताधान (Repeated blood transfusion) करने से रोगी के रक्त में साईट्रेट विलियन (Anti coagulant solution mixed in donor's blood) अधिक मात्रा में पहुंच जाता है, जिससे रोगी में रक्त स्राव की प्रवृति हो जाती है। अतः ऐसे रोगियों में बीच-बीच में कैल्शियम लैक्टेट (Calcium lactate) को सूचीवेध से देते रहना चाहिये।

13

चिकित्साकर्म (त्रिविध कर्म)

चिकित्सा कर्म तीन प्रकार का होता है।

त्रिविधं कर्म। पूर्व कर्म प्रधान कर्म पश्चात्कर्म चेति। सु० सू० 5

(I) पूर्व कर्म

(II) प्रधान कर्म

(III) पश्चात् कर्म

(I) पूर्व कर्म

'लंघनादि विरेकान्तं पूर्व कर्म व्रणस्य च:'

(i) रोगी सम्बन्धित

(ii) चिकित्सा सम्बन्धित

(iii) उपकरण सम्बन्धित

(iv) शल्य कक्ष सम्बन्धित

(i) रोगी सम्बन्धित—रोगी की परीक्षा त्रिविध या षड्विध प्रकार से करनी चाहिए।

जैसे—**"दर्शनं स्पर्शनं प्रश्न परीक्षा त्रिविधं स्मृतः।"**

"षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः

तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति"

रोगी की निम्न परीक्षाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(क) भौतिक परीक्षा (Physical examination)

(ख) स्रोतों की परीक्षा (Systemic examination)

(ग) बल परीक्षा, जैसे हीनबल, रक्ताल्पता (Anaemia), निर्जलीकरण (Dehydration), क्षीणता (Cachexia), मृत्यु आसन्न रोगी (Bad risk patients) इत्यादि की परीक्षा। इन रोगियों की आवश्यक चिकित्सा करके इन्हें शल्य कर्म सहन करने योग्य बनाना चाहिए।

(घ) रोगानुसार आवश्यक विशेष परीक्षाओं (Special investigations) को भी करना चाहिए, जैसे परिणाम शूल में फन्क्शनल टैस्ट मील (Functional

test meal) परीक्षा, यकृत रोगों में यकृत क्रिया परीक्षा (Liver function test) इत्यादि।

(ङ.) सर्वप्रथम शल्य कर्म वाले स्थान के रोगी के बाल एक रात पूर्व काटें, फिर पूय विरोधी घोलों (Anti septic lotions) द्वारा शोधन करके उस स्थान पर निर्जीवाणुकृत पट्टी बाँध देनी चाहिए।

(च) विशेष अवस्थायें—उदर के शल्य कर्म में शल्य कर्म से पूर्व आमाशय में रायल की नलिका (Ryle's tude) को डालें।

(छ) संज्ञानाश से पूर्व हिलते हुये दाँतों को निकाल देना चाहिये।

(ज) एक रात्रि पूर्व रोगी को विरेचन (Laxative) औषध दें तथा शल्य कर्म से 3-4 घण्टे पूर्व संशोधन वस्ति (Soap water enema) देनी चाहिए।

(ii) **चिकित्सा सम्बन्धी**—(क) हीन बल तथा क्षत क्षीण रोगियों को शल्य कर्म के योग्य बनाने के लिए आवश्यक चिकित्सा करनी चाहिए, जैसे—निर्जलीकरण होने पर जल तथा आवश्यक लवण पदार्थों (Fluid and electrolyte therapy) को दें, क्षीण धातु रोगियों को पोषक आहार दें (Protein for cachexia & mal nutrition patients) तथा रक्त स्कन्दन के दोष रहने पर उनकी आवश्यक चिकित्सा करें (Treat the coagulation deficiency by vit—C, vit.-K, or by whole blood etc.)

(ख) मधुमेह रोगियों की आवश्यक चिकित्सा शल्य कर्म से पूर्व ही कर लेनी चाहिए (Control the diabetes)।

(ग) शोथ नाशक उपक्रमों द्वारा शोथ को शांत करें (Resolve the inflammation) जैसे प्रलेप, परिषेक, अभ्यंग, विम्लापन, उपनाह, पाचन, रक्त विस्रावण इत्यादि कर्मों द्वारा या प्रतिजीवी तथा प्रतिशोफीय (Antibiotics & anti inflammatory) औषधियां देनी चाहियें।

(iii) **उपकरण सम्बन्धित** (क) शल्य कर्म सम्बन्धी यन्त्र, शस्त्रादि उपकरण (Instrument), पिचु (Medicated swab), प्लोत (Wet swab), सूत्र (Thread), कवलिका (Gauze) इत्यादि को पूर्ण रूप से विशोधित या निर्जीवाणुकरण (Proper sterilization) करें आचार्य वाग्भट्ट ने भी कवलिका को धूपन द्वारा विशुद्ध करने को कहा है।

(ख) क्षार, दाहक पदार्थ (Caustics), अग्नि (Cautery), जाम्बवौष्ठ (जलाने का यन्त्र), शृंगी, अलाबू, जोंक (Leech), इत्यादि आवश्यक वस्तुओं का पहले से ही प्रबन्ध कर लेना (इकट्ठा कर लेना) चाहिये।

(ग) आवश्यकतानुसार घृत, तैल, कषाय या Antiseptics इत्यादि औषधियों तथा उष्ण एवं शीतल जल इत्यादि पदार्थों का प्रबन्ध भी पहले से ही कर लेना चाहिए।

(घ) परिचारकों की व्यवस्था पहले से ही करनी चाहिए (To arrange the required assistants and para medical staff)।

(iv) **शल्य कक्ष सम्बन्धित**—

(क) शल्य कर्म वाले स्थान पर पर्याप्त प्रकाश होना चाहिये।

(ख) शल्य कर्म शय्या (Operation table) पर्याप्त ऊंची तथा आरामदायक होनी चाहिए।

(ग) कक्ष को धूपनादि क्रियाओं के द्वारा पूर्ण रूप से विशुद्ध (निर्जीवाणुकरण) कर लेना चाहिए तथा शल्य चिकित्सक को भी शुद्ध वस्त्र पहनने चाहियें, मुख पर मुखाच्छादक (Mask) लगाना चाहिये, नख एवं बाल कटे होने चाहियें, सिर पर टोपी एवं हाथों में रबर के दस्ताने (Rubber gloves) इत्यादि को पहनना चाहिये। निश्वास तथा मुख द्वारा जीवाणुओं के उपसर्ग का भय होता है इसीलिये मास्क लगाया जाता है। प्रसंग से जीवाणु उपसर्ग न हो सके इसके लिये दस्ताने (Gloves) तथा निर्जीवाणुकृत वस्त्र (Sterilized apron) पहनते हैं।

II प्रधान कर्म

"पाटन रोपणं यच्च प्रधानं कर्म"

(क) **देव पूजन**—शल्य कर्म के पूर्व सफलता हेतु तथा मनोबल बढ़ाने हेतु देवताओं का पूजन करना चाहिये (Prayers for success)।

(ख) **संज्ञाहरण**—रोगी को शल्यकर्मानुसार सार्वदैहिक संज्ञाहरण (General anaesthesia) या स्थानीय संज्ञाहरण (Local anaesthesia) देना चाहिये। प्राचीन काल में संज्ञाहरण के लिये सुरा पीने वालों को तीक्ष्ण सुरा पिला दी जाती थी जिससे रोगी अवसादित (sedate) हो जाता था (परन्तु अवसादावस्था में पूर्ण रूप से संज्ञाहरण नहीं होता)।

(ग) **रोगी की मुद्रा (यंत्रणा)**—शल्य कर्मानुसार रोगी को उन्मुख मुद्रा (Supine position) में उदरगत शल्य कर्म के लिये एवं वृक्क के शल्य कर्म के लिए एक पार्श्व में (Right or left lateral position), निम्न सिर मुद्रा में (Trendlen burg position) श्रोणीगत शल्य कर्मों के लिए तथा गुदा एवं भगादि के शल्यकर्मों के लिये पट्क यन्त्रणा (Lithotomy position) इत्यादि आसन देना चाहिये।

(घ) **मुख्य शल्य कर्म** (Main Operation)—इसमें अनेक कर्मों का समावेश होता है, जैसे छेदन (Excision), भेदन (Incision), लेखन (Scraping), वेधन (Puncturing), एषण (Probing), आहरण (Extraction), विस्रावण (Drainage), सीवन (Suturing), इत्यादि आठ कर्म विशेष रूप से किये जाते हैं। आचार्य वाग्भट्ट ने पाँच अन्य कर्म भी माने हैं जैसे उत्पाटन (Incision), कुट्टन, मन्थन (Crushing), ग्रहण (To take out), दहन (Cauterization) इत्यादि तथा

जलौका अवचारण, क्षार-कर्म एवं सिरावेध। इन सबका प्रयोग मुख्य शल्य कर्म के अन्तर्गत आ जाता है।

III पश्चात् कर्म

"तत्स्मृतम् बलवर्णाग्निकायतु पश्चात् कर्म चेति।"

(अ) चिकित्सा सम्बन्धी

(आ) आहार सम्बन्धी

(इ) विहार सम्बन्धी

(ई) उपद्रव सम्बन्धी

(अ) चिकित्सा सम्बन्धी :

(1) शल्य कर्म के पश्चात् व्रण को क्वाथ या Spirit इत्यादि जीवाणुहर द्रवों से साफ करके घृत, शहद, तिलपिष्ठ या Glycerine acriflavin इत्यादि को लगाकर फिर मोटी कवलिका (Cotton pad) रख कर पट्टी बांध दें।

(ii) व्रण को तीसरे दिन या फिर ऋतु अनुसार शीघ्र पट्टी खोलकर पूय इत्यादि दोषों को देखें। पूय के रहने पर कषाय (पंचक्षीरी वृक्षों) या पूय विरोधी (Antiseptic) द्रव्यों से उपचार करें, अन्यथा भीतर पूय रहने से रोपित व्रण फिर से फट जाता है।

(iii) आध्यात्मिक पद्धति (Meta physical method)–राक्षसों से व्रण की रक्षा के लिए धपन एवं मन्त्रादि से चिकित्सा करें।

(2) **वेदना शामक औषधियां** (Analgesics)––अहिफेनादि, तथा स्थानीय वेदना शमनार्थ मुलैठी और घृत का प्रयोग करें तथा स्वेदन दें।

(3) **धूपन**––व्रणित की रक्षार्थ, गुग्गलु, रालादि द्रव्यों द्वारा दी गई धूपन से (Fumigation for sterilization) जीवाणु नष्ट होते हैं तथा वेदना शान्त होती हैं।

(4) व्रण में संक्रमण न होने पाए इसलिए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि व्रण में मक्खियों, कृमियों को उत्पन्न कर देती हैं, इसके लिए प्रति जीवाणु तथा पूय विरोधी (Antibiotics and antiseptics) द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

(5) यदि रोपण होने के पश्चात् उत्पन्न व्रण वस्तु में कोई विकृति शेष रह जाए तो उसे "वैकृतापहं" उपक्रम के द्वारा ठीक कर लेना चाहिए।

(6) मल, मूत्र, वायु का त्याग ठीक से होना चाहिए, क्योंकि जिस पुरुष के मल मूत्रादि अपने मार्ग से आते रहते हैं वह छिद्रोदर जैसे भयानक आघातज व्रण होने पर भी बच जाता है। यदि मल मूत्र की प्रवृत्ति की ठीक से न हो तो तत् सम्बन्धित कारण का पता लगाकर आवश्यक चिकित्सा तुरन्त करनी चाहिए, जैसे (Correction of dehydration, catheterization, flatus-tube introduction, injection o carbacol इत्यादि।

(आ) आहार सम्बन्धी––आहार की व्यवस्था विशिष्ट शल्य कर्मानुसार ही होनी चाहिए, जैसे––छिद्रोदर के सदृश उदर के अन्य बड़े शल्य कर्मों में कुछ दिन तक मुख से कुछ भी नहीं देना चाहिए अर्थात् जब तक कि आन्त्र में गति न होने लगे (इस अवस्था में Intravenous glucose तथा Vitamins देते रहना चाहिए। सार्वदैहिक संज्ञाहरण (General anaesthesia) औषधि के प्रयोग करने से रोगी के होश में आने के चार घण्टे पश्चात् तक मुख से कुछ नहीं देना चाहिए, अन्यथा वमन होने की सम्भावना रहती है। छोटे शल्य कर्मों में, तरल पदार्थ थोड़ा-थोड़ा करके रोगी के होश में आने के तुरन्त बाद दिया जा सकता है, परन्तु अन्य बड़े शल्य कर्मों (Major operations) में मुख द्वारा पदार्थ 24 घन्टे के पश्चात् ही देने चाहिये और रोगी के सामान्य आहार पर आने के पश्चात् उसे उपवास नहीं करना चाहिए, इससे अपतर्पण (Weakness) होता है। शल्य कर्म के पश्चात् मद्य, अम्ल, रुक्ष एवं तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनसे कर्षण होता है। मद्य सदृश वस्तुओं से शर्करा (Glucose) का अत्यधिक उपयोग (Utilise) होने लगता है जिससे तापमान बढ़ जाता है तथा स्वेद आने से निर्जलीयता (Dehydration), अम्लता (Acidosis), स्तब्धता (Shock), सन्यास (Coma), अजीर्ण तथा ओजक्षय इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

(इ) विहार सम्बन्धी––ये विशिष्ट कर्म भी शल्य कर्मानुसार करने चाहिए जैसे––

(क) अस्थिगत शल्य कर्म के पश्चात् (After fracture surgery) रुग्ण शाखा (या स्थान) को पूर्ण विश्राम (By immobilization) देना चाहिए।

(ख) अन्य बड़े शल्य कर्मों में रोगी को सामर्थ्य के अनुसार जल्दी बैठाना तथा जल्दी चलाना चाहिए (Early mobilization)। ऐसा करने से घनास्रता तथा अन्तः शल्यता (Thrombosis & embolism) जैसी अवस्थाओं तथा शय्याज व्रण (Bed sore) जैसे उपद्रवों से छुटकारा मिल जाता है।

(ग) धूप, धूली, धूम्र, ओस एवं विषमासन से रोगी को बचाकर रखें।

(घ) व्यायाम, मैथुन, हर्ष एवं क्रोध का रोगी में पूर्ण बल आने तक निषेध रखें, क्योंकि इससे व्रण में लालिमा, वेदना एवं शोफ होता है तथा व्रण फट जाता है। मैथुन से तथा ओजक्षय से स्फूर्ति नहीं रहती तथा स्तब्धता (Shock) भी हो सकती है।

(ङ) रोगी को धीरे-धीरे करवट दिलानी चाहिये (As sudden change of posture precipitates shock)।

(च) रोगी को लम्बे-लम्बे श्वास (Deep breathing) लेने चाहिए।

(ई) उपद्रव सम्बन्धी—'उपद्रवास्तु विविधाः व्रणस्य व्रणितस्य । (च०)

उपद्रव दो प्रकार के होते हैं ।

(1) व्रण के उपद्रव

(2) व्रणित के उपद्रव

(1) व्रण के उपद्रव—दुष्ट व्रण के लक्षण ही व्रण के उपद्रव होते हैं, जैसे विकृत गन्ध, स्राव एवं वेदना इत्यादि । रक्त स्राव (Heamorrhage) होने पर इसे उपयुक्त विधि से रोकना चाहिए । सीवन स्थान में पूय का पड़ना (Stich abscess), विसर्प (Cellulitis), स्फूर्जीय संक्रमण (Fulminating infection), व्रण का फट जाना (Disruption of wound) तथा अत्यधिक व्रण वस्तु का बनना (Keloid formation) इत्यादि उपद्रव होने पर कारणानुसार उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिए ।

(2) व्रणित के उपद्रव—ज्वर (Fever), अतिसार (Diarrhoea leading to dehydration & Potassium loss), मूर्च्छा (Unconsciousness), हिक्का (Hiccough due to irritation of phrenic nerve), छर्दि (Vomiting due to intestinal obstruction or increased blood urea or colicky pain), तृष्णा (Thirst which is a sign of dehydration), अरोचक (Anorexia), श्वास एवं कास (Respiratory complications) इत्यादि उपद्रवों की तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए अन्यथा रोगी की शीघ्र मृत्यु होने का भय रहता है ।

14
यन्त्र

(BLUNT INSTRUMENTS)

शल्य निर्हरण के उपाय को यन्त्र कहते हैं ।

यन्त्र निर्माण :

यन्त्रों का निर्माण करते समय उनके अग्र भाग का आकार हिंसक पशु-पक्षियों के मुख के समान रखना चाहिए । यन्त्रों का परिमाण शास्त्रोक्त विधि से या इस विषय में प्रवीण चिकित्सकों के परामर्श से या फिर यन्त्रों के कर्मानुसार रखना चाहिए । यन्त्र मजबूत लौह, (जैसे Stain less steel) या इसके अभाव में ताम्रादि अन्य धातुओं से बनाने चाहिए । यन्त्र देखने में सुन्दर, कठोर (Unbreakable) एवं सुग्राह्य (With good grasp) होने चाहिए ।

यन्त्र संख्या :

शल्य कर्म की विविधता के कारण यन्त्रों की संख्या निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती । फिर भी मुख्य कर्मों के अनुसार तथा यन्त्रों की जानकारी के लिए 101 यन्त्र बताए गए हैं । यह यन्त्र छः प्रकार के होते हैं—

(i) स्वस्तिक यन्त्र	24
(ii) संदंश यन्त्र	2
(iii) ताल यन्त्र	2
(iv) नाड़ी यन्त्र	20
(v) शलाका यन्त्र	28
(vi) उपयन्त्र	25

(1) स्वस्तिक यन्त्र :

यह यन्त्र स्वस्तिक चिन्ह (卐) के आकार के होते हैं । इनके दोनों भाग बीच में एक कील (Rivet) द्वारा जुड़े रहते हैं (Its power and weight arm lie on either side of the fulcrum) । इस प्रकार यन्त्र का मुख तथा पकड़ने का मूल प्रान्त कील के स्थान पर आपस में मिलता है । इसमें से नौ (Nine) यन्त्रों का

अग्रभाग हिंसक पशुओं के मुख के आकार सदृश होता है। इनका उपयोग त्वचा के समीप में पड़े शल्यों को निकालने के लिए होता है, ये यन्त्र निम्न होते हैं—

(1) सिंह मुख।
(2) व्याघ्र मुख।
(3) वृक मुख।
(4) चास मुख।
(5) ऋक्ष मुख।
(6) द्विपी (चीता) मुख।
(7) मार्जार मुख (विडाल मुख)।
(8) शृगाल (भेड़िया) मुख।
(9) मृग (एर्वारूक) मुख।

15 यन्त्रों का अग्रभाग हिंसक पक्षियों के मुख के समान होता है। ये यन्त्र गहराई में स्थित शल्य के निर्हरण के लिये प्रयोग में लाए जाते हैं। ये यन्त्र निम्न होते हैं—

(1) काक मुख।
(2) कंक मुख।
(3) कुरर (टिटीहरी) मुख।
(4) चाष मुख।
(5) भास मुख।
(6) शशघाति (बाज) मुख।
(7) उल्लू मुख।
(8) चिल्ली मुख।
(9) श्येन मुख।
(10) गृध्र मुख।
(11) क्रौंच मुख।
(12) भृङ्गराज मुख।
(13) अञ्जलिकर्ण मुख।
(14) अवभञ्जन मुख।
(15) नन्दी मुख।

आजकल भी स्वस्तिकाकार के यन्त्र (Forcepses) बनाए जाते हैं, इनमें कुछ यन्त्रों के मुखों का आकार हिंसक पशु पक्षियों की भांति होता है, जैसे लाइन फारसैप्स (lion's forceps), बुलडाग फारसैप्स (Buldog forceps,) क्रोकोडाइल

फारसैप्स, (Crocodile forceps) इत्यादि, इन यन्त्रों के मुख का आकार क्रमशः सिंह, श्वान और मगर के मुख के समान रहता है।

कार्य—ये यन्त्र अस्थि में लगे (अर्थात दृढ़ रूप से फंसे हुए) शल्य को निकालने के काम आते हैं। कंक मुख यन्त्र का अग्रभाग लम्बी चोंच सदृश होने के कारण यह गहराई में स्थित शल्य को आसानी से निकाल सकता है; इसलिए कंक मुख को यन्त्रों में श्रेष्ठ यन्त्र माना जाता है।

(II) संदंश यन्त्र :

यह चिमटे (Fork) सदृश एक ओर से कील से जुड़ा रहता है। [Fulcrum is on one side, weight carrying part to other side and handle (power arm) lies in between both] इसकी लम्बाई 16 अंगुल होती है।

भेद (Types)—संदंश यन्त्र 2 प्रकार का होता है।
(i) सनिग्रह (With catch)
(ii) अनिग्रह (Without catch)

(i) **सनिग्रह** (With catch)—सनिग्रह संदंश यन्त्र किसी भी शल्य को (बिना हाथ से दबाए) लगातार पकड़े रख सकता है। शल्य पकड़ने के पश्चात् उस पर लगे छल्ले को यन्त्र के मुख भाग की ओर ले जाते हैं, इससे यन्त्र का मुख बन्द हो जाने से वह शल्य को पकड़े रखता है।

(ii) **अनिग्रह** (Without catch)—अनिग्रह संदंश यन्त्र में छल्ला नहीं लगा होता, इसलिए शल्य को पकड़े रखने के लिए इसे हाथ से दबाए रखना पड़ता है।

मुचुण्डी—सुश्रुत ने इसका प्रयोग अर्म रोग में किया है, परन्तु इसका वर्णन संदंश यन्त्रों में नहीं किया। अरुणदत्त ने मुचुण्डी सदृश (जिनका अग्र भाग दन्त युक्त होता है) को सनिग्रह मुचुन्डी संदंश कहा है।

कार्य—यह यन्त्र त्वक, मांस, सिरा, स्नायु इत्यादि मृदु धातुओं से शल्य निकालने के प्रयोग में लाया जाता है। वाग्भट्ट ने व्रण बंधन करते समय इसके द्वारा पिचु प्लोतादि (*Dressing material*) को उठाने के लिए (प्रयोग करने को) कहा है (For aseptic dressing technique)। इसका प्रयोग पक्ष्मकोप (Trichiasis) में पक्ष्मों को निकालने (Epiliation) के लिए भी किया जाता है।

(III) ताल यन्त्र (Scoop)

यह यन्त्र 12 अंगुल लम्बा होता है, इसका अग्रभाग मछली के तालु के समान या चम्मच के आकार का (Spoon shaped) होता है। इसका परिमाण कर्ण या

TYPES OF BLUNT INSTRUMENTS

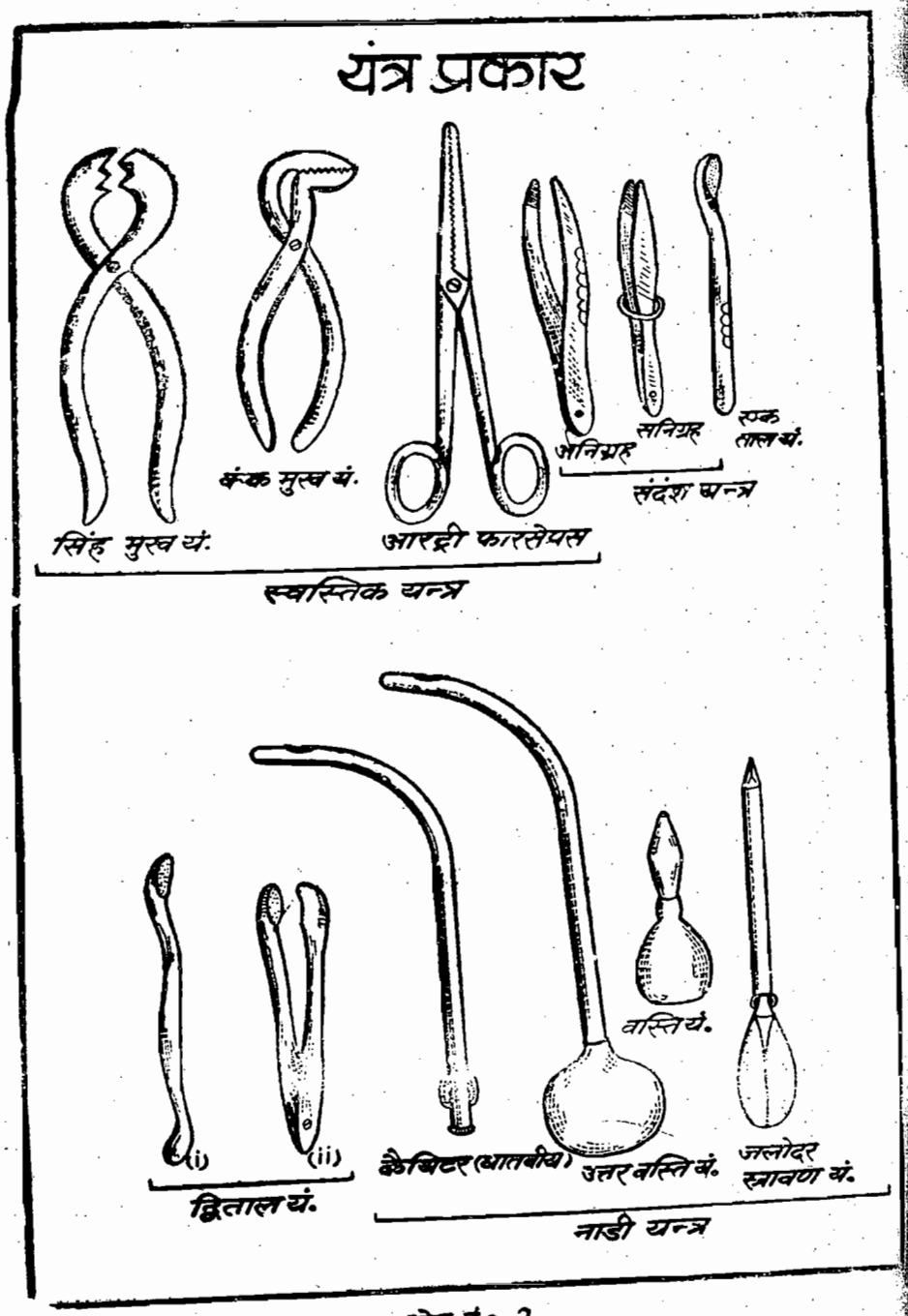

प्लेट नं० 2

नासा छिद्र के समान होता है ।

भेद (Types)—यह दो प्रकार का होता है—

(*i*) एक ताल यन्त्र (Single scoop)

(*ii*) द्विताल यन्त्र (Double scoop)

(i) **एक ताल यन्त्र** (Single scoop)—इसमें केवल एक ही स्थान पर ताल बना होता है । **चक्रपाणि** ने इसके ताल का परिमाण $\frac{1}{2}$ अंगुल बताया है तथा इसे अनवबद्ध (Loose) शल्य को निकालने के लिए प्रयोग करने को कहा है ।

(ii) **द्विताल यन्त्र** (Double scoop)—इसमें दो स्थानों पर ताल बने होते हैं, कुछ लोग इसे दोनों किनारों पर ताल के समान बना यन्त्र मानते हैं । डल्हण ने इसे मत्स्य के सम्पूर्ण तालू के आकार का (Full scoop) बताया है तथा चक्रपाणि ने इसे अवबद्ध शल्य (Impacted foreign body) को निकालने के लिये प्रयोग करने को कहा है । इस यन्त्र को Stone holding forceps के सम आकार में बनाना चाहिए ।

कार्य—इनका उपयोग कर्ण एवं नासादि सुषिर युक्त स्थानों में से शल्य निर्हरण के लिए किया जाता है । आजकल इस प्रकार के यन्त्रों (Scoops) से लेखन कर्म (Curatization i.e. saucerization) किया जाता है ।

(IV) नाड़ी यन्त्र (Tubular instruments)

नाड़ी यन्त्र नलिका सदृश सुषिरयुक्त तथा एक या दोनों ओर से छिद्र युक्त (Open) होते हैं, । इनकी लम्बाई आवश्यकतानुसार तथा परिधि परिमाण (Circumference) स्रोत द्वार के परिमाण के अनुसार होना चाहिए ।

कार्य—नाड़ी यन्त्रों का प्रयोग स्रोतों से शल्य निकालने या उनको देखने के लिए किया जाता है । इनके द्वारा दुष्ट रुधिर का आचूषण (Suction) भी किया जाता है ।

संख्या—नाड़ी यन्त्रों की संख्या 20 होती है—

1. भगन्दर यन्त्र
2. अर्शोयन्त्र
3. व्रण यन्त्र
4. वस्ति यन्त्र
5. उत्तर वस्ति यन्त्र
6. मूत्र वृद्धि स्रावण यन्त्र
7. जलोदर स्रावण यन्त्र
8. धूम नेत्र यन्त्र
9. निरुद्ध प्रकश यन्त्र
10. सन्निरुद्ध गुद यन्त्र
11. अलाबु यन्त्र
12. शृंग यन्त्र

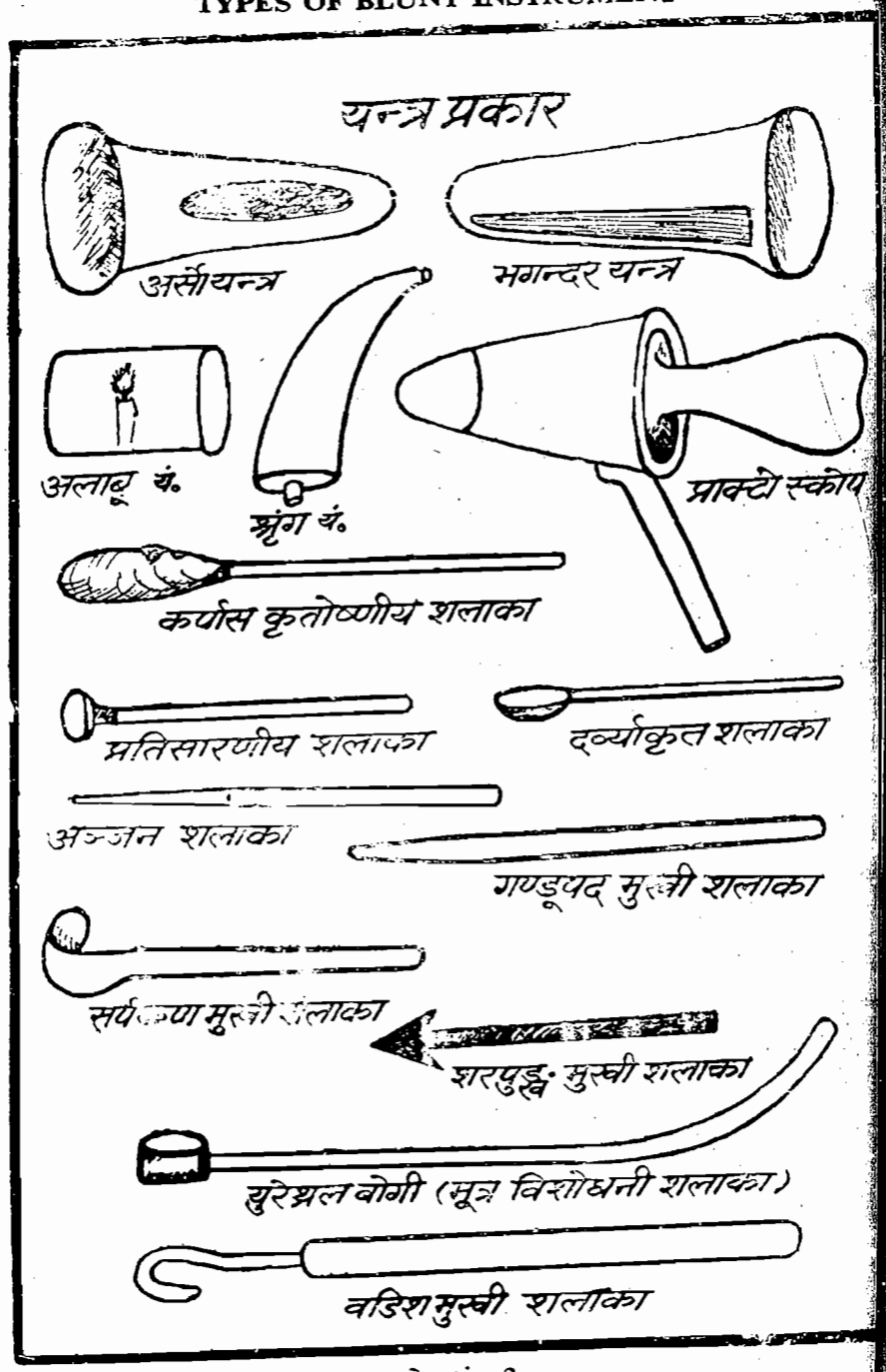

प्लेट सं० 3

वाग्भट्ट ने 6 अन्य नाड़ीयन्त्र बताए हैं जैसे—

(i) **कंठ शल्य अवलोकनी नाड़ी** (Throat speculum)—इसका उपयोग कण्ठगत शल्य निकालने के लिये किया जाता है।

(ii) **शल्यनिर्घातिनी नाड़ी**—यह नाड़ी 12×4 अंगुली परिमाण की एवं सुषिर युक्त होती है। इस नाड़ी का सिर भाग कर्णिका युक्त होता है। कर्णिका में शल्य को फंसाकर फिर उसे इधर-उधर हिलाकर ढीला किया जाता है।

(iii) **अंगुली त्राणक**—यह अंगुली के रक्षणार्थ प्रयुक्त होता है। इसकी लम्बाई 4 अंगुल एवं यह गोस्तनाकार होती है। यह दांत या काष्ट से बनी हुई नाड़ी होती है।

(iv) **शमी यन्त्र**—यह छिद्र रहित यन्त्र अर्श को दबाने के लिये प्रयुक्त होता है।

(v) **घ्राणार्बुददर्शी यन्त्र** (Nasal speculum)—यह 2 अंगुल मोटा तथा भगंदर यन्त्र के समान होता है।

(vi) **योनि वीक्षण यन्त्र** (Vaginal speculum)—यह चार अंगुल, भित्ति वाला, कमल (मुकुल) के समान होता है। इसका मूल 5 शलाकाओं (Five lever rods) से युक्त होता है जो कि इस यन्त्र के अग्रभाग को विकसित करती हैं। इसकी लम्बाई 10 अंगुल तथा परिधि (circumference) 4 अंगुल होती है (It is like alinghan's vaginal speculum)।

(1+2) **भगन्दर यन्त्र एवं अर्शोयन्त्र** (Proctoscope)—यह 4 अंगुल का गोस्तनाकार, रोगी के हस्त तल के बराबर अर्थात् बच्चों तथा वयस्कों में अलग-अलग परिमाण वाला यन्त्र होता है। एक छिद्र युक्त यन्त्र अग्निकर्म एवं क्षारकर्मादि के लिए तथा दो छिद्र युक्त यन्त्र रोग दर्शनार्थ प्रयुक्त होता है।

(3) **व्रण यन्त्र**—यह वस्ति के समान चर्म से निर्मित होता है इसके आगे लगी नाड़ी के अग्रभाग में मटर के बीज के समान छिद्र होता है तथा मूलभाग अंगुष्ट समान होता है; इसके अग्रभाग में कर्णिका लगी रहती है। यह नाड़ी यन्त्र व्रण प्रक्षालन के लिए प्रयुक्त होता है। (It seems to be a rubber ball irrigator)

(4) **वस्तियन्त्र** (Like a rubber ball enema syringe)—वस्तिपुट (Bulb) बकरी, भैंस, हिरणादि पशुओं की वस्ति (Urinary bladder) से बने होते हैं, इन्हें हरीतक्यादि कषाय द्रव्यों में प्रक्षालन करके मृदु बनाया जाता है। इसके छिद्र में लगी स्वर्ण इत्यादि धातुएं या शृंग या दन्त से निर्मित नेत्र को कर्णिका (Hooks) द्वारा बाँध देते हैं। नेत्र (Nozel) की लम्बाई आयु के अनुसार 6, 8, 10 या 12 अंगुल होनी चाहिये। नेत्र की मोटाई मूल के पास से रोगी के अंगुष्ठ के समान तथा

अग्रभाग कनिष्ठिका के समान मोटा होना चाहिए। इसका छिद्र आयु के अनुसार मूंग, मटर या बेर के प्रमाण का होता है।

इस यन्त्र का प्रयोग मुख्यतया वायु रोगों में वस्ति (Enema) देने के लिये होता है। आजकल वस्तिकर्म (Enema) द्वारा अनेक प्रकार के द्रव्यों को वृहदान्त्र (Large intestine) में डाला जाता है (As anti-spasmodics, antiseptics, nutrients and soap irrigation enemas)।

दोष—कुल मिलाकर वस्ति के 76 दोष होते हैं। इनमें से 53 दोष वस्ति एवं उसके कार्य सम्बन्धित होते हैं तथा 23 दोष वैद्य (Physician) तथा रोगी (Patient) सम्बन्धी होते हैं।

(5) उत्तर वस्ति यन्त्र—यह वस्ति यन्त्र के समान आकार का यन्त्र होता है परन्तु इसके नेत्र की लम्बाई पुरुषों या स्त्रियों में भिन्न-भिन्न होती है। पुरुषों में नेत्र 12 अंगुल से 14 अंगुल लम्बा, गौपुच्छाकार एवं सरसों के बीज के समान छिद्र युक्त तथा कर्णिका रहित होता है। स्त्रियों में नेत्र 10 अंगुल लम्बा तथा मूंग के दाने के समान छिद्र वाला होता है। इसका प्रयोग गर्भाशय तथा योनि रोग (जैसे योनिभ्रंश, योनिशूलादि) में औषधि को अन्दर प्रविष्ट करने के लिये किया जाता है। पुरुषों में इसे उष्णवात, मूत्रप्रसेक तथा मूत्राशय गत व्याधियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है (It is like Biglow's aspirator, attached with a catheter)।

(6, 7) मूत्रवृद्धि तथा जलोदर स्रावण यन्त्र (Trocar & canula)—पहले व्रीहिमुख शस्त्र से मूत्र वृद्धि की भित्ति या दकोदर की भित्ति (Wall) का वेधन किया जाता है, फिर उसमें मूत्र वृद्धि स्रावणयन्त्र (With small canula) या दकोदर स्रावण यन्त्र (With bigger canula) को लगाकर उसके जल का विस्रावण करा दिया जाता है।

(8) धूम्र नेत्रयन्त्र—इस यन्त्र में 2 शकोरे लेकर उनकी सम्पुट में औषध द्रव्य रखकर तथा ऊपर के शकोरे में छिद्र करके उसमें धूम्र नाड़ी लगा दें। इस नाड़ी का मूल भाग अंगुष्ठ के समान तथा अग्र भाग कनिष्ठिका के समान परिमाण का होना चाहिये। धूम्र नेत्र की लम्बाई, विरेचन धूम्र (विरेचनिक) के लिये 24 अंगुल, स्नैहिक के लिये 32 अंगुल तथा प्रायोगिक धूम्र देने के लिये 48 अंगुल होनी चाहिये। धूम्र का प्रयोग व्रण में वेदना तथा स्राव की चिकित्सा के लिए होता है।

(9, 10) निरुद्ध प्रकश तथा सन्निरुद्धगुद यन्त्र—यह लौह, काष्ठ या लाक्षादि से बनी दो मुख वाली नाड़ियाँ होती हैं। प्रत्येक नाड़ी यन्त्र की लम्बाई उत्तरोत्तर बढ़ती है। इनका प्रयोग निरुद्ध-प्रकश (Phymosis), सन्निरुद्ध गुद (Stricture of anus) के संकुचित मार्ग का विस्फारित करने के लिये होता है।

(11) अलाबू यन्त्र (Cupping or glasses)—यह परिमाण में 12 अंगुल लम्बा, 18 अंगुल गोल तथा 4 अंगुल परिधि (Circumference) वाला यन्त्र होता है। एक मुख वाले यन्त्र में दीपक जलाकर इसे रुग्ण स्थान पर लगा देते हैं [रुग्ण स्थान पर दीपक रखकर अलाबू यन्त्र से ढक दें, दीपक अलाबू के अन्दर की वायु का उपयोग करके उसमें आंशिक शून्यता (Partial vaccum) उत्पन्न कर देता है, इससे उस स्थान की त्वचा अलाबू के अन्दर खिच आती है तथा वहाँ रक्तिमा उत्पन्न हो जाती है] इसका प्रयोग गुल्म रोग में तथा रक्त विस्रावण के लिए किया जाता है।

(12) शृंग यन्त्र (Horn)—इसकी लम्बाई 18 अंगुल तथा अग्र भाग कुशा की आकृति का होता है एवं यह परिमाण में 3 अंगुल का होता है। इसमें सरसों के दाने के समान आकार का छिद्र होता है। शृंग को रुग्ण स्थान पर रखकर पीछे से मुख द्वारा रक्त का आचूषण (Suction) करते हैं, आचूषण बाल आचूषक यन्त्र (Suction ball) द्वारा भी किया जा सकता है। इसका प्रयोग दूषित रक्त निकालने के लिये या कर्ण गत पूय को या शल्य को निकालने के लिये किया जाता है।

आजकल प्रयुक्त होने वाले मुख्य नाड़ी यन्त्र

(1) मूत्र नाड़ियां (Catheters)—मूत्राशय में अवरोध के कारण जब मूत्र-मार्ग से मूत्र बाहर नहीं आता (जैसे अश्मरी, अर्बुद, पौरुष-ग्रन्थि वृद्धि इत्यादि में) तब इस अवस्था में मूत्र नाड़ियों द्वारा बाहर निकाला जाता है। यह मूत्र नाड़ियाँ अनेक प्रकार की होती हैं जैसे—

(i) धातु निर्मित मूत्र नाड़ी (Metallic catheter)—धातु निर्मित मूत्र-नाड़ियाँ नं० 4 से नं० 18 तक के परिमाण की होती हैं। इनका परिमाण (Size) क्रमशः बढ़ता जाता है। स्त्रियों में प्रयुक्त होने वाली नाड़ी (Female catheters) 5 इंच से 6 इंच लम्बी तथा अग्र भाग से पुरुषों वाली नाड़ी (Male catheter) से कम मुड़ी होती है। पुरुषों में प्रयुक्त होने वाली नाड़ी (Male catheter) 10 इंच लम्बी तथा अधिक मुड़ी हुई (More curved) होती है। पौरुषग्रन्थि-मूत्र-नाड़ी-यन्त्र (Prostatic catheter) पुरुषों के मूत्र-नाड़ी-यन्त्र (Male catheter) से अधिक लम्बा, अधिक दूरी तक मुड़ा हुआ (More curved) तथा आगे और पीछे के मध्यान्तर में छिद्र युक्त रहता है (Opens antero-posteriorly)।

(ii) Gum-elastic, self-retaining catheter—फौली के मूत्र नाड़ी यन्त्र (Foley's catheter) को वस्ति में डालकर उसके मुख के पास लगे बैलून (Balloon) को, 20-30 c c. जल डालकर फुला देते हैं। इसके कारण नाड़ी यन्त्र वस्ति से बाहर नहीं निकलता। यह नाड़ी यन्त्र अपने स्थान पर तब तक रुका रहता है जब तक इसमें (Balloon से) जल को निकाला नहीं जाता।

(iii) **मेलीकोट का मूत्र नाड़ी यन्त्र** (Mallicot's catheter)—यह यन्त्र अग्र भाग से बल्ब (Bulbous) की तरह फूला रहता है। उदरपाटन विधि से मूत्राशय खोलने के पश्चात् (After supra pubic cystostomy it is directed through a wire strecher into the urinary bladder) मूत्र निकालने के लिये इसे वस्ति में लगा देते हैं। इसे प्रायः 15 दिन के लिये लगाया जाता है।

(iv) **निलटन का मूत्र नाड़ी यन्त्र** (Nilaton's catheter)—ये नाड़ी यन्त्र लाल रंग के रबर के (Flexible & red rubber) तथा ये मूत्र-नाड़ी-यन्त्र (धातवीय मूत्र-नाड़ी-यन्त्र सदृश) अनेक परिमाणों (Size) के होते हैं। मूत्रावरोध होने पर सबसे पहले इन नाड़ी-यन्त्रों का ही प्रयोग करना चाहिये।

(2) **निकास नलिका** (Drainage tube)—व्रण या शरीर की किसी गुहा (Cavity) में से रक्त या पूय इत्यादि द्रव्यों को निकालने के लिये जिस नाड़ी यन्त्र (Corrugated rubber sheet) का प्रयोग किया जाता है उसे निकासनी नाड़ी या निकास नलिका (Drainage tube) कहते हैं।

(3) **आमाशय आहार नाड़ी** (Feeding tube)—यह राइल की नालिका (Ryle's tube) के समानाकार रबर की एक नलिका है। इसे मुख द्वारा या नासिका द्वारा अन्न प्रणाली के रास्ते से आमाशय मे डाल देते हैं। रोगी को इस नलिका द्वारा आहार पदार्थ द्रव रूप में दिये जाते हैं।

(4) **मिल्लर एबट का नाड़ी यन्त्र** (Miller Abbot's tube)—यह नाड़ी यंत्र दो नलिकाओं के मिलने से बनती है। इसमें से एक नलिका से उसके अग्र भाग में लगे गुब्बारे (Balloon) को फुलाया जाता है तथा दूसरी नलिका अनेक छिद्र युक्त प्रान्त में खुलती है, जहाँ पर कि इस प्रांत को क्ष-किरण अपारदर्शक (Radio opaque) बनाने के लिये धातु की गोलियाँ रखी रहती हैं, ताकि 'क्ष' किरण द्वारा आँत्र में इसकी स्थिति का ज्ञान हो सके। इसका प्रयोग आन्त्र स्रावों को (परीक्षणार्थ) निकालने के लिये किया जाता है। इसे नासिका द्वारा अन्न प्रणाली तथा आमाशय से होते हुए पहले आन्त्र में पहुंचाया जाता है।

(5) **राइल का नाड़ी यन्त्र** (Ryle's tube)—यह नाड़ी यन्त्र-मूत्र-नाड़ी-यन्त्र नं० 8 के परिमाण (Size) की एक लम्बी नलिका होती है। इस पर आमाशय के हृदय द्वार (Cardiac end) तक तथा जठर निर्गम द्वार (Pyloric end) की दूरी तक के चिन्ह लगे रहते हैं। इसके अग्र भाग में अनेक छोटे-छोटे छिद्र होते हैं, जहाँ पर नाग धातु की छोटी-छोटी गोलियाँ (Lead balls) इसे 'क्ष किरण' अपारदर्शक बनाने के लिये रखी होती हैं। आमाशय में इसकी स्थिति का क्ष-किरण चित्रण द्वारा पता लगाया जा सकता है। इसका प्रयोग आमाशय स्रावों को निकालने के लिये [For functional test meal (F. T.M.)] किया जाता है। इसे नासिका द्वार से एवं अन्न

प्रणाली से होते हुए आमाशय तक, पानी की घूट के साथ-साथ निगलकर पहुंचाया जाता है।

(6) **सगस्टेकन ब्लैक मोर नाड़ी यन्त्र** (Sungstaken Blackmore tube)—यह एक लम्बी नली होती है जो कि अन्न प्रणालीगत रक्तस्राव को रोकने के लिये प्रयुक्त होती है। इसे नासिका द्वारा अन्न नलिका में डालकर इसके अग्रभाग में लगे गुब्बारे (Balloon) को फुला देते हैं। गुब्बारे के दाब से वहाँ की केशिकाओं का रक्त स्राव बन्द हो जाता है (Used for control of bleeding from oesophageal varix)।

(7) **अन्तर श्वास प्रणाली नाड़ी यन्त्र** (Endo tracheal tube) :—यह एक मुड़ी हुई (Mild curved) रबर की मोटी नलिका है। इसे मुख द्वार से, स्वर यन्त्र से होते हुए, श्वास प्रणाली में डालते हैं। इसके अग्र भाग में लगे गुब्बारे को फुला देने से इसके पार्श्व (Lateral side) से वायु नहीं निकल सकती (Balloon makes it air tight)। इसका अग्रभाग कलम के अग्रभाग सदृश नोकदार (Bevcled) रहता है। नासिका द्वार से डालने वाली ये नलिकाएं अधिक लम्बी होती हैं तथा इनके अग्र भाग में गुब्बारा भी नहीं लगा रहता। इनका प्रयोग सार्वदैहिक संज्ञानाश में तथा श्वासावरोध (Dyspnoea) की सम्भावना होने पर किया जाता है।

(8) **श्वास प्रणाली भेदन नाड़ी यन्त्र** (Tracheostomy tube)—यह छोटे आकार की, मुड़ी हुई (Convex), बड़े छिद्र वाली एवं कर्णिका युक्त नाड़ी होती है। कर्णिका से इसे गले में बाँधकर स्थिर (Fix) किया जाता है। स्वर यन्त्र के पास अवरोध हो जाने पर, श्वास प्रणाली की दो तरुणास्थियों (Cartilages) के वलयों (Rings) के बीच के स्थान में एक भेदन व्रण बनाया जाता है फिर इस व्रण में से (छिद्र से) इस नाड़ी यन्त्र को डाल देते हैं, इसके द्वारा रोगी को श्वास आता रहता है।

(V) शलाका यन्त्र :

ये सलाई के समान ठोस (अर्थात् छिद्र रहित) यन्त्र होते हैं। ये संख्या में 28 होते हैं।

संख्या—

(1) गण्डु पद मुखी शलाका	2	(7) खल्ल मुखी शलाका	3
(2) सर्प फण मुखी शलाका	2	(8) जाम्बव फले मुखी शलाका	3
(6) शरपुंख मुखी शलाका	2	(9) अंकुश मुखी शलाका	3
(4) बड़िश मुखी शलाका	2	(10) नासार्बुद हरण शलाका	1
(5) मसूर दल मात्र मुखी शलाका	2	(11) अंजन शलाका	1
(6) कार्पासकृतोष्णी मुखी शलाका	6	(12) मूत्र मार्ग विशोधिनी शलाका	1

वाग्भट्ट ने निम्न अन्य शलाका यन्त्रों का भी वर्णन किया है—

(1) गर्भ शंकु । (2) सर्प फण वक्र शलाका ।

(3) शरपुंख शलाका । (4) अर्धेन्द्र मुखी शलाका ।

(5) कर्ण शोधन शलाका ।

(1) **गण्डु पद मुखी शलाका** :—यह 2 शलाकाएं होती हैं, इनके मुख का आकार केंचुए (Earth worm) के सिर के समान (Blunt probe like) होता है भगन्दर तथा नाड़ी व्रणों में एषण कर्म के लिए तथा इनके गम्भीर पूय मार्गों का पता लगाने के लिये इस यन्त्र का प्रयोग होता है । इसके द्वारा नाड़ी में स्थित आगन्तुज शल्य की स्थिति का भी पता लगाया जाता है ।

(2) सर्पफण मुखी शलाका (Retractor like instrument)—ये शलाकाएं सर्प के फण के सदृश होती हैं । इनका परिमाण 12 अंगुल तथा 16 अंगुल होता है। इनका प्रयोग व्यूहण कार्य के लिए अर्थात् Retraction या किसी वस्तु को उठाकर निकालने के लिए होता है ।

(3) **शरपुंख मुख शलाका**—यह शर (Arrow) के आकार की 10 अंगुल तथा 12 अंगुल की दो शलाकाएं होती हैं । इनके द्वारा शल्य को चलायमान किया जाता है ।

(4) वडिश मुख शलाका (Blunt hooked probe)—ये शलाकाएं संख्या में दो होती हैं तथा मूढ़ गर्भ को खींचकर बाहर निकालने या अर्म को अपांग की ओर पकड़ने के लिए प्रयोग की जाती हैं (It is like a squint hook) ।

(5) मसूर दल मात्र शलाका—यह मसूर दाल के समान 8 अंगुल एवं 9 अंगुल लम्बाई की दो शलाकायें होती हैं, ये आगे से थोड़ी झुकी हुई होती हैं । इनके द्वारा मुख, नासा, कर्ण इत्यादि इन्द्रियों के स्रोत गत शल्य निकाले जाते हैं ।

(6) कर्पास कृतोष्णीय शलाका (Swab Stick)—यह गोल तथा लम्बी शलाकायें, संख्या में 6 होती हैं । इनके अग्रभाग पर कर्पास (Cotton) लगी रहती है । यह कर्ण स्राव तथा व्रणों के स्राव साफ करने के काम आती हैं । दो शलाकायें 6 और 7 अंगुल लम्बी नासार्बुद में औषधि लगाने के लिए प्रयुक्त होती हैं । अन्य दो शलाकायें 8 व 9 अंगुल लम्बी होती हैं जो कि कर्ण गूथ तथा पूय साफ करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं । शेष दो शलाकायें 12-12 अंगुल लम्बी व्रण साफ लिए प्रयुक्त होती हैं ।

ची मुख शलाका—यह खल्ल (कड़छी) के समान आकार की,

कनिष्ठा:, अनामिका तथा मध्यमा अंगुली के नख के समान, तीन शलाकायें होती हैं । ये शलाकायें क्षार लगाने के काम आती हैं ।

(8) जाम्बव फल मुखी शलाका—यह स्थूल, अणु एवं दीर्घ भेद से संख्या में 3 होती हैं । इनका अग्रभाग जामुन के समान गोल तथा लम्बा होता है । इसका प्रयोग भगन्दर में दाह कर्म करने के लिए किया जाता है ।

(9) अंकुश मुख शलाका—ये संख्या में तीन तथा अंकुश (Hook) के समान आकार की होती हैं । इनका प्रयोग भगन्दर में दाह कर्म करने के लिए होता है ।

(10) नासार्बुद हरण शलाका—इसका अग्रभाग मध्य से गहरा तथा किनारों से ऊंचा, बेर की आधी गुठली की अस्थि के समान होता है । यह नासा के अर्श तथा अर्बुद के दाह कर्म करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है ।

(11) अंजन शलाका—यह 8 अंगुल की शलाका मालती के मुकुल के समान, अग्रभाग से मटर के बीज के समान, मध्य से पतली व मृदु होती है तथा स्वर्ण एवं रजतादि धातुओं से बनाई जाती है । प्रयोगानुसार ये लेखन, रोपण तथा प्रसादन भेद से तीन प्रकार की शलाकाएं होती हैं । इनमें से यव शलाका श्लैष्मिक लिंग नाश के लिए प्रयोग होती है तथा अन्य तीन शलाकाएं अंजन डालने के लिए प्रयोग की जाती हैं ।

(12) मूत्र मार्ग विशोधिनी शलाका (Urethral bougie)—दृढ़बल के अनुसार उत्तर वस्ति देने के पूर्व इस शलाका के द्वारा मूत्र मार्ग का विशोधन कर लेना चाहिए । इसका प्रयोग मूत्र मार्ग का अन्वेषण करने के लिए होता है यदि Catheter मूत्र मार्ग में न जा रहा हो तो मूत्र मार्ग विशोधिनी शलाका (Urethral bougie) के द्वारा पहले मार्ग को विस्फारित किया जाता है—

(Lister's bougie is olive pointed with circular handle, and it is marked with its size. Cluttons bougie's tip is cylindrical, its handle is flat and is marked with its sizes with a difference of four numbers. Bladder sound is used to detect stones in urinary bladder. It is bent almost at right angle towards its tip, and its tip is olive pointed.)

वाग्भट्ट मतानुसार अन्य शलाका यन्त्र

1. **गर्भशंकु**—सुश्रुत ने गर्भ शंकु का प्रयोग मूढ़ गर्भ को बाहर निकालने के लिए किया है, परन्तु इसका समावेश यन्त्रों की संख्या में नहीं किया । यह यन्त्र शंकु (Cone or hook) के समान आगे से मुड़ा होता है । इसके आकार से ऐसा प्रतीत होता है जैसे सुश्रुत ने बड़िश मुख शलाका को गर्भ शंकु के नाम से कहा है ।

2. **सर्पफण वक्र शलाका** (Lithotomy scoop)—यह शलाका सर्पफण के

समान चपटी तथा आगे को झुकी हुई होती हैं। इसका उपयोग अश्मरी निकालने के लिए होता है। सुश्रुत ने अग्र वक्त्रयन्त्र का प्रयोग अश्मरी निकालने के लिए तथा सर्पफण मुखी शलाका का प्रयोग व्यूहण कर्म (Retraction) करने के लिये कहा है।

3. शरपुङ्ख मुखी शलाका (Tooth elevator)–यह शलाका दांत निकालने से पूर्व दांतों को हिलाने (चालन) के लिए प्रयुक्त होती है, ताकि दांत को आसानी से निकाला जा सके [दृढ़ दांत (Impacted tooth) को या दन्त मूल (Root of tooth) को निकालने के लिए पहले उसे इस शलाका (Elevator) द्वारा ढीला किया जाता है]।

4. कर्णशोधन यन्त्र—इसका प्रयोग कर्ण से कीटादि आगन्तुज शल्य को एवं कर्ण गूथ को निकालने के लिए किया जाता है। इसका प्रांत भाग अश्वत्थ पत्र के समान तथा अग्रभाग स्रूवे सदृश होता है।

5. अर्धेन्द्रमुखी शलाका–इसका आकार अर्धेन्द्र के समान होता है। सुश्रुत ने इसे आन्त्रवृद्धि के दहन कर्म के लिए प्रयोग करने को कहा है।

उपयन्त्र

उपयन्त्र वास्तव में यन्त्र तो नहीं होते परन्तु यन्त्रों के अभाव में ये शल्य को निकालने के काम में लाए जा सकते हैं।

संख्या—इनकी संख्या 25 होती है।

1. रज्जु—यह सर्पविष में अरिष्टा बाँधने के काम आती है तथा इससे शल्य को बाँधकर निकाला जाता है।

2. पट्ट (Bandage)–इससे कुशा को बाँधा जाता है तथा व्रण बन्धन किया जाता है।

3. चर्म—यह जलोदर में उदर पर तथा गुदभ्रंश में गुदा पर बांधने के काम आता है।

4. अन्तर्वल्कल—इसका प्रयोग बंधन कर्म या सीवन कर्म के लिए होता है।

5. वेणिका—यह तीन लड़ी वाली वेणी होती है।

6. लता—यह भग्न वाले अंग को खींचने (Traction) या उसे बाँधने के काम आती है।

7. वस्त्र—इससे पट्ट, कवलिका इत्यदि बनाए जाते हैं।

8. अष्ठीलाश्म—प्रहार द्वारा अस्थि शल्य निकालने के लिए अष्ठीले का उपयोग किया जाता है।

9. मुद्गर—इसका प्रयोग अष्ठीलाश्म के समान होता है।

10 पाणिपादतल—ग्रास रूपी शल्य को मुष्ठि प्रहार से निकाला जाता है। च्युत अंश सन्धि को पादतल द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है।

11. अंगुली—अंगुली का प्रयोग विमलापन या वमन कराने के लिए किया जाता है।

12. जिह्वा—चिउँटियों की जिह्वा द्वारा मधुर वस्तुओं का ज्ञान किया जाता है। अपने ही दांत में अनवबद्ध शल्य (तिनकादि) भी जिह्वा द्वारा निकाला जाता है।

13. दांत—मृत पशु का दन्त दहन कर्म के काम आता है।

14. नख—यह सूक्ष्म शल्य के निर्हरण के काम आता है।

15. मुख—मुख का प्रयोग आचूषण (Suction) कर्म के लिए किया जाता है।

16. बाल—यह वमन कराने या गले के शल्य को निकालने के काम आता है

17. अश्वकंटक—यह अस्थि से अवबद्ध शल्य निकालने के काम आता है।

18. शाखा—इसका प्रयोग झटके द्वारा अवबद्ध शल्य को निकालने के लिए किया जाता है।

19. ष्ठीवन—इसके द्वारा श्लेष्मा तथा मुख गत सूक्ष्म अनवबद्ध शल्य निकाले जाते हैं।

20 प्रवाहण—इससे गर्भ तथा पुरीष को निकाला जाता है।

21. हर्ष—यह दुःख रूपी शल्य को हरता है।

22. अयस्कांत—इसका प्रयोग नेत्र से सूक्ष्म लौहकण निकालने के लिए किया जाता है।

23. क्षार—यह छेदन, भेदन तथा लेखन कर्म करता है। इसे पूय एवं गलित धातुओं को निकालने के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

24. अग्नि—यह मूत्र स्रावी व्रण का दहन करने के काम आती है।

25. भेषज—इसमें व्रण का शोधन किया जाता है अर्थात् पूयरूप शल्य को निकाला जाता है।

उपरोक्त उदाहरण उपयन्त्रों के कर्म समझाने के लिए दिए गए हैं। इनके द्वारा अवस्था अनुसार अन्य कोई भी काम लिया जा सकता है।

आसन या स्थिति (Position)

इन्हें उपयन्त्रों के अन्तराल मानना चाहिए। रोग तथा शल्य कर्मों के अनुसार रोगी को विभिन्न आसनों (Positions) में रखा जाता है जैसे—

1. पृष्ठ उन्मुख स्थिति (Dorsal supine position)—रोगी को नस्य देते

हुए, उदर के शल्य कर्म करते हुए तथा उदर परीक्षा करते समय रोगी को इस स्थिति में लेटाया जाता है।

2. **अधोमुख स्थिति** (Prone position)—व्रण के स्राव निकालने के लिए तथा पानी में डूबे हुए रोगी को इस स्थिति में रखा जाता है। पीठ के शल्य कर्म में भी यही स्थिति दी जाती है।

3. **पृष्ठ उन्मुख तथा ऊर्ध्व जानु आसन** (Dorsal recumbent position or dorsal supine with hip & knees in flexion)—प्रसव, उत्तर वस्ति और योनि परीक्षण के समय यह आसन दिया जाता है।

4. **लिथोटोमी आसन** (Lithotomy position or lying on back with buttocks at the end of table, hip & knees fully flexed and feet strapped)—यह आसन अश्मरी के शल्यकर्म करते समय तथा गुह्य अंगों की परीक्षा करते समय दिया जाता है।

5. **फाउलर का आसन** (Fowler's position)—इस स्थिति में Bed को सिर की ओर से 2′—2½′ फुट ऊंचा उठा दिया जाता है। इससे रोगी लेटने तथा बैठने के बीच की स्थिति में पड़ा रहता है। यह स्थिति उदर गत शल्य कर्मों में वहां पर एकत्रित स्राव को निकालने के लिए दी जाती है।

6. **जानुवक्षासन** (Knee chest position)—यह स्थिति अधोमुख होकर वक्ष के ऊपरी भाग तथा घुटनों के बल लेटने से बनती है। गुद परीक्षण तथा स्त्री के गुह्य अंगों के परीक्षण के लिए यह स्थिति दी जाती है।

7. **ट्रेण्डलेन वर्ग आसन** (Trendlenburg position)—यह स्थिति उन्मुखासन में सिर नीचे तथा पैर ऊपर (45° Angle) करके लेटने से बनती है। स्तब्धता में, गर्भिणी के लिए तथा श्रोणी गत शल्य कर्मों के लिए रोगी को यही स्थिति दी जाती है।

8. **सिमस की स्थिति** (Sim's position or semi prone position)—इस स्थिति में वक्ष शय्या पर टिका रहता है, दक्षिण नितम्ब ऊपर को उठा रहता है तथा वाम नितम्ब शय्या पर टिका रहता है। इस आसन में ऊपर वाली टांग अधिक मुड़ी होती है जिससे इस टांग का जानु शय्या पर टिका रहता है। यह स्थिति गर्भाशय प्रक्षालन तथा योनि में पिचु रखने के लिए दी जाती है।

9. **एलीओट की स्थिति** (Elliot's position or Robson's position or supine position but with a pack under back, thus producing like lordosis)—इस स्थिति का प्रयोग पित्ताशय के शल्य कर्म के लिए किया जाता है।

10. **मत्त वक्ष स्थिति** (Leap frog position)—यह स्थिति बनाने के लिए

आसन प्रकार

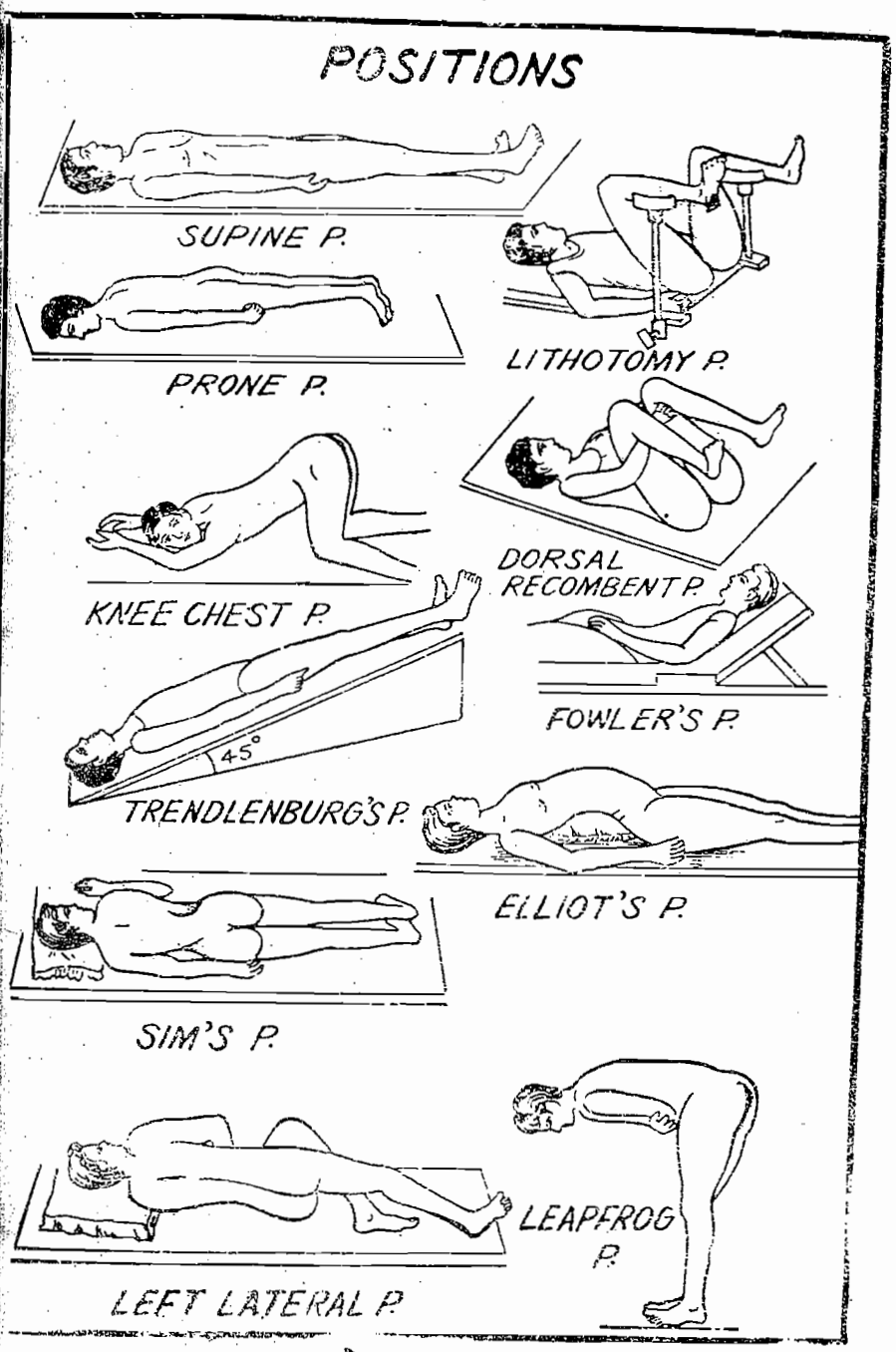

स्लेट नं० 4

खड़े होकर आगे को इतना झुकें कि वक्ष धरातल के समानान्तर (Parallel) आ जाए। रोगी का इस स्थिति में मलाशय परीक्षण (Rectal examination) किया जाता है।

11. वाम पार्श्व स्थिति (Left lateral)—इसमें रोगी वाम पार्श्व में, वाम जानु को संकुचित तथा दक्षिण टाँग को सीधा करके लेटता है। इस स्थिति में गुदा की परीक्षा की जाती है। इस स्थिति में यदि रोगी की कटि को सिर से ऊँचा उठा दिया जाए तो रोगी वृक्क के शल्य कर्म करने की स्थिति में आ जाता है।

यन्त्रों के कार्य :

यन्त्रों से चार प्रकार के कार्य लिए जा सकते हैं—

1. रोग दर्शनार्थ—जैसे अर्शोयन्त्र द्वारा।

2. क्रिया सौकार्य के लिए—जैसे भगन्दर में भेदन कर्म के समय एषणी का प्रयोग करने से शल्य क्रिया में सुविधा रहती है।

3. शल्य निर्हरणार्थ—जैसे ताल यन्त्र या सदंश यन्त्र द्वारा शल्य निकाले जाते हैं।

4. मार्ग विशोधनार्थ—जैसे व्रणधावन यन्त्र द्वारा या मूत्र मार्ग विशोधिनी शलाका से संकीर्ण मूत्र मार्ग को विस्फारित (विशोधन) किया जाता है।

इन कार्यों के अन्तर्गत निम्न 24 कर्म आते हैं—

1. निर्घातन (Hammering)
2. पूरण (To fill medicine)
3. बंधन (Bandaging)
4. व्यूहण (उठाकर निकालना)
5. वर्तन (मांसादि को यथा स्थान लाना)
6. चालन (To loose a foreign body)
7. विवर्तन (Forcible extraction)
8. विवरण (Dilatation of a passage)
9. पीड़न (Application of pressure to squeeze a cavity)
10. मार्ग विशोधन (Removal of obstruction from a Passage)
11. विकर्षण (Forceful extraction)
12. आहरण (Extraction of impacted foreign bodies)
13. आच्छन (Traction)
14. उन्नमन (Elevation)
15. विनमन (Depression)
16. भंजन (Crushing)
17. उन्मन्थ (Sounding of hard foreign bodies)
18. आचूषण (Suction)
19. एषण (To probe a Cavi
20. दारुण (To make hard)
21. ऋजुकरण (To strengthe
22. प्रक्षालन (Washing or irrigation)
23. प्रधमन (Insufflation)
24. प्रमार्जन (To sweep out the foreign bodies)

यन्त्रों के दोष :

यन्त्रो में 12 दोष हो सकते हैं, इसलिए यन्त्र बनाते समय इन दोषों को ध्यान में रखना चाहिये—

1. अतिस्थूल (Unduly heavy)
2. अतिदीर्घ (Unduly long)
3. असार (Made from soft material)
4. अतिह्रस्व (Too small)
5. विषमग्राही (Improper or irregular hold)
6. अग्राही (Which can not be holded)
7. वक्र (Unduly bent)
8. शिथिल (Loose grip)
9. अति उन्नत (Unduly expanded)
10. मृदुकील (Loose or soft fulcrum rivet)
11. मृदुमुख (If grip can't resist the force i.e. it bents on applying force)
12. मृदु पाश (If handle can not resist the force i.e., it bents on application of force.)

15
शस्त्र

(Sharp Instruments)

व्याख्या :

तेज धार के उपकरण (Instruments), जिनके द्वारा छेदन, भेदन, लेखनादि अष्टविध शस्त्रकर्म सम्भव हो सकें उन्हें शस्त्र (Sharp instruments) कहते हैं।

शस्त्र के गुण एवं दोष :

श्रेष्ठ (उपयोगी) शस्त्रों में निम्न छः गुण होने चाहिएं तथा वह आठ दोषों से रहित होने चाहिए।

गुण :

1. सुग्रहाणि (Good hold)
2. सुलोहानि (Good material)
3. सुधाराणि (Sharp cutting points)
4. सुरूपाणि (Good appearance)
5. सुमुख अग्राणि (Proper shape of the cutting points)
6. अकरालानि (Smooth cutting edge)

दोष :

1. वक्र (Uuduly bent)
2. कुण्ठ (Blunt)
3. खण्ड (Broken)
4. खरधार (Dentate cutting edge)
5. अतिस्थूल (Too heavy)
6. अतितुच्छ (Too light)
7. अति दीर्घ (Too long)
8. अतिह्रस्व (Too small)

गुण :

(1) सुग्रहाणि (Good hold)—शस्त्र का वृन्त (Handle rod) इस प्रकार का होना चाहिए ताकि शस्त्रकर्म करते समय उसे अच्छी प्रकार (Balanced hand) से पकड़ा जा सके।

(2) सुलोहानि (Good material)—शस्त्र अच्छी कठोर धातु से बने होने चाहिए, जैसे स्टेनलैस स्टील या किसी ऐसे ही अन्य मिश्रित धातु (Alloy) से बने हों ताकि शस्त्रकर्म करते समय उनके टूटने या मुड़ने का भय न रहे।

(3) सुधाराणि (Sharp cutting edge)—शस्त्रों की धारा कर्म के अनुसार अधिक तीक्ष्ण या सामान्य तीक्ष्ण होनी चाहिए जैसे—

(i) भेदन कर्म के शस्त्रों की धारा मसूर दाल के समान या छैनी (Chesel) के समान होनी चाहिए (अर्थात् दोनों ओर से घिस कर तीक्ष्ण की जानी चाहिए)।

(ii) लेखन कर्म के शस्त्रों की धारा अर्ध मसूर सदृश अर्थात् एक ओर से घिस कर तीक्ष्ण करनी चाहिए, जैसे ऑस्टियोटोम (Osteotome) होता है।

(iii) व्यधन कर्म के शस्त्रों (जैसे कुठारिका) की धारा बाल के समान पतली होनी चाहिए।

(iv) छेदन कर्म शस्त्रों की धारा (जैसे वृद्धि पत्र) अर्ध बाल के समान पतली तथा तीक्ष्ण होनी चाहिए।

(4) सुरूपाणि (Good appearance)—शस्त्र देखने में सुन्दर होना चाहिए।

(5) सुमुख अग्राणि (proper shape of the cutting part)—शस्त्र के फलक (Cutting part) का आकार कर्मानुसार छोटा, बड़ा, मोटा या तला तथा देखने में सुन्दर होना चाहिए।

(6) अकरालानि (Smooth Cutting edge)—करपत्र को छोड़कर अन्य शस्त्रों की धारा श्लक्ष्ण अर्थात् दन्त रहित (without dentation) होनी चाहिए।

दोष :

(1) वक्र (Unduly bent) :—अनावश्यक स्थान से मुड़ा हुआ शस्त्र।

(2) कुण्ठ (Blunt) :—कुण्ठित धार वाला शस्त्र।

(3) खण्ड (Broken) :—फलक या वृन्त से टूटा हुआ शस्त्र।

(4) खरधार (Dentate edge) :—फलक की धार जब दांतों से युक्त होती है (कर पत्र को छोड़कर)।

(5) अतिस्थूल (Too heavy) :—आवश्यकता से अधिक मोटा तथा अधिक भारी शस्त्र जिससे कर्म करने में असुविधा हो।

(6) अति तुच्छ (Too light)—बहुत ही हल्का (लघु) शस्त्र जैसे एल्यूमीनियम (aluminium) धातु से निर्मित शस्त्र। इनके द्वारा शस्त्र क्रिया सुचारू रूप से नहीं हो सकती।

(7) अति दीर्घ (Too long) :—आवश्यकता से अधिक लम्बा शस्त्र, इससे शस्त्र कर्म करते समय इसे आसानी से नियन्त्रित (Control) नहीं किया जा सकता।

(8) **अति ह्रस्व** (Too small)—अनावश्यक छोटे शस्त्र, इन्हें पकड़ने में कठिनाई होती है।

शस्त्र धार :

शस्त्रों की धार की तीक्ष्णता के लिए तीन प्रकार के संस्कार (Procedure) किए जाते हैं।

(1) पायना (Temper)

(2) निशातनी (Black stone)

(3) धार संस्थान (Stropping)

(1) **पायना** (Temper)—शस्त्र धार को अधिक कार्य कुशल बनाने के लिए पायना संस्कार किया जाता है। इस कर्म में शस्त्र धार को अग्नि में तप्त करके शस्त्रों के कार्य के अनुसार उन्हें निम्न विभिन्न द्रवों में बुझाया जाता है—

(i) **तैल पायना**—न अति कठिन न अति मृदु धातुओं (सिरा, स्नायु इत्यादि) का छेदन करने वाले शस्त्रों की अग्नि तप्त धारा को तिल तैल में बुझाया जाता है।

(ii) **क्षार पायना**—अस्थि विद्ध करने वाले (शर इत्यादि) तथा अस्थिछेदन करने वाले (करपत्रादि) शस्त्रों की धारा कठिन बनाने के लिए उनकी अग्नि तप्त धारा को क्षारोदक में बुझाया जाता है।

(iii) **उदक पायना**—कोमल धातु (मांसादि) का छेदन करने वाले शस्त्रों की धारा को पानी में बुझाया जाता है।

(2) **निशातनी**—पायना करने के पश्चात् शस्त्रों को तीक्ष्ण बनाने के लिए उन्हें उड़द के समान काले रंग की शिला (**Black stone**) के ऊपर घिसाकर तीक्ष्ण किया जाता है। शस्त्रों की धार को रोम छेदन योग्य (like a shaving blade) तीक्ष्ण करना चाहिए।

(3) **धारा संस्थापन**—शस्त्र के तीक्ष्ण होने के पश्चात् उसे श्लक्ष्ण (एक बराबर) बनाने के लिए उसे शाल्मली की लकड़ी पर घिसाया जाता है (चमड़े या किसी मोटे कपड़े पर घिसाकर भी शस्त्र की धारा को श्लक्ष्ण (Smooth) बनाया जा सकता है)।

शस्त्रकोष

शस्त्रों की तीक्ष्ण धार को कुण्ठित होने से बचाने के लिए 1×12 अंगुल का एक शस्त्रकोष (Instrument box) बनाया जाता है, इसके अन्दर क्षोम, दुकूल पत्र, कौशेय या मृदु चर्म लगा रहता है (आजकल के बने शस्त्रकोषों में शनील का कपड़ा लगा रहता है)। शस्त्रकोश को बन्द करने के लिए श्लाका या ताले (lock) का प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा कोष को उठाने पर वह अपने से खुल सकता है।

शस्त्रों की संख्या

सुश्रुत ने 20 प्रकार के शस्त्रों का वर्णन किया है तथा अष्टांग संग्रहकार ने इनकी संख्या 26 बताई है, ये निम्नलिखित हैं—

1. मण्डलाग्र (Circular knife),
2. वृद्धिपत्र (Scalpel),
3. करपत्र (Saw),
4. नखशस्त्र (Nail cutter),
5. मुद्रिका शस्त्र (Finger knife),
6. उत्पल पत्र (Lancet),
7. अर्धधार (Half edged knife),
8. सूची (Suturig needle),
9. कुशपत्र (Cataract knife),
10. आटीमुख (Curved scissors),
11. शरारीमुख (Pointed scissors),
12. अन्तर्मुख (Bistury),
13. त्रिकूर्चक
14. कुठारिका (Axe),
15. आरा
16. व्रीहिमुख (Trocar)
17. वेतसपत्र (Narrow blade knife)
18. बडिश (Sharp hook),
19. दन्त शंकु (Tooth pilk)
20. एषणी (Sharp probe),

अष्टांग संग्रहकार द्वारा माने गए अतिरिक्त शस्त्र—

21. सर्पमुख
22. लिंग नाश शलाका,
23. कूर्च,
24. खज,
25. कर्तरी,
26. कर्ण व्यधन शस्त्र।

(1) **मण्डलाग्र** (Circular knife)—भोज ने इस शस्त्र को क्षुराकार (Razor like) बताया है। इस शस्त्र का अग्र भाग मण्डलाकार (गोलाकार) अर्थात् तर्जनी अंगुली के अन्तः नख '⌒' के समान होता है।

कार्य—यह शस्त्र पोथकी (Trachoma), शुण्डिका (Tonsils), अधिजिह्विका, बढ़ा हुआ दन्त, व्रण एवं मांस के छेदन तथा लेखन कर्म के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यह मृत गर्भ को गर्भाशय में से काटकर निकालने के लिये भी प्रयोग होता है।

(2) **वृद्धिपत्र** (Scalpel)—वृद्धि पत्र क्षुराकार होता है तथा यह दो प्रकार का होता है—

(i) ऋजु (प्रायताग्र),

(ii) नताग्र (अञ्चिताग्र),

(i) **प्रायताग्र**—इस शस्त्र का फलक सीधा होता है। यह व्रणशोथ में भेदन कर्म के लिए प्रयोग होता है।

(ii) **नताग्र**—इसके फलक का अग्रभाग मुड़ा रहता है, इसके द्वारा गम्भीर धातुओं में स्थिर शोफ का भेदन किया जाता है।

(3) **करपत्र** (Saw)—यह दो अंगुल चौड़ा तथा 10 अंगुल लम्बा खरधार (Dentate edge) वाला शस्त्र है। शस्त्र की अच्छी पकड़ के लिए उसके त्वरु (Handle) पर अंगुलियों के लिए स्थान बनाए जाते हैं। आधुनिक चिकित्सा पद्धति में भी शल्य कर्म के लिए Butcher's saw, Adam's saw, Hey's saw, etc. **अनेक प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है।**

कार्य—इससे अस्थि का छेदन कर्म किया जाता है।

(4) **नख शस्त्र** (Nail cutter)—इसकी लम्बाई 8 अंगुल तथा फलक $\frac{1}{2}$ अंगुल का होता है।

(i) **वक्रधार**—वक्रधार नख शस्त्र का फलक अश्वकर्ण सदृश होता है।

(ii) **ऋजुधार**—इस नख शस्त्र में फलक का आकार वत्सदन्त के सदृश सीधा होता है। वाग्भट्टानुसार इसका फलक 2 अंगुल विस्तृत तथा 2 अंगुल लम्बा होता है।

कार्य—इसका प्रयोग मुख्यतः नख काटने के लिए होता है। इसके अतिरिक्त नख शस्त्र छेदन, भेदन, लेखन, प्रच्छान्न तथा सूक्ष्म शल्य को निकालने के लिए भी प्रयोग होता है।

(5) **मुद्रिका** (Finger knife)—इस शस्त्र में मुद्रिका के सदृश एक छल्ला लगा रहता है। छल्ले पर वृद्धिपत्र या मण्डलाग्र के समान एक फलक (Blade) लगा होता है। मुद्रिका शस्त्र को तर्जनी अंगुली के अग्रपर्व में पहनकर इसे सूत्र द्वारा मणिबन्ध से बांध देते हैं। **इसे मणिबन्ध से बांधने के कारण, शस्त्र कर्म करते समय** इस शस्त्र का अंगुली से निकलने का भय नहीं रहता।

कार्य—इसका प्रयोग कण्ठ गत रोगों में छेदन, भेदनादि कर्म करने के लिए किया जाता है।

(6) **उत्पल पत्र** (Lancet)—वह उत्पल पत्र के समान तीक्ष्ण धार वाला शस्त्र है। इसके फलक का परिणाम 3×1 अंगुल होता है।

कार्य—यह शस्त्र छेदन तथा भेदन कर्म के लिए प्रयोग होता है।

(7) **अर्धधार** (Half edged knife)—यह उत्पल पत्र के समान 8 अंगुल लम्बा तथा 2×1 अंगुल फलक वाला शस्त्र है।

(8) **सूची शस्त्र** (Suturing needle)—इसका प्रयोग सीवन कर्म के लिए किया जाता है। सूची निम्नलिखित तीन प्रकार की होती है—

(i) वृताङ्गुलद्वयम्।

TYPES OF SHARP INSTRUMENTS

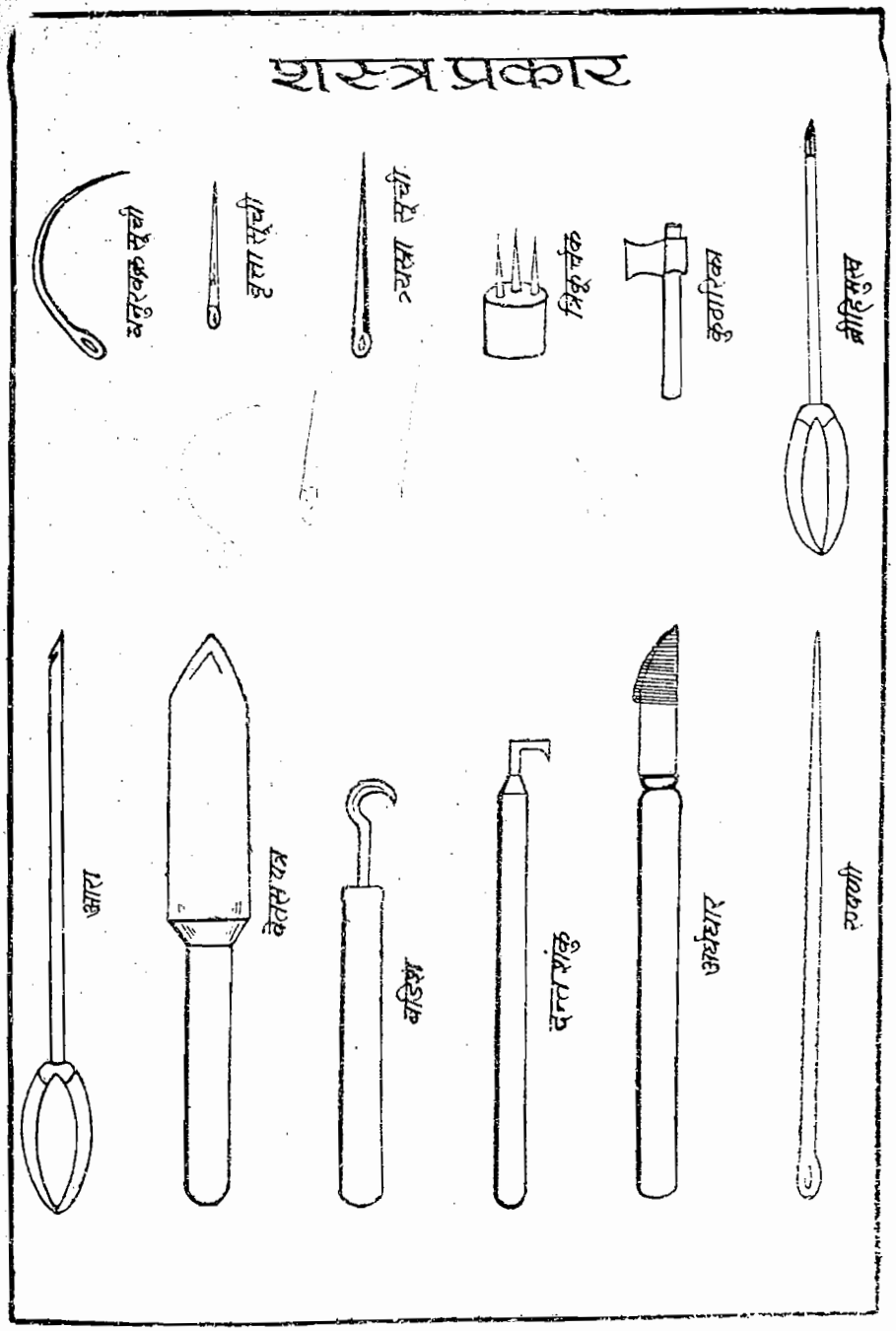

प्लेट नं० 5

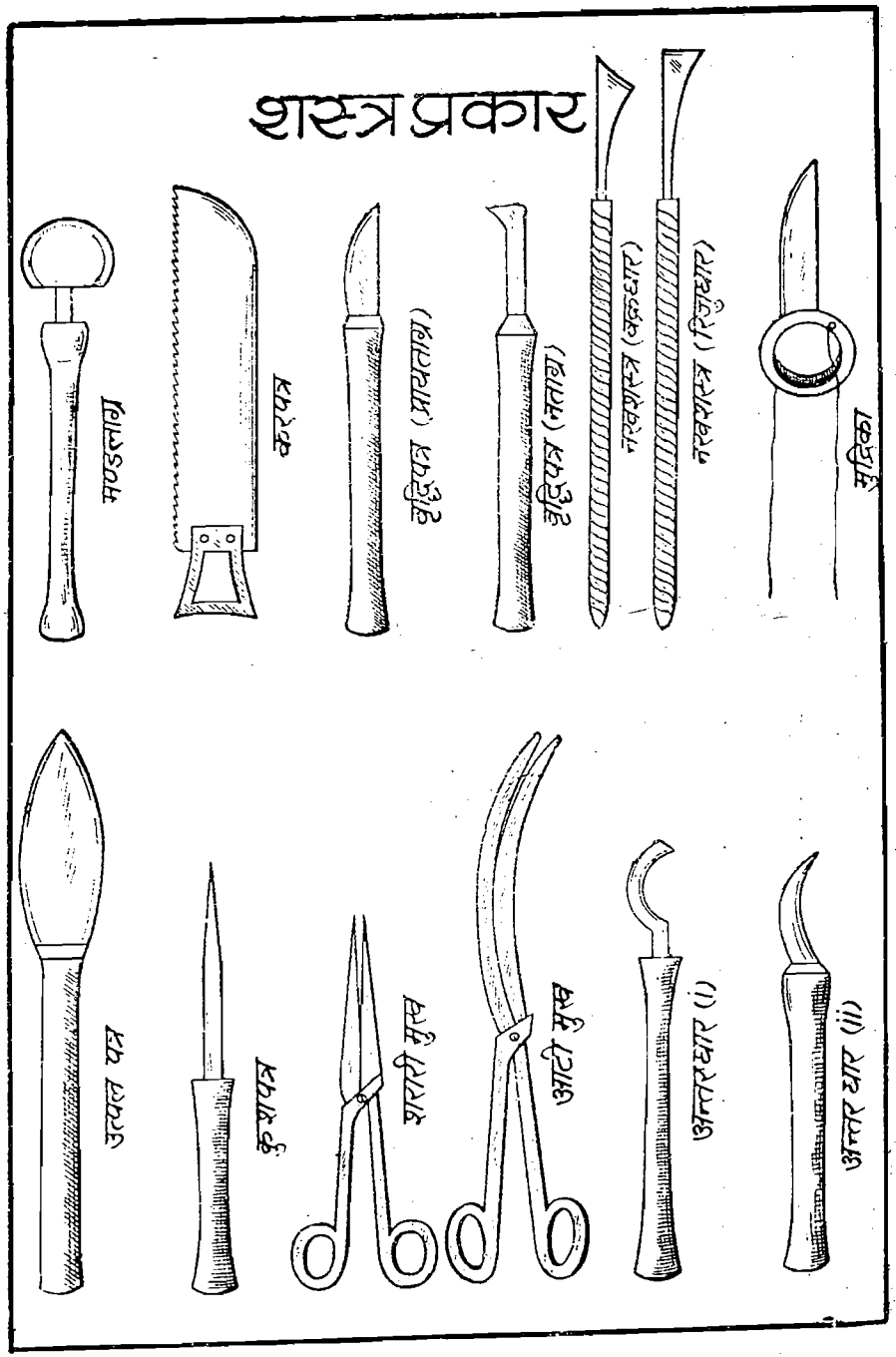

प्लेट नं० 6

(ii) **त्र्यङ्गुलातिस्रा** ।

(iii) **धनुर्वक्रा** ।

(i) **वृत्ता** (Round body needle)—यह 2 अंगुल लम्बी तथा कपड़े सिलने वाली सूची के सदृश अग्रभाग से गोल होती है ।

कार्य—अल्प मांस में (Soft tissues) और सन्धियों में इस सूची का प्रयोग किया जाता है । गोल (वृत्ता) सूची से सीवन कर्म करने पर ऊतियों में कम से कम आघात होता है ।

(ii) **तिस्रा** (Triangular)—इस सूची में तीन धारायें रहती हैं जिस कारण इसका कठिन धातुओं के सीवन कर्म के लिए प्रयोग किया जाता है । इसकी लम्बाई तीन अंगुल रहती है ।

कार्य—इसे मांसल तथा त्वचादि कठोर स्थानों के लिए प्रयोग करते हैं ।

(iii) **धनुर्वक्रा** (Curved)—यह धनुष सदृश वक्र होती है । इसका अग्रभाग तिस्रा के समान त्रिधार या वृत्ता के समान गोल हो सकता है ।

कार्य—मर्म स्थान, फलकोष तथा उदर में (गलित अंगों में या गम्भीर स्थानों में) धनुर्वक्रा सूची का प्रयोग करते हैं ।

(9) **कुशपत्र** (Like a cataract knife)—इसका फलक कुशपत्र के समान तीक्ष्ण एवं लम्बा होता है तथा वृत्त भाग 3 अंगुल का होता है ।

कार्य—इसे विस्रावण कर्म के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

(10) **आटीमुख** (Curved scissors)—इस शस्त्र की आकृति आटी पक्षी के मुख के समान होती है । इस शस्त्र का वृत्त 7 अंगुल का तथा फलक 8 अंगुल का होता है ।

कार्य—इसका प्रयोग रक्त विस्रावण के लिए किया जाता है ।

(11) **शरारीमुख** (Scissors)—इसका आकार लम्बी चोंच वाले शरारी पक्षी के मुख के समान होता है । डल्हण ने इसे कर्तरी कहा है । यह आगे से नोकीली तथा पीछे से क्रमशः विस्तृत होती जाती है । यह मध्य से एक कील से जुड़ी रहती है ।

(12) **अन्तर्मुख** (Bistury)—यह शस्त्र 6 अंगुल लम्बा तथा अन्दर को मुख किये (अर्धचन्द्राकार) रहता है ।

कार्य—इस शस्त्र का प्रयोग रक्त विस्रावण के लिए किया जाता है ।

(13) **त्रिकूर्चक**—इस शस्त्र की पीठ पर ब्रुश (Brush) समान (व्रीहि धान्य

जितने अन्तर पर) अन्दर की ओर को मुख किए हुए तीन शस्त्र लगे रहते हैं। वाग्भट्ट ने इसे 7-8 शस्त्रों से युक्त बताया है।

कार्य—सुश्रुत ने विस्रावण कर्म के लिए त्रिकूर्चक को प्रयोग करने को कहा है तथा वाग्भट्ट ने इसके द्वारा कुट्टन कर्म के लिए तथा अर्श के लिए प्रयोग करने को कहा है।

(14) **कुठारिका** (Axe) इस शस्त्र का वृंत 5½ अंगुल तथा फलक ¾ अंगुल होता है। इसका आकार गोदन्त के समान होता है।

कार्य—कुठारिका का प्रयोग व्यधन कर्म के लिए या सिरावेध के लिए किया जाता है।

(15) **व्रीहिमुख** (Trocar)—इसका अग्रभाग व्रीहिधान्य सदृश होता है। भोज ने इसके वृंत की लम्बाई 2 अंगुल तथा फलक की लम्बाई 4 अंगुल बताई है।

कार्य—यह शस्त्र सिरावेध, जलोदर तथा मूत्रवृद्धि में वेधन कर्म करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

(16) **आरा शस्त्र** (Owl)—यह 8 अंगुल लम्बा शस्त्र है, (चर्मकार के चमड़े की सिलाई करने वाला शस्त्र)। इस शस्त्र का ¼ अंगुल का अग्र भाग गोल तथा पीछे का वृंत भाग गो-पुच्छ के समान (पकड़ने के लिए) चौड़ा होता है।

कार्य—यह शस्त्र कर्णपाली के वेध के लिए प्रयोग होता है। वाग्भट्ट ने इसके द्वारा पक्वशोथ का विनिश्चय करने को कहा है [जैसे बायोप्सी (Punch biopsy) की जाती है] "विध्येच्छोफंपक्वामसंशये"

(17) **वेतस पत्र** (Narrow blade knife)—भोजानुसार इसका अग्र भाग एक अंगुल विस्तृत तथा 4 अंगुल लम्बा होता है (वाग्भट्ट कौमुदी अनुसार यह दन्त-धार शस्त्र है)।

कार्य—यह शस्त्र वेधन कर्म के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

(18) **बडिश शस्त्र** (Sharp hook)—इसका मुख तीक्ष्ण अंकुश के समान मुड़ा होता है। इसका वृंत 5½ अंगुल तथा अग्रभाग ½ अंगुल परिमाण का होता है। यह शस्त्र दो प्रकार का होता है।

(i) स्वनत (Full curved)—यह अधिक वक्र होता है।
(ii) नात्यानत (Half curved)—यह कम वक्र होता है।

कार्य—इस शस्त्र का प्रयोग शुण्डिका तथा अर्माधि व्याधियों को पकड़ने के लिए होता है।

(19) **दन्त शंकु** (Tooth pilk or tooth scaler)—इसके वृंत की लम्बाई 6 अंगुल तथा फलक सम, तीक्ष्ण, चकोर, शंकु के समान मुड़ा हुआ एवं लम्बाई में ½ अंगुल का होता है।

कार्य—इसका प्रयोग दंत शर्करा हटाने के लिए होता है।

(20) **एषणी** (Sharp probe)—इसकी लम्बाई 8 अंगुल होती है तथा इसके पीछे सूत्र के लिए एक पाश (Eye) बना रहता है। इसका अग्र भाग तीक्ष्ण रहता है, परन्तु यन्त्रों में वर्णित एषणी का अग्र भाग कुण्ठित (Non cutting) होता है।

वाग्भट्टानुसार अन्य शस्त्र :

(21) **सर्पमुख**—यह आकार में सर्पफण के समान होता है। यह तीक्ष्ण, ½ अंगुल फल वाला शस्त्र, कर्ण एवं नासा के अर्श और अर्बुद का छेदन करने के लिए प्रयुक्त होता है।

(22) **लिंगनाश शलाका (ताम्रमयी द्विमुखी शलाका)**—यह दो मुख वाली कुरुबक सदृश तीक्ष्ण शलाका होती है।

कार्य—इनके द्वारा लिंगनाश में वेधन कर्म किया जाता है।

(23) **कूर्च**—त्रिकूर्च के समान इससे 7-8 शलाकाकार शस्त्र लगे रहते हैं।

कार्य—इसका उपयोग अर्श में किया जाता है।

(24) **खज**—कण्टकों वाला खज कूर्च के समान होता है। इसका प्रयोग कूर्च सदृश किया जाता है।

(25) **कर्तरी**—यह शरारीमुख के समान तीक्ष्ण अग्रभाग वाली तथा मध्य से जुड़ी हुई होती है।

कार्य—इसका प्रयोग छेदन कर्म के लिए किया जाता है।

(26) **कर्ण व्यधन शस्त्र**—यह तीन अंगुल लम्बी सूची, यूथिका (जाति) की कलि के आकार की होती है एवं सुषिर होता है।

कार्य—इसका प्रयोग कर्ण वेधन के लिए होता है।

शस्त्रों को पकड़ने का ढंग :

(1) भेदन कर्म करते समय शस्त्रों (वृद्धिपत्रादि) को वृंत एवं फलक के संयोग स्थल से पकड़ना चाहिए।

(2) लेखन कर्म करते समय शस्त्र (वृद्धि पत्र या मण्डलाग्र) को ऊंचे हाथ से पकड़कर चलाएं ताकि शस्त्र संतुलन में रहे।

(3) विस्रावण करते समय शस्त्र को अग्रभाग से पकड़ना चाहिए।

(4) वृद्धिपत्र को अंगूठे तथा तर्जनी से इस ढंग से पकड़ें ताकि इसका वृंत भाग हथेली में छिप जाए।

(5) **कुठारिका**—इसे बायें हाथ से पकड़ कर, दक्षिण हाथ की बीच की अंगुली तथा अंगूठे का सहारा देकर, उसके ऊपर हल्का सा आघात करना चाहिए।

(6) **करपत्र, आरा और एषणी**—इन्हें मूल से पकड़ना चाहिए।

(7) **अन्य शस्त्र**—उपरोक्त शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य शस्त्रों को ऐसी विधि से पकड़ना चाहिए जिससे कि शस्त्र कर्म ठीक ढंग से हो सके।

शस्त्रों के कार्य :

(1) **छेदन तथा भेदन कर्म के लिए**—वृद्धिपत्र नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र अर्धधार।

(2) **छेदन तथा लेखन के लिए**—मण्डलाग्र, करपत्र।

(3) **विस्रावण के लिए**—सूची, कुशपत्र, आटीमुख, शरारीमुख, त्रिकूर्चक, अन्तर्मुख।

(4) **वेधन के लिए**—कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा, वेतसपत्र, सूची।

(5) **आहरण के लिए**—बडिश, दंतशंकु।

(6) **एषण (अनुलोमन) के लिए**—एषणी।

(7) **सीवन कर्म के लिए**—सूची।

शस्त्रों का परिमाण :

(1) 2 से 3 अंगुल—सूची शस्त्र।
(2) 8 अंगुल—एषणी शस्त्र।
(3) तर्जनी के पर्व के समान—मुद्रिका शस्त्र।
(4) 10 अंगुल—शरारीमुख।
(5) 6 अंगुल—अन्य शस्त्र।
(6) शस्त्र फलक—यह शस्त्र की लम्बाई का $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ भाग होना चाहिए।

अनुशस्त्र—जो स्वयं शस्त्र न होते हुए भी शस्त्रों का कार्य करने के सामर्थ हो, उन्हें अनुशस्त्र कहते हैं। अनुशस्त्रों का प्रयोग शस्त्रों के अभाव में किया जाता है या शस्त्र कर्म से डरने वाले (भीरू) रोगियों के लिए किया जाता है।

संख्या—अनुशस्त्र 14 प्रकार के होते हैं जैसे—

1. वांस
2. स्फटिक
3. कान्च
4. कुरुविन्द

5. जलौका
6. अग्नि
7. क्षार
8. नख
9. गोजिह्वा
10. शेफाली पत्र
11. शाकपत्र
12. शरीर
13. बाल
14. अंगुली

वाग्भट्ट ने समुद्र फेन, सूखा गोबर, सूर्यकांत (Convergence lens) को भी अनुशस्त्र कहा है।

कार्य :—

(1) **छेदन तथा भेदन कर्म के लिए**—त्वक्सार (बांस), कान्च, कुरुविन्द तथा स्फटिका।

(2) **लेखन कर्म के लिए**—गोजी, शेफाली, शाकपत्र, समुद्र फेन तथा गोबर।

(3) **एषण कर्म के लिये**—बाल, अंगुली तथा अंकुर।

(4) **छेदन, भेदन तथा आहरण कर्म के लिये** [जैसे कांटे का]—नख।

———

16

योग्या (शल्य कर्माभ्यास)

(OPERATIVE SURGERY)

शल्य क्रिया में प्रयोग किए जाने वाले यन्त्र, शस्त्र तथा बन्धनादि कर्मों (भेदनादि अष्टविध कर्म तथा बन्धन कर्म) के प्रायोगिक ज्ञान के लिये विभिन्न द्रव्यों (उन कर्मों की समानता के अनुसार वस्तुओं) में, उनका कर्माभ्यास करना ही योग्या (Operative surgery) कहलाता है। जैसे रथ चलने के लिये उसके दोनों पहियों का होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार अच्छी तरह से शास्त्र को पढ़ लेने पर भी योग्य चिकित्सक बनने के लिए कर्माभ्यास (योग्या) अति आवश्यक होता है। कर्माभ्यास की विशेषता दिखाते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि गुरुमुख से शास्त्र को ग्रहण करने के उपरांत जो व्यक्ति उसका कर्माभ्यास करता है वह ही वैद्य होता है तथा अन्य सब चोर (Quack) होते हैं।

शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णमादायोपास्य चासकृत्।
यः कर्म कुरुते वैद्यः सवैद्योऽन्ये तु तस्कराः॥ सु० सू० 4

"यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने॥

आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा॥ सु० सू० 3

जिस प्रकार दो पहियों वाला रथ ही कर्म करने में (चलने में) समर्थ होता है, उसी प्रकार शास्त्र एवं कर्म (शस्त्रकर्म) को जानने वाला अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान वाला चिकित्सक ही आरोग्य देने में सामर्थ होता है। इसलिये कर्म का ज्ञान योग्या द्वारा प्राप्त करना अति आवश्यक होता है।

(1) **छेदन** (Excision)—छेदन कर्म का अभ्यास ऐसे फलों या सब्जियों पर करना चाहिए जिनका मध्य भाग खोखला (कोटरयुक्त) हो। इससे शस्त्र चलाते समय हाथ को विभिन्न प्रकार के प्रतिरोध (Resistence) का अनुभव हो जाता है। इससे हाथ को सन्तुलित क्रिया करने (Balanced hand) का भी अभ्यास हो जाता है। कूष्माण्ड, अलाबू (लौकी), तरबूज, खीरा, ककड़ी इत्यादि फलों पर अपकर्तन (ऊपर से नीचे को काटने) तथा उत्कर्तन (नीचे से ऊपर को काटने) का अभ्यास करना चाहिए।

(2) **भेदन** (Incision)—चमड़े के बनाए हुए थैले, मशक तथा मृत पशुओं की वस्ति में कीचड़ भर कर, भेदन कर्म का अभ्यास करना चाहिए। इस कर्म द्वारा

हाथ को शस्त्र चलाने में कितने प्रतिरोध का अनुभव होता है, इसका ज्ञान हो जाता है। इससे चिकित्सक पक्व व्रण-शोफ में सम्यक् भेदन कर्म करने के योग्य हो जाता है। इस योग्या के पश्चात् वह न तो शस्त्र अति दूर तक चलाता है (Counter incision of the cavity) तथा न ही शस्त्र अति उत्तान (Superficial) चलाता है जिससे कि वह पूय कोटर तक भी न पहुंच पाए।

(3) **लेखन** (Scraping)—इस कर्म का अभ्यास लोम युक्त चर्म को फैलाकर, उसके बालों का लेखन कर्म करके करना चाहिये। इससे शस्त्र फलक को एक विशेष कोण बनाकर चलाने का अनुभव हो जाता है, जैसा कि दाड़ी-मूंछ बनाते समय क्षुर (Blade) को एक विशेष कोण में चलाया जाता है।

(4) **वेधन** (Puncturing or tapping)—इस कर्म का अभ्यास मृत पशुओं की सिराओं में से या विवरयुक्त कमल नाल में करना चाहिए। इससे शस्त्र को कितनी शक्ति से दबाना चाहिये, इसका ठीक-ठीक अनुभव हो जाता है। इस क्रिया में अभ्यास होने पर चिकित्सक प्रमादवश शिराओं का कम, अधिक या आर-पार वेधन (Counter puncturing) नहीं करता।

(5) **एषण** (Probing)—इस कर्म के लिए घुण (दीमक) से खाई हुई लकड़ी (विवरयुक्त लकड़ी), बांस या शुष्क लौकी जैसी वस्तुओं पर एषण कर्म का अभ्यास करना चाहिये। इस कर्म से एषणी को कम अवरोध (Least resistance) की दिशा में ले जाने का अनुभव हो जाता है, तथा भीतर किस आकार के तथा कितनी संख्या में शल्य पड़े हुए हैं या पूय कोटर का कितना विस्तार है इत्यादि का भी ज्ञान हो जाता है।

(6) **आहरण** (Extraction)—इस कर्म का अभ्यास मृत पशुओं के दन्त आहरण करके करना चाहिये। इस कर्म से, किस दिशा में शक्ति का प्रयोग करना है (जिससे कि अन्य स्थानीय धातुओं की कम से कम क्षति हो), इसका ज्ञान हो जाता है। बिल्व की मज्जा से तथा कटफल के बीजों के आहरण के अभ्यास से, श्लक्ष्ण धातुओं में से अश्मरी तथा अन्य छोटी-छोटी शल्य कितनी कठिनाई से निकलते हैं (यन्त्र द्वारा निकाले जाते हैं) इसका अनुभव हो जाता है।

(7) **विस्रावण** (Blood letting)—विस्रावण का अभ्यास मधुमक्खियों के छत्ते से मधु का विस्रावण करके करें; तथा सिम्बल वृक्ष के तख्ते पर मोम लगाकर फिर उस पर शस्त्र चलाकर, विस्रावण कर्म में दक्षता प्राप्त करनी चाहिये।

(8) **सीवन** (Suturing)—वेल्लितक (Continuous), गोफणिका (Blanket suture), तुन्नसेवनी (Subcuticular) तथा ऋजुग्रन्थि (Interrupted) सीवन कर्म का अभ्यास विभिन्न प्रकार की सूचियों द्वारा [वृत्ता (Round body), तिस्रा (Triangular) तथा धनुर्वक्रा (Curved)] मृत पशुओं की खाल की

सिलाई करके करना चाहिये। इस कर्म से न अति दूर व न अति समीप सीवन कर्म करने का तथा शीघ्रता से सीवन करने का अभ्यास हो जाता है।

(9) **बन्धन** (Bandaging)—बन्धन कर्म के योग्या (अभ्यास) के लिये मिट्टी की पुरुष प्रतिमा(Dummy) बनाकर फिर उसके अंग प्रत्यंगों पर बन्धन कर्म करना चाहिये, जैसे स्वस्तिक बन्धन को सन्धियों पर तथा अनुवेल्लितक बन्धन को भुजाओं इत्यादि पर बांध कर करते हैं।

(10) **कर्णबन्ध** (Earplasty)—कर्ण जैसे कोमल अंगों के शल्य कर्मों में दक्षता प्राप्त करने के लिये पहले मृत पशुओं की कोमल त्वचा, मांसपेशी तथा कमल-नाल में कर्णबन्ध का अभ्यास करें, फिर कर्म का पूर्ण अभ्यास होने पर ही रोगियों में यह कर्म करना चाहिये।

(11) **पीड़न** (Squeezing)–इस कर्म के लिये वस्ति में कीचड़ भर कर उस में छिद्र कर दें, फिर उसे दबाकर उसमें से पूरे कीचड़ को बाहर निकालकर पीड़न कर्म का अभ्यास करना चाहिये। पूय को बाहर निकालने के लिये पूय कोटर का किस-किस दिशा में पीड़न करना चाहिये, इसका ज्ञान पीड़न कर्म के योग्या करने से हो जाता है।

अष्टविध शल्य कर्मों एवं अन्य शल्य विषयों का अच्छी प्रकार से कर्माभ्यास कर लेने से ही शल्य चिकित्सक गुणवान् बन सकता है। यह चिकित्सक शौर्यवान, आशुक्रियाकारी, तीक्ष्ण शस्त्रों से युक्त होता है तथा शल्य कर्म के समय इसे पसीना (स्वेदन) नहीं आता तथा न ही वह कांपता है और न संमूढ (विभ्रमित) होता है।

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथू।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते॥ सु० सू० 5

17
विशिखानुप्रवेश

(ENTERANCE IN MEDICAL PRACTICE)

चिकित्सा कार्य शुरू करने से पहले चिकित्सक के लिये शास्त्र की जानकारी (Theoretical knowledge) प्राप्त करना तथा इसके पश्चात् उसका क्रियाभ्यास (Practical training) करना अति आवश्यक होता है। मृत शरीर का शोधन करके (After making it flt for dissection) शल्य चिकित्सक को शव के सब अंगों को अच्छी प्रकार से देखना (विनिश्चय करना) चाहिये। शास्त्र ज्ञान ये तथा अंग-प्रत्यंगों को प्रत्यक्ष करने से ज्ञान में अधिक वृद्धि होती है।

तस्माच्चिःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः॥
प्रत्यक्षतोहि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञान विवर्धनम्॥ सु० शा० 5

चिकित्सक को स्वच्छ एवं श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए तथा उसे अन्य सब सामग्री से युक्त (Including arms for personal safety, while on visits) होना चाहिये, इतना ही नहीं उसे अपने व्यवहार में भी कुशल (Well behaved) होना चाहिये एवं उसे अपने सहायकों (Assistants) को साथ रखना चाहिये। वैद्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि (To become a good reputed medical practitionor) को प्राप्त करने के लिये निम्न नियमों का पालन करना चाहिये।

नियम :—

(1) **अधिगत तंत्र** (A good study of literature)—अच्छा चिकित्सक बनने के लिये सर्वप्रथम चिकित्सा शास्त्र को ध्यान से पढ़ना चाहिये तथा गुरुमुख से उसका उपदेश सुनना चाहिये।

(2) **उपासित तन्त्रार्थ** (One should be well versed with the meaning and principles of the literature)–केवल मात्रशास्त्र का पढ़ना या सुनना ही पर्याप्त नहीं होता; उसके गुप्त एवं निश्चित् अर्थ तथा सिद्धान्तों को जानना भी आवश्यक होता है।

(3) **दृष्ट कर्मणा कृतयोग्या** (Regarding practical training)---शास्त्र के ज्ञान के पश्चात् शल्य कर्मों का कर्माभ्यास करना विज्ञान में क्रियात्मकता लाने के लिये अति आवश्यक होता है। इसके लिए सर्वप्रथम शल्य कर्म को अन्य निपुण शल्य चिकित्सकों द्वारा करते हुए देखना चाहिए, फिर शल्य कर्म में प्रयुक्त होने वाले अनेक कर्मों का अभ्यास, उन कर्मों के अनुसार फलों या मृत पशुओं (Dummies) पर अपने से करना चाहिये। इस तरह से शल्य कर्म में दक्षता प्राप्त कर लेने के पश्चात् रोगी पर इन कर्मों को करना चाहिये।

(4) **शास्त्र विज्ञाता** (Research worker)—चिकित्सा कर्मों में निपुण होने के साथ-साथ चिकित्सा शास्त्र को आगे बढ़ाने (Research projects) में भी प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि जिस विज्ञान में प्रगति रुक जाती है वह विज्ञान अवनति के पथ पर चला जाता है।

(5) **राजानुज्ञा प्राप्ति** (Recognition by authority)—उपरोक्त विशेषतायें होने पर चिकित्सक को राजा या अन्य वरिष्ठ अधिकारियों से मान्यता भी प्राप्त होनी चाहिये जैसे आजकल रजिस्ट्रेशन (Registration) होता है।

(6) **शुचि शुक्लवस्त्र परिहितेन** (Perfect personal hygiene)—चिकित्सक को अपने नख कटवाकर, बालों को छोटा करवाकर, श्वेत वस्त्र तथा पैरों में जूते इत्यादि पहनकर रखने चाहियें तथा अन्य स्वस्थवृत्त के नियमों पर भी चिकित्सक को पूर्ण ध्यान देना चाहिये।

(7) **छत्रवता दण्डहस्तेन** (He should be armed for his safety) :—चिकित्सक को प्रायः रोगियों के घर जाना पड़ता है अतः आत्म रक्षा के लिये उसे अपने पास कोई शस्त्र या दण्डादि हमेशा रखना चाहिये और वर्षा एवं ग्रीष्म ऋतु में या मेघाच्छादित होने पर छाता भी साथ में रखना चाहिये।

(8) **सुमना कल्याण व्यवहारी बन्धु भूतेन** (He should be calm and gentle in his behaviour)—चिकित्सक को शांत मन वाला (Least irritating) होना चाहिये। उसका रोगियों से अच्छा व्यवहार होना चाहिये तथा उसे आतुर को अपने प्रियजनों या पुत्र के समान मानकर चिकित्सा करनी चाहिये।

(9) **सुसहायवता** (A gentle assistant)—चिकित्सक को हमेशा अपने साथ अच्छे एवं कर्म में दक्ष सहायकों को रखना चाहिये ताकि शल्य क्रिया करते हुए उसे आवश्यक सहायता (Good assistance) मिल सके।

दोष :—

चिकित्सक के उपरोक्त विधि से **विशिखानुप्रवेश** न करने से उसमें निम्न दोष आ जाते हैं—

(1) **दुराख्यात** :—यह दोष शास्त्र का अच्छी प्रकार से ज्ञान न होने से होता है।

(2) **मिथ्यादृष्टा** :—यह दोष शल्य कर्म को ठीक प्रकार से न देखे रहने के कारण होता है।

(3) **दुष्टपरिमृष्टा** :—चिकित्सा अर्थात् शल्य कर्म के पूर्व यदि अच्छी प्रकार से विचार न किया गया हो तो चिकित्सक रोगी को देखकर मोहित (Puzzle) हो जाता है। उपरोक्त दोषों के कारण कर्म ठीक प्रकार से न होने से चिकित्सक को धर्म, अर्थ, मोक्षादि फल प्राप्त नहीं होते।

शल्य चिकित्सक के गुण--

(1) **मेधावी** :—अच्छी बुद्धि वाला।

(2) **कृतयोग्य** :—जिसने कर्माभ्यास (Operative surgery) भी अच्छी प्रकार से किया हो।

(3) **बहुश्रुत** :—जिसने चिकित्साशास्त्र की अन्य प्रणालियों (Other systems of medicine) को अच्छी प्रकार से जान लिया हो।

(4) **शास्त्रज्ञ** :—जिसने शास्त्र (Literature) को समझकर पूरा अध्ययन किया हो।

(5) **कर्म निष्णात्** :—जिसने अपने कार्य में पूर्ण कुशलता प्राप्त की हो।

(6) **शौर्यवान्** :—चिकित्सक को भीरू नहीं होना चाहिये (शौर्ययुक्त होना चाहिये)।

(7) **आशुक्रिया** (Fast surgeon) :—चिकित्सक को अति शीघ्र शल्य क्रिया करने में अभ्यस्त होना चाहिये।

(8) **उपकरणयुक्त** :—चिकित्सक के सब आवश्यक उपकरण (Armamentarium) उनके पास रहने चाहियें।

(9) **अस्वेद** :—उसे शल्य कर्म करते हुए घबराकर पसीना नहीं आना चाहिये।

(10) **अवेपथु** :—शल्य कर्म करते हुये उसके हाथ कांपने नहीं चाहिये।

(11) **मोहरहित** :—रोगी की गम्भीर अवस्था को देखकर चिकित्सक को मोहित नहीं होना चाहिये।

चिकित्सा में ख्याति प्राप्त करने के नियम
(Principles to achieve good reputation) :—

(1) पर स्त्रियों के साथ हंसी मजाक (Loose talk or jokes) नहीं करने चाहियें तथा न ही उनसे कोई अनावश्यक उपहारादि वस्तुयें ग्रहण करनी चाहियें [No undue gratification is to be accepted], ऐसा करने से चिकित्सक के चरित्र पर धब्बा नहीं लग सकता।

(2) जब रोगी को देखने जाना हो (During visits) तो शकुनों का ध्यान रखना चाहिये। सुगन्धित तथा अनुकूल वायु, मार्ग में भरे हुए घड़ों का मिलना इत्यादि शुभ शकुन होने पर ही चिकित्सा कर्म में सफलता मिलती है, अन्यथा रोगी की स्थिति पर पुनः विचार कर लेना चाहिए कि कहीं चिकित्सा से अपयश तो नहीं मिलने वाला है।

(3) रोगी के पास जाकर पहले स्पर्शन दर्शनादि ज्ञानेन्द्रियों से परीक्षा (Examination) करनी चाहिये।

उपरोक्त परीक्षा कर लेने पर रोगी वृत्त (History taking) पूछना चाहिये तथा व्याधि का निश्चय हो जाने पर ही चिकित्सा करनी चाहिये। चिकित्सक को अपनी ख्याति (Reputation) बनाये रखने के लिये निम्न विषयों पर भी ध्यान देना चाहिए—

(i) साध्य रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। परन्तु राजा, राजसेवक, स्त्री, बालक, वृद्ध, दुर्बल, क्रोधी, अनाथ, अजितेन्द्रिय, व्याधि छुपाने वाला तथा वैद्य का तिरस्कार करने वाले रोगियों के साध्य रोग भी कृच्छ्र साध्य होते हैं, इसलिये ऐसे रोगियों की चिकित्सा विचार करके ही प्रारम्भ करनी चाहिये।

(ii) याप्य रोगों को बढ़ने नहीं देना चाहिये।

(iii) असाध्य तथा एक वर्ष पुराने रोगियों को छोड़ देना चाहिये या फिर उसे व्याधि के सम्भावित परिणाम (Consequences) बताकर चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये।

18
संज्ञानाश
(Anaesthesia)

संज्ञानाश का प्रयोग शल्य कर्म से उत्पन्न वेदना को हरने के लिए किया जाता है।

प्राक् शस्त्रकर्मणां श्रेष्ठं भोजयेदन्नमातुरम्।
पानं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाक्षमः।
न मूर्च्छत्यन्न संयोगान्मतः शस्त्रं न बुध्यते॥

अर्थात् मद्यपान करने वाले रोगी को तीक्ष्ण मद्य पिलाकर शस्त्र कर्म करने पर उसे वेदना की अनुभूति नहीं होती। शल्य कर्म के पूर्व भोजन करा देने से रोगी मूर्च्छित नहीं होता। प्राचीन काल में शल्य कर्म जन्य वेदना हरने के लिए तीक्ष्ण मद्य ही एकमात्र औषधि प्रयोग की जाती थी। परन्तु आजकल अनेक तरह की संज्ञानाशक औषधियों के आविष्कार हो जाने से बड़े-बड़े शल्यकर्म भी बेदना रहित सम्पन्न किए जाते हैं।

व्याख्या—सब प्रकार की उत्तेजनाओं की ग्रहण शक्ति के अभाव को ही संज्ञानाश (Anaesthesia) कहते हैं।

संज्ञानाश दो प्रकार का होता है।

I. सार्वदैहिक संज्ञानाश (General anaesthesia)

II. स्थानीय संज्ञानाश (Local anaesthesia)

I. सार्वदैहिक संज्ञानाश :

जब सम्पूर्ण शरीर की ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के कार्य के साथ-साथ चेतना शक्ति का भी नाश हो जाए, परन्तु हृदयादि अङ्गों की अनैच्छिक क्रियाएं चलती रहें, तो इस अवस्था को सार्वदैहिक संज्ञानाश कहते हैं।

सार्वदैहिक संज्ञानाश औषधियां मस्तिष्क तथा सुषुम्ना केन्द्रों को अवसादित (Depress) करके अस्थाई अचेतनता (Unconsciousness), ऐच्छिक तथा प्रत्यावर्तित क्रियाओं का नाश करके (Loss of voluntary actions and reflex

actions) रोगी को निश्चेष्ट कर देती हैं। सार्वदैहिक संज्ञानाश में पहले चेतना का नाश (Unconsciousness) होता है, फिर संवेदना का नाश (Sensory loss), इसके पश्चात् चेष्टानाश (Motor loss) और अन्त में सुषुम्ना केन्द्रों के प्रभावित होने से श्वास घात (Respiratory failure) तथा केशिकाओं के विस्तार से स्तब्धता उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है।

सार्वदैहिक संज्ञानाश की अवस्थायें :

सार्वदैहिक संज्ञाहरण औषधियों के प्रभाव से संवेदना तथा चेष्टावह नाड़ियों की क्रिया शक्ति का नाश, ऊपर बताए विशेष क्रम से होता है। इस क्रम को चार भागों में बांट कर संज्ञानाश की चार अवस्थाएं बनाई गई हैं। इन चारों अवस्थाओं का प्रत्यक्षीकरण केवल ईथर तथा क्लोरोफार्म (Ether and chloroform) के प्रयोग करने से होता है। शीघ्र क्रिया करने वाली अन्य संज्ञाहरण औषधियाँ, जैसे नाइट्रस ऑक्साइड (N_2O) इत्यादि से संज्ञानाश का परिवर्तन क्रम इतना तीव्र होता है कि संज्ञानाश की सब अवस्थाएं प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती। एट्रोपीन (Atropine जैसी कुछ औषधियाँ जिन्हें पूर्व-औषध-प्रयोग (Premedication) के लिये दिया जाता है, वे भी संज्ञानाश की अवस्थाओं के चिन्हों में सुधार (Modify) कर देती हैं, इससे इन अवस्थाओं को पहचानने में थोड़ी कठिनाई होती है [एट्रोपीन से आँख का तारामण्डल (Pupil) विस्फारित हो जाता है तथा फिर संज्ञानाश की विभिन्न अवस्थाओं में तारामण्डल के परिमाण में कोई अन्तर नहीं आता है]।

प्रथमावस्था— इसे वेदना हर अवस्था (Stage of analgesia) भी कहते हैं। इस अवस्था में विभ्रम [(Hallucination) जैसे कानों में आवाजों का आना, आंखों में रोशनी दिखलाई देना, तथा उष्णता का अनुभव होना इत्यादि] होता है। इस अवस्था में रोगी को हल्की सी चेतना रहती है जिस कारण वह प्रश्नों के उत्तर ठीक से नहीं दे पाता। वेदना तथा ज्ञानेन्द्रियों की अनुभूति कम हो जाती है, परन्तु रोगी थोड़ा उत्तेजित रहता है, इस कारण लालास्राव (Saliva) तथा अन्य ग्रन्थियों के निस्राव (Secretions) बढ़ जाते हैं। आंख का तारामण्डल विस्फारित हो जाता है। श्वास की गति अनियमित हो जाती है तथा थोड़ी सी बढ़ जाती है। चेहरा (Face) लाल हो जाता है तथा रक्तभार थोड़ा बढ़ जाता है।

द्वितीयावस्था—यह अवस्था चेतना नाश से प्रारम्भ होती है। बच्चों में इस अवस्था की तीव्रता के कारण उनमें इसका आभास नहीं हो पाता। रोगी आत्म-नियन्त्रण (Self control) खो देता है जिससे वह अपनी प्रकृति के अनुसार चिल्लाता, हंसता, रोता व हाथ पांव पटकता है (परन्तु इसका रोगी को ज्ञान नहीं होता) इसलिए इसे प्रलाप अवस्था (Stage of delirium) कहते हैं। इस अवस्था में नाड़ी गति में तीव्रता तथा वह पूर्ण परिमाण (Full volume) में होती है।

सार्वदैहिक संज्ञानाश की अवस्थायें एवं उपअवस्थाओं की तालिका

संज्ञानाश की अवस्थायें	I संवेदनाहरण अवस्था	II प्रलाप अवस्था	III शल्य कर्म की अवस्था						IV सुषुम्णा घातावस्था
			i	ii	iii			vi	
श्वास गति	सामान्य	विषम	नियमित एवं गम्भीर	नियमित एवं गम्भीर	वक्षीय गति क्षीण, उदरयीय गति गम्भीर				अनुपस्थि
नाड़ी गति	अधिक	अधिक	सामान्य	सामान्य	तीव्र			तीव्र एवं क्षीण	न्यूनतम
रक्त भार	अधिक	अधिक	सामान्य	सामान्य	न्यून			न्यूनतर	अनुपस्थित
शरीर के तिलाव, जैसे लाला स्राव	अधिक	अधिक	अधिक	शल्प	अल्प			अनुपस्थित	अनुपस्थित
तारामण्डल का परिमाण	सामान्य	विस्फारित	सामान्य	सामान्य	अल्प विस्फारित			मध्य विस्फारित	अतिविस्फारित
नेत्र गोलक की गति	ऐच्छिक	इधर-उधर घूमता है।	इधर-उधर घूमता है।	गतिहीन	गतिहीन			गतिहीन	गतिहीन

प्रत्यावर्तन क्रिया	मांसपेशी तान (Tone)	गति	अन्य बातें
नेत्र स्वेत्र क्रिया	उपस्थित	अनुपस्थित	अनुपस्थित
कॉर्निया (स्वच्छ मण्डल)	उपस्थित	उपस्थित	"
पुतली	उपस्थित	उपस्थित	"
स्वर यन्त्र (ध्वनियन्त्र)	उपस्थित	उपस्थित	"
त्वचा	उपस्थित	उपस्थित	"
पेशी (परिहर्षण)	उपस्थित	उपस्थित	"
	शिथिल	अधिक	शिथिल
	शिथिल	मध्य स्थिति	शिथिल
	शिथिल	अति शिथिल	शिथिल
	शिथिल	अति शिथिल	पूर्ण स्थिति

संज्ञानाश

रक्त भार बढ़ जाता है, श्वास गति तीव्र, तारामण्डल (Pupil) विस्फारित तथा ग्रन्थियों से श्लेष्मस्राव (Mucous secretion) अधिक होने लगता है। ये लक्षण अनुकम्पी तंत्रिका (Sympathetic nerve) के उत्तेजित होने से उत्पन्न होते हैं। रोगी के नेत्र गोलक इधर-उधर घूमते हैं (Moving eyeballs)। इस अवस्था में प्रत्यावर्तन की सब क्रियायें उपस्थित रहती हैं।

तृतीयावस्था :—यह अवस्था पूर्वावस्था में उत्तेजित हुए केन्द्रों के अवसादित (Depress) होने से प्रारम्भ होकर, श्वास की गति रुक जाने तक रहती है (सुषुम्ना केन्द्रों के अवसादित होने से)। इसमें चार उपावस्थायें होती हैं।

(i) प्रथम उपावस्था में श्वास की गति गहरी (गम्भीर), तारामण्डल थोड़ा संकुचित और अक्षिगोलक इधर-उधर घूमते रहते हैं अक्षिगोलक स्थिर हो जाने पर रोगी आगे की उप-अवस्था अर्थात् द्वितीय उपावस्था में चला जाता है।

(ii) द्वितीय उपावस्था में मांसपेशियों में शिथिलता आ जाती है (इससे रोगी की शाखायें आसानी से मोड़ी जा सकती हैं) आँख की प्रकाश प्रत्यावर्तन क्रिया (Light reflex) मन्द पड़ जाती है। पर्युदर्या प्रत्यावर्तन (Peritoneal reflex) के अतिरिक्त अन्य सब प्रत्यावर्तन क्रियायें समाप्त हो जाती हैं। शरीर के निस्राव कम हो जाते हैं, तथा तारामण्डल का परिमाण (Size) सामान्य रहता है।

(iii) तृतीय उपावस्था उदर गत शल्य कर्मों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसमें सब गम्भीर प्रत्यावर्तन क्रियायें समाप्त हो जाती हैं। इस अवस्था में वक्षगत श्वास क्रिया कम तथा उदरगत श्वास क्रिया अधिक हो जाती है। अक्षिगोलक स्थिर, तारामण्डल विस्फारित, रक्त भार कम, नाड़ी की गति अधिक तथा तापमान कम हो जाता है।

(iv) चतुर्थ उपावस्था में नाड़ी की गति तीव्र तथा स्थिर, रक्त भार में ह्रास, श्वास क्रिया स्थिर तथा आवाज युक्त और गति में कम, तारामण्डल विस्फारित और आँख की प्रकाश प्रत्यावर्तन (Light reflex) क्रिया समाप्त हो जाती है।

चतुर्थावस्था—यह सुषुम्ना के केन्द्रों के घात की अवस्था है। इसमें मांसपेशियाँ पूर्णतया शिथिल हो जाती हैं इस कारण रोगी का मल मूत्रादि स्वतः ही निकल जाते हैं। नाड़ी की गति तीव्र तथा अस्पर्शीय (Rapid and imperceptible pulse) एवं रक्त भार अत्यधिक न्यून हो जाता है, त्वचा शीत तथा धूम्र वर्ण की, आँखें स्थिर तथा शुष्क और श्वास की गति बन्द हो जाती है। अवस्था में एक जाने से मृत्यु हो जाती है।

संज्ञानाश के उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा :

संज्ञानाश में दो प्रकार के उपद्रव होते हैं :—

(क) संज्ञाहरण औषधि के प्रयोग काल में उत्पन्न उपद्रव :—
(i) श्वासावरोध (iii) आग से दुर्घटना
(ii) हृदयगत विकार (iv) आक्षेप
(ख) रोगी के चेतनावस्था में आने पर उत्पन्न उपद्रव :—
(i) वमन (iii) अम्ल विषाक्तता
(ii) कास (iv) आध्मान

(क) संज्ञाहरण औषधि के प्रयोग काल में उत्पन्न उपद्रव :

(i) **श्वासावरोध** :—यह अनेक कारणों से हो सकता है जैसे—
[1] उपजिह्विका के ऐंठन से (Spasm of epiglottis)
[2] जिह्वा के स्वर यंत्र पर गिरने से (Prolapse of tongue)
[3] ग्रीवा पर बाह्य दाब से
[4] मस्तिष्क रक्ताल्पता या हृदय दौर्बल्य से
[5] श्वास वह स्रोत में श्लेष्मा के अधिक निस्राव के कारण

(ii) **हृदयगत विकार** :—
[1] ईथर के अधिक वाष्प आकस्मिक सुंघा देने से हृदय में विकम्पन (Fibrilation) हो सकती है।
[2] संज्ञाहरण औषधि के द्वारा श्वास वह स्रोत (Respiratory tract) के उत्तेजित हो जाने पर वागस तंत्रिका (Vagus nerve) विक्षुब्ध होकर हृदयावरोध उत्पन्न कर सकती है।
[3] हृदय विकृति में संज्ञानाश से हृदयपात (Cardiac failure) होने की सम्भावना रहती है।
[4] ऑक्सीजन की कमी से स्तब्धता हो सकती है और उत्तेजना से रक्त भार बढ़कर मस्तिष्क में रक्त स्राव हो सकता है।

(iii) **आग से दुर्घटना**:—ईथर जैसी तीव्र अग्नि विस्फोट (Highly inflammable) औषधियों के अग्नि के सम्पर्क में आने पर विस्फोट होकर वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों की मृत्यु हो सकती है। ईथर प्रयोग करते समय कोई भी अग्नि कर्म शल्य कक्ष में नहीं करना चाहिए।

(iv) **आक्षेप** :—बच्चों में ज्वर होने पर या रोगी में कोई मस्तिष्क सम्बन्धी व्याधि होने पर संज्ञानाश के समय प्रायः आक्षेप (Convulsions) आ जाते हैं।

(ख) रोगी के चेतनावस्था में आने के पश्चात् उत्पन्न उपद्रव :

(i) **वमन** :—आमाशय अवरोध, मस्तिष्क सम्बन्धी (केन्द्रीय) कारणों से फिर क्लोरोफार्म संज्ञाहरण औषधि के अधिक प्रयोग से वमन हो सकती है।

(ii) **कास** :—तीक्ष्ण संज्ञाहरण औषधि के वाष्पों के कारण कास तथा फुफ्फुसों में अधिक निस्राव होता है।

(iii) **अम्ल विषाक्तता** (Acidosis):—संज्ञाहरण के पश्चात् रक्त में अम्लता बढ़कर तीव्र वमन तथा हृदय, वृक्क यकृत इत्यादि में वसीय-व्यपजनन (Fatty degeneration) होकर मृत्यु हो जाती है।

(iv) **आध्मान**:—संज्ञानाश के पश्चात् आन्त्र में शिथिलता आ जाने से प्रायः आध्मान हो जाता है।

उपद्रवों की चिकित्सा—(1) श्वासावरोध होने पर या श्वास की गति रुक जाने पर सर्वप्रथम इसके मूल कारण को दूर करना चाहिए; ऑक्सीजन देनी चाहिए; तथा श्वासगति उत्तेजक औषधियाँ जैसे—नेकाथेमाईड (Nekathemide), लैप्टाजोल (Leptazol) इत्यादि को सूचीवेध से देना चाहिए। आवश्यकता होने पर कृत्रिम श्वास विधि का प्रयोग करना चाहिए। BANSAL CHANDRASHEKAR

(ii) हृदय प्रकम्पन (Cardiac fibrilation) होने पर संज्ञाहरण औषधि का प्रयोग बन्द कर दें, ऑक्सीजन दें, कृत्रिम श्वासविधि से श्वास दें, हृदय का मर्दन (Cardiac massage) करें तथा निलय प्रकम्पन (Ventricular fibrilation) होने पर इसके लिए विद्युत प्रकम्पहरण यन्त्र (Electric defibrilator) का प्रयोग करें

(iii) आक्षेप आने पर कुछ क्षणों के लिए कैरोटिड (Carotid) धमनी पर दाब डालें, मुख पर शीतल जल का प्रक्षेप करें, सिर ऊंचा उठा दें तथा सिरा द्वारा सूची वेध से पैन्टोथल सोडियम (Inj. Pentothal sodium 0·25 gm. I. V.) दें।

(iv) परिसंचरण शिथिलता (Circulatory failure) होने पर संज्ञाहरण औषधि देना बन्द कर दें, ऑक्सीजन, कृत्रिम श्वास एवं नोरएड्रेनेलिन (Inj. noradrenaline in glucose I. V. drip द्वारा) दें तथा रक्ताधान करें या ग्लुकोस घोल Inj. glucose solution) को सूची वेध यन्त्र द्वारा सिरा में दें।

संज्ञानाश विधि :

संज्ञाहरण औषधियाँ प्रायः उड़नशील तरल (Volatile liquids) होती हैं, इसीलिए इनका प्रयोग श्वासवह संस्थान द्वारा किया जाता है। पैन्टोथल सोडियम (Inj. Pentothal sodium) जैसे बेसल संज्ञाहरण पदार्थ (Basalanaesthetics) को सिरा में सूचीवेध से दें या फिर इसे मलाशय द्वारा दें।

उड़नशील संज्ञाहरण औषधियाँ देने की विधियाँ
(i) अनावृत विधि (Open method)
(ii) आवृत विधि (Closed method)

(i) **अनावृत विधि:**—इस विधि में, रोगी को लिटाकर उसकी आँखों को कपड़े से ढक दें। उसके मुख तथा नासिका को एक लोहे की जाली से बने मास्क से ढककर मास्क के ऊपर कपड़ा रख दें। अब उस कपड़े पर बूंद-बूंद करके संज्ञाहरण तरल (जैसे ईथर) को डालें; ध्यान रखें कि कपड़ा गीला न होने पाए, ईथर उतनी ही मात्रा में डालें जो साथ की साथ सूखता रहे। पहले इस तरल की एक बूंद प्रति श्वास की गति से डालना प्रारम्भ करें (अधिक डालने से तीव्र वाष्पों के कारण स्वर-यन्त्र में ऐंठन आ जाती है या रोगी श्वास रोक लेता है), फिर 5-7 बूंद डालने के पश्चात् बूंदों की मात्रा प्रति श्वास बढ़ा देनी चाहिए। रोगी के तृतीयावस्था में पहुंचने पर संज्ञाहरण औषध की बूंदों की मात्रा को कम कर देना चाहिए। संज्ञाहरण औषधि के वाष्पों की अन्तः श्वसन में सान्द्रता अधिक लाने के लिए मास्क के चारों ओर तौलिया लपेट दें (तौलिए से ढक दें) तथा औषधि केवल मास्क के ऊपरी भाग में डालें, जहाँ तौलिया नहीं रहता। इसे आंशिक अनावृत विधि (Semi open method) कहते हैं। इस विधि को भी आदर्श विधि नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें अनेक कमियाँ रह जाती हैं जैसे:—

(क) संज्ञाहरण औषधि का अधिक व्यय।

(ख) संज्ञानाश की अवस्थाओं पर नियन्त्रण का अभाव।

(ग) संज्ञाहरण औषध के विस्फोट के भय से शल्य कर्म में अग्निकर्म का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

—(ii) **आवृत विधि** :—इस विधि में एक रबड़ के मास्क से रोगी के मुख तथा नासिका को ढकते हैं (ताकि वाष्प बाहर न आ सकें), फिर उसे एक नलिका द्वारा गैस यन्त्र (Gas machine) से जोड़ देते हैं। गैस यन्त्र के एक रास्ते से संज्ञाहरण औषधि के वाष्प आते हैं तथा दूसरी ओर से ऑक्सीजन आती है।

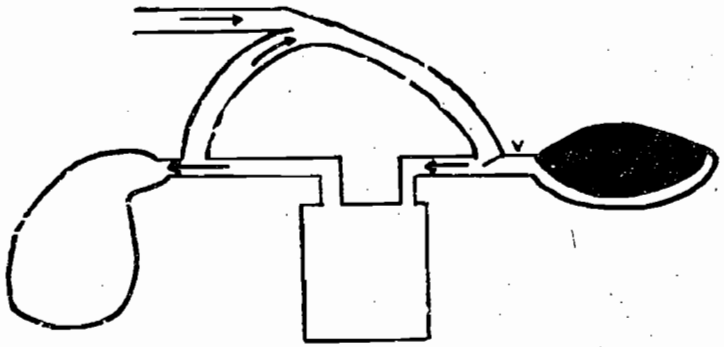

रेखाचित्र नं० 9 —सार्वदैहिक संज्ञाहरण की विधि

रोगी जो श्वास बाहर निकालता है उस श्वास में कुछ संज्ञाहरण औषध के वाष्प, थोड़ी सी ऑक्सीजन (O_2) तथा कार्बन-डाइ-ऑक्साइड (CO_2) रहती है। रोगी के निःश्वास को एक बर्तन में से निकाला जाता है जिसमें कि चूना (Soda lime) भरा रहता है। यह चूना उसमें से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड (CO_2) तथा जल के वाष्पों का शोषण कर लेता है तथा शेष गैस (Gas) को एक रबर के कोष (Rubber bag) द्वारा पुनः मास्क में (गैस लाने वाली नलिका के द्वारा) डाल दिया जाता है। इस तरह इस विधि में निःश्वास द्वारा बाहर निकली गैसों का पुनः प्रयोग हो जाने से गैस का व्यय (Loss) अधिक नहीं होता। मुखाच्छादक (Mask) के स्थान पर अन्तःश्वास-नली-नाड़ी यन्त्र (Endotracheal tube) को श्वास नलिका में डालकर उसके कफ (Cuff) को फुला (Air tight) करके उसे गैस यन्त्र (बायल के यन्त्र) की गैस नलिका से जोड़ देते हैं। इस विधि में संज्ञानाश पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है, श्वास के रुक जाने पर रबर के कोष (Rubber bag) के द्वारा श्वास गति को सतत (Continued) चलाये रखा जा सकता है।

इस विधि में भी कुछ कमी रह जाती है, जैसे—इससे चूने की धूल (Soda-lime dust) श्वास में जाती रहती है तथा निःश्वास की उष्ण वायु का पुनः प्रयोग होता है।

संज्ञानाश के पूर्वकर्म :

संज्ञानाश के योग्य तथा अयोग्य व्यक्तियों को जानने के लिये पहले रोगी की भौतिक परीक्षा की जाती है तथा फिर विशेष रूप से आतुरवृत्त पूछा जाता है—

(i) **भौतिक परीक्षा**— इसमें निम्न परीक्षायें की जाती हैं।

श्वासवह संस्थान (Respiratory system) हृदय और रक्तवह संस्थान की विशेष परीक्षा में—श्वास, कास, हृदय दौर्बल्यता, रक्त-भार तथा अस्थियों की परीक्षा [गर्दन की अस्थियाँ जकड़ी न हों (Stiff neck)] करनी चाहिये।

रोगी के हिलते हुए दांत या कृत्रिम दांत, ज्वर तथा मधुमेह इत्यादि व्यक्तियों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये, क्योंकि इन अवस्थाओं से ग्रस्त रोगियों में संज्ञानाश से अनेक घातक उपद्रव हो सकते हैं।

(ii) **आतुर वृत्त**—रोगी को कार्टिकोस्टिरायडज (Corticosteroids) लेने का वृत्त या रोगी को किसी औषधि की सूक्ष्म ग्राहिता (Sensitivity) के बारे में तथा अपस्मार या अन्य प्रकार के वेगों (Fits) का वृत्त भी पूछना चाहिये। इससे रोगी के संज्ञानाश के योग्य या अयोग्य होने का पता चल जाता है। इस परीक्षा से यदि रोगी संज्ञानाशक के अयोग्य सिद्ध होता है तो पहले उस रोगी को संज्ञानाश के योग्य बनाना चाहिये, अन्यथा रोगी की संज्ञानाश देते समय मृत्यु हो सकती है।

पूर्व औषध प्रयोग (Premedication) :

पूर्व-औषधियों का प्रयोग संज्ञानाश के सम्भावित उपद्रवों को रोकने के लिए किया जाता है जैसे—

(i) घबराहट (भय) दूर करने के लिये।

(ii) श्वासवह स्रोतों के नि:स्राव कम करने के लिये।

(iii) प्रत्यावर्तन क्रियायें (Reflex actions) कम करने के लिए।

(iv) मधुमेह के रोगियों में संज्ञानाश से रक्त में ग्लुकोस की कमी (Hypoglycaemia) हो सकती है, इसलिये इसकी व्यवस्था (control) पहले से ही कर लेनी चाहिये।

(v) गल ग्रन्थि क्रियाधिक्य (Hyperthyroidism) के रोगियों में संज्ञानाश से चयापचय (Metabolism) की क्रिया में वृद्धि होने से ऑक्सीजन की कमी उत्पन्न हो सकती है, इसकी व्यवस्था भी पहले से ही कर लेनी चाहिये।

औषधियाँ—उपरोक्त उपद्रवों के लिये प्राय: निम्न औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

(1) **वेदनाशामक**—मारफीन एवं पैथाडीन (Morphine and Pethadine)

(2) **निद्राकारी एवं शामक** (Hypnotics and sedatives)—बारबिचुरेट्स (Barbiturates as Soneril and Siquil) और फिनोथायाजीन (Phenothiazine derivativs, like Largactil)।

(3) **परानुकम्पी सलायी** (Parasympatholytic)—एट्रोपीन एवं हेयोसीन (Atropine and Hyocine) जैसी औषधियाँ।

(1) **वेदनाशामक**—

(i) **मार्फीन** (Morphine hydrochloride)—यह तीव्र वेदनाहर, आशंका (Apprehension) नाशक तथा संज्ञाहरण औषधि की मात्रा कम करने में सहायक होती हैं, परन्तु यह श्वास केन्द्र को अवसादित करती है एवं आन्त्र की गति को शिथिल करके आध्मान उत्पन्न करती है। इसके प्रयोग से श्वसन होने की सम्भावना रहती है और यह मिचली अर्थात् उत्क्लेश (Nausea) उत्पन्न करती है।

युवा व्यक्ति में इसकी मात्रा सूचीवेध से 1/5 से 1/4 ग्रेन (10 से 15 mg) बच्चों में 0·1 mg प्रति किलोग्राम वजन के अनुसार इसे अध: त्वग्-सूचीवेध द्वारा प्रधान कर्म से 1 से 1½ घण्टा पूर्व दे देना चाहिये।

(ii) **पेथाडीन** (Pethadine hydrochloride)—यह मार्फीन से कम प्रभावशाली तथा परानुकम्पी संलायी (Parasympatholytic) क्रियाकारक औषध

श्वास केन्द्र को बहुत कम अवसादित करती है। आन्त्र की गति को भी बहुत कम प्रभावित करती है, श्वासवह स्रोत के स्रावों को तथा उनकी प्रत्यावर्तन क्रियाओं को भी कम करती है। यह बारबिचुरेट्स (Barbiturates) तथा संज्ञाहरण औषधि की क्रिया को तीव्र करती है, जिस कारण यह इनकी मात्रा को कम करने में समर्थ है। मात्रा—100 मि० ग्रा० (1½ ग्रेन) सूची द्वारा मांसपेशी में प्रधान कर्म से 1 से 1½ घन्टे पूर्व देनी चाहिये।

(2) **निद्राकारी एवं शामक औषधियाँ** (Hypnotics and Sedatives)

(i) **बारबिचुरेट्स** (Barbiturates)—इनका प्रयोग उत्तेजित तथा आशंकाकुल (Irritant and apprehensive) व्यक्तियों में किया जाता है। इनके प्रयोग से संज्ञानाश अवस्था में आक्षेप आने की सम्भावना कम हो जाती है। इनकी मात्रा तथा क्रिया अवधि पर विशेष ध्यान देना चाहिये जैसे—(Intermediate barbiturates, as amidobarbitone or butabarbitone should be given in a dose of 1½ to 3 grains orally, one night before operation. But short acting barbiturates, as Quinal barbitone or pento-barbitone should be given in the dose of 3 grains orally, 2 to 3 hours before operation, and in children the dose should be 2 mg/Kg of body weight).

(ii) **फीनोथाईजीन** (Phenothiazine)—इसके अन्तर्गत क्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड (Chlorpromazine hydrochloride as Largactil or Promethazine hydrochloride as Phenergan) आते हैं। यह शक्तिशाली शामक औषधियाँ हैं। इनके प्रयोग से संज्ञानाश में सुगमता आ जाती है तथा संज्ञाहरण औषधि की मात्रा का भी कम प्रयोग होता है। इसके प्रयोग से रक्त चाप थोड़ा कम हो सकता है एवं उत्क्लेश तथा वमनादि उपद्रव भी नहीं होते। इसे प्रधान कर्म से 1½ घन्टा पूर्व, 25 से 50 मि० ग्रा० की मात्रा में पेशी गत सूचीवेध से दिया जाता है।

(3) **परानुकम्पी सलायी** (Parasympatholytic) **औषधियाँ**—

हेलोथेन एवं नाइट्रस ऑक्साइड (Halothane and N_2O) को छोड़कर सब संज्ञाहरण पदार्थ श्वासवह स्रोतों के निस्रावों को बढ़ाते हैं, जिससे श्वासावरोध जैसे उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिये इन स्रावों को कम करने के लिये परानुकम्पी संलायी (Parasympatholytic) औषधियों का प्रयोग किया जाता है,

(i) **एट्रोपीन** (Atropine sulphate)—यह शरीर गत श्लेष्मा निस्रावों को कम करती है, श्वास केन्द्र को थोड़ा उत्तेजित करती है। स्वर यन्त्र तथा श्वास

प्रणाली में ऐंठन (Spasm) नहीं होने देती। यह स्वेद, वमन तथा उत्क्लेश को [illegible] करती है, परन्तु तापमान को बढ़ा देती है। इससे हृदय की अनियमितता (Arrhythmia) कम होती है तथा यह आँख के तारा मण्डल (pupil) को विस्फारित [illegible] देती है। इसको 0.6 mg (1/100 gr.) की मात्रा में पेशीगत सूचीवेध द्वारा [illegible] कर्म के 1—1½ घन्टा पूर्व देना चाहिये।

(ii) **हेयोसीन** (Hyocine scopolamin)—यह एट्रोपीन की अपेक्षा [illegible] तथा आशंका को निवृत करने में अधिक सचेष्ट है। इससे थोड़ी निद्रा आती [illegible] इसके अन्य कर्म एट्रोपीन (Atropine) के सदृश होते हैं परन्तु प्रभाव में उससे [illegible] कम होते हैं। इसे 0.4 मि० ग्रा० (1/150 ग्रेन) की मात्रा में अधः त्वक् में [illegible] द्वारा दिया जाता है।

संज्ञाहरण औषधियाँ (Anaesthetics)—

सार्वदैहिक संज्ञाहरण के लिये निम्न संज्ञाहरण औषधियाँ मुख्य रूप से प्र[illegible] में लाई जाती हैं—

(i) **क्लोरोफार्म** (Chloroform)—

इसका प्रयोग कुछ वर्ष पूर्व बहुत अधिक हुआ करता था, परन्तु आज [illegible] इसका प्रयोग, इससे उत्पन्न विषाक्त प्रभावों के कारण पूर्णतः बन्द हो गया [illegible] इससे रोगी 1 से 5 मिनट में चेतनाहीन हो जाता है। यह ताप नियन्त्रण के [illegible] को अवसादित करने के कारण तापमान को कम कर देती है तथा वेगस (Vagus) [illegible] को उत्तेजित करने के कारण हृदय की गति को कम कर देती है। यह रक्त भ[illegible] को कम करती है, श्वास केन्द्र को व्यवसादित करती है, यकृत क्रिया को कम कर[illegible] है, श्वासवह स्रोतों के निस्राव बढ़ाती है तथा वृक्कों के रक्त संचार को कम करती[illegible]

(ii) **ईथर** (Ethyl ether or anaesthetic ether)—

यह उड़नशील तथा तीव्र अग्नि विस्फोटक द्रव है, इसलिये इसे हमेशा [illegible] तथा अन्धेरे कमरे में रखना चाहिये। यह जीवाणु नाशक तथा स्थानीय संज्ञाह[illegible] करने में भी समर्थ है। इसमें प्रेरणा (Induction) तो देर से होती है, प[illegible] दुष्प्रभाव कम होते हैं। यह मांसपेशियों को शिथिल (Relax) करती है, आन्त्र[illegible] गति तथा निस्रावों को कम करती है, श्वास केन्द्र को थोड़ा अवसादित करती[illegible] वृक्कों में रक्त संचार कम करती है तथा श्वासवह स्रोतों में स्रावाधिक्य करती[illegible] इसका हृदय पर कोई सीधा बुरा प्रभाव नहीं होता। संज्ञानाश की तृतीयावस्था[illegible] इसके कारण गर्भाशय की क्रिया कम हो जाती है। इसके प्रयोग से यकृत कार्य[illegible] ह्रास हो जाता है तथा रक्त में ग्लूकोस का स्तर (Level) बढ़ जाता है।

(iii) **इथाईल क्लोराइड** (Ethyl chloride)—

यह फुवार (Spray) के रूप में प्रयोग होता है। इससे प्रेरण (Induction) [illegible] अर्थात् ½ से 2 मिनट में हो जाता है तथा इसका प्रयोग बन्द करने पर रोगी [illegible] तावस्था (होश) में भी 2 से 5 मिनट में आ जाता है। इसमें सुरक्षा सीमा (Safety margin) कम होती है तथा यह हृदय की मांसपेशी को अवसादित करती [illegible] यह हृदय पेशी को एड्रेनेलिन (Adrenaline) के प्रति सूक्ष्मग्राही (Sensitive) [illegible] देती है, जिसके कारण प्रकम्पन (Fibrilation) तथा हृदयावरोध (Cardiac [illegible]est) उत्पन्न हो जाता है। इसके द्वारा वेगस (Vagus) के उत्तेजित होने से [illegible] गति कम हो जाती है। इससे परिसरीय रक्तवाहिनियों का विस्फार (Peripheral vasodilatation) होकर रक्तभार कम हो जाता है, इसलिये इसे केवल [illegible] (Induction) के लिये ही प्रयोग करते हैं तथा इसके पश्चात् रोगी को ईथर [illegible] प्रारम्भ कर देते हैं।

(iv) **हैलोथेन** (Halothane) :—

यह भी एक प्रभावकारी द्रव औषधि है, परन्तु यह हृदय की गति को कम [illegible] करती है एवं वाहिनियों को विस्फारित करके रक्तभार को कम कर देती है। यह [illegible] को एड्रेनेलिन (Adrenaline) के प्रति सूक्ष्म ग्राही (Sensitive) कर देती है, [illegible] लिये स्तब्धता की अवस्था में, प्रसव तथा हृदय के विकारों में इसे प्रयोग नहीं [illegible] चाहिये। यह अत्यधिक मूल्यवान् (Costly) होती है तथा रबर और धातुओं [illegible] गला देती है।

(v) **नाइट्रस आक्साइड** (N_2O) :—

यह गैस अमोनियम नाइट्रेट (Ammonium nitrate) को गर्म करने से बनती [illegible] इसे लाफिंग गैस (Laughing gas) भी कहते हैं। इससे प्रेरण (Induction) [illegible] होता है अर्थात् 1 से 2 मिनट में हो जाता है, तथा इससे कोई दुष्प्रभाव (Complication) नहीं होता। इसमें यदि पहले से माफिन (Morphine) न दिया गया [illegible] तो रोगी द्वितीयावस्था में थोड़ा उत्तेजित हो सकता है। इसका प्रयोग बन्द करने [illegible] रोगी 1 से 2 मिनट में ही होश (चेतना) में आ जाता है। यदि इसे आक्सीजन [illegible] बिना ही प्रयोग किया जाए तो रोगी ½ मिनट में ही चेतनाहीन हो जाता है। [illegible] परन्तु इससे हाईपोक्सिया (Hypoxia) अर्थात् आक्सीजन की कमी हो सकती है। [illegible] निस्राव नहीं बढ़ते, नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है, रक्तभार बढ़ जाता है, [illegible] परन्तु यह हीन प्रभावकारी (Less potent) होने से इससे पेशियों में शिथिलता (Muscle relaxation) नहीं आ पाती। इसके सूंघने से रोगी आनन्द का अनुभव [illegible] करता है।

सिरा सूचीवेध द्वारा संज्ञानाश (Intravenous anaesthesia) :—

थायोपेण्टोन सोडियम (Thiopentone sodium) इसे 1½ से 8 ग्रेन या 0·1 से 0·5 ग्राम की मात्रा में सिरागत सूचीवेध से दिया जाता है। इससे तुरन्त संज्ञानाश हो जाती है। इसमें पूर्व-औषध-प्रयोग में मार्फीन तथा पैथाडीन (Morphine and pethadine) को देना चाहिये। इसका प्रभाव बहुत कम समय के लिए (15 मिनट से भी कम) रहता है। यह श्वासकेन्द्र को अवसादित, हृदय की गति को तीव्र तथा रक्तभार को कम करती है। इसका हृदय पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इससे उदर की पेशियाँ शिथिल (Relax) नहीं हो पातीं। यह औषधि प्रायः आक्षेप (Convulsions) के चिकित्सार्थ भी प्रयोग की जाती हैं, परन्तु इसे निम्न अवस्थाओं में प्रयोग नहीं करना चाहिये—

(1) छोटे बच्चों में,
(2) संक्रमण होने पर,
(3) स्तब्धता में,
(4) हृदयगत व्याधियों में,

ईथर और क्लोरोफार्म (Ether and chloroform) में भेद :

ईथर	क्लोरोफार्म
(1) इसकी क्रिया मन्दगति से होती है।	(1) इसकी क्रिया तीव्रता से होती है।
(2) संज्ञानाश, इसे अधिक मात्रा में प्रयोग करने से होता है।	(2) संज्ञानाश, इसे कम मात्रा में प्रयोग करने से हो जाता है।
(3) इनकी गन्ध को रोगी पसन्द नहीं करता (Disagreeable)।	(3) इसकी गन्ध रोगी को अप्रिय नहीं होती (Not disagreeable)।
(4) यह अग्नि विस्फोटक है।	(4) यह अग्नि विस्फोटक नहीं होता।
(5) प्रलापावस्था देर तक बनी रहती है।	(5) प्रलापावस्था बहुत कम समय के लिए रहती है।

ईथर	क्लोरोफार्म
(6) मांसपेशी शिथिलता देर में आती है।	(6) माँसपेशी शिथिलता शीघ्र आ जाती है।
(7) इससे यकृत तथा वृक्क पर कोई दुष्कर प्रभाव नहीं होते।	(7) इससे यकृत तथा वृक्क पर दुष्कर प्रभाव होते हैं।
(8) हृदय, श्वास तथा धमनी-विस्फारण केन्द्र देर से प्रभावित होते हैं।	(8) हृदय, श्वास तथा धमनी विस्फारण केन्द्र शीघ्र ही प्रभावित हो जाते हैं।
(9) इसके तीव्र वाष्प प्रयोग करने से श्वासवह संस्थान में अधिक उपद्रव उत्पन्न होते हैं।	(9) श्वासवह संस्थान के उपद्रव बहुत कम होते हैं।
(10) रोगी को संज्ञानाश के पश्चात् चेतना अवस्था में आने में देर लगती है।	(10) रोगी शीघ्र ही चेतनावस्था में आ जाता है।

पेशी शिथिलन औषधियाँ (Muscle relaxants) :—

सार्वदैहिक संज्ञानाश होने पर उदर की पेशियाँ पूर्ण रूप से शिथिल नहीं होतीं। उन्हें शिथिल करने के लिये संज्ञानाश को अधिक गम्भीर (Deep) अवस्था में पहुंचना पड़ता है, इस कारण संज्ञाहरण औषधियों के विषाक्त प्रभाव होने का भय बना रहता है। इनके दुष्कर प्रभावों से बचने के लिये (तथा साथ में माँसपेशी में शिथिलता भी आ जाये, इसके लिये) रोगी को संज्ञानाश की उपरि-अवस्था (Light anaesthesia) में रखा जाता है तथा साथ में परिसरीय क्रियाकारी पेशी-शिथिलन औषधियों (Peripherally acting muscle relaxants) का प्रयोग किया जाता है, ये औषधियां निम्न हैं—

(i) ट्यूबोकुरारीन क्लोराइड (Tubocurarine chloride or d-tubocurarine chloride) :—

इसे सिरा सूचीवेध द्वारा शीघ्रता से देने पर हिस्टामिन जैसी क्रिया (Histamine like action) होती है। इससे रक्तभार गिर जाता है एवं ऐच्छिक पेशियों

(Voluntary muscles) में घात (Paralysis) हो जाता है। इस कारण श्वास क्रिया बन्द हो जाया करती है। यह प्राणदा तन्त्रिका की क्रियावरोध (Vagus block) करके हृदय गति को तथा श्वासवह संस्थान के निःस्रावों को अत्यधिक बढ़ा देती है। इसे अधिक मात्रा में देने से आक्षेप (Convulsions) आने लगते हैं। इनका प्रभाव ½ घन्टे तक बना रहता है।

मात्रा—10 से 15 मि० ग्राम सिरागत सूचीवेध से।

नियोस्टिग्मिन (Neostigmine 5 mg) या एट्रोपीन (Atropine 0·5 mg) को सिरागत सूचीवेध से देने पर यह डी-ट्यूबोकुरारीन की क्रिया को तुरन्त समाप्त करके पेशियों को सामान्यावस्था में ले आती है।

(ii) **गैलेमीन ट्राईइथियोडाइड (Gallamine triethiodide i. e. flaxedil)** :—

यह ट्यूबोरीन के सदृश होती है; परन्तु इसका प्रभाव केवल 20 मिनट तक रहता है। इसकी क्रिया हिस्टामिन के सदृश नहीं होती, इसलिये इससे रक्तभार कम नहीं होता। यह प्राणदा तन्त्रिका (Vagus nerve) का रोध (Block) कर देती है, जिससे हृदय की गति बढ़ जाती है। इससे श्वास प्रणालियों में ऐंठन (Spasm) नहीं आती, परन्तु लाल स्राव अधिक होने लगता है।

मात्रा—60 से 80 मि० ग्राम सिरागत सूचीवेध द्वारा।

(iii) **सक्सामिथोनियम क्लोराइड (Suxamethonium chloride i. e. saccinyl chloride)** :—

इसके प्रयोग से लालास्राव अधिक मात्रा में होने लगता है, परन्तु इसका हृदय तथा रक्तवह संस्थान पर कोई दुष्कर प्रभाव नहीं होता। पैन्टोथल (Pentothal Sodium) से उत्पन्न स्फुरण (Twitching) प्रभाव को समाप्त करने के लिये तथा अन्तःश्वास-नलिका-नाड़ीयन्त्र (Endotracheal tube) डालते समय इस औषध का प्रयोग किया जाता है। इसका प्रभाव केवल 5—6 मिनट तक रहता है। इसके प्रभाव को देर तक रखने के लिये इसे 0·2 से 0·4% तक ग्लूकोस के 4% घोल में डालकर सिरागत सूचीवेध से सतत् बूंद-बूंद के रूप में देना चाहिये।

II स्थानीय संज्ञानाश (Local anaesthesia) :—

स्थानीय संज्ञानाश की विशिष्ट क्रियाविधि (Specific mechanism of action) का पूर्णतः ज्ञान तो नहीं हो पाया है, परन्तु ऐसा माना जाता है कि संज्ञानाश औषधि का प्रभाव तन्त्रिका अर्थात् वातवह नाड़ी (Nerve) पर होने से उसके कोशिका द्रव (Cytoplasm) में परिवर्तनीय सूक्ष्म स्कन्दन (Reversible micro-

coagulation) हो जाता है। इससे वात नाड़ी (तन्त्रिका) में वेगों का वहन (Conduction of impulses through nerves) बन्द हो जाता है। मिश्रित तान्त्रिका (Mixed nerves) में सर्वप्रथम संवेदनातन्तु (Sensory fibres) प्रभावित होते हैं तथा उसके पश्चात् चेष्टावह तन्तु (Motor fibres) प्रभावित होते हैं। संवेदनावह या संज्ञावह तंत्रिका (Sensory nerve) में पहले वेदना का अभाव होता है, फिर तापमान का अभाव तथा उसके पश्चात् स्पर्श ज्ञान का एवं अन्त में दाब (Pressure) ज्ञान का और सन्धियों की संवेदना ज्ञान का अभाव होता है।

भेद :

(1) तलीय संज्ञानाश (Surface anaesthesia)
(2) अन्तः संचरण संज्ञानाश (Infiltration anaesthesia)
(3) प्रादेशीय (क्षेत्रीय) संज्ञानाश (Regional anaesthesia)
(4) मेरु संज्ञानाश (Spinal anaesthesia)

(1) तलीय संज्ञानाश (Surface anaesthesia) :—

संज्ञाहरण औषधि को जब घृष्ट त्वचा तथा श्लेष्मकला (Mucous membrane) पर लगाया जाता है तो यह तन्त्रिकाओं के अन्तिम प्रान्तों (Nerve endings) को प्रभावित करके तलीय संज्ञानाश उत्पन्न करती है। इसे व्रणों की वेदना शमनार्थ प्रयोग किया जाता है। इसके अधिक प्रयोग से व्रणों में रोपण कर्म सुचारू रूप से नहीं हो पाता। इसका प्रयोग गला, नाक, कान, गुदा, योनि तथा आँख के संज्ञानाश के लिए किया जाता है।

औषधियाँ :—

(i) **कोकेन (Cocaine)**—इसका 5 से 10 प्रतिशत घोल, 5 से 10 मिनट तक घृष्ट त्वचा पर लगा रहने से 20 से 30 मिनट के लिए संज्ञानाश हो जाता है। आंख के लिए 4 प्रतिशत घोल का प्रयोग करें और गले के छोटे-छोटे अर्बुद या गल शुण्डिका (Tonsils) के शल्य कर्मों के लिए 10 से 20 प्रतिशत घोल का प्रयोग करें। इसके दुष्कर विषाक्त प्रभाव होने से इसे सूचीवेध द्वारा नहीं प्रयोग किया जाता।

(ii) **बेनोक्सिनेट (Benoxinate hydrochloride or Dorsocaine hydrochloride)**—इसे 0·4 प्रतिशत घोल के रूप में आँख के छोटे-छोटे शल्य कर्मों के लिए (जैसे टोनोमीटरी में) प्रयुक्त करते हैं। इसका प्रभाव बहुत कम समय के लिए रहता है तथा यह तीक्ष्ण (Irritant) भी नहीं होती।

(iii) **प्रोपाराकेन हाइड्रोक्लोराइड (Proparacaine hydrochloride**

syn. Ophthaine)—इसकी क्रिया शीघ्र प्रारम्भ होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, इसे 0·5 प्रतिशत घोल के रूप में आँख के टोनोमीटरी (Tonometery, chlazian etc.) जैसे छोटे-छोटे शल्य कर्मों में प्रयोग करते हैं।

(iv) **एमिथोकेन हाइड्रोक्लोराइड** (Amethccaine hydrochloride, Ametnaine, Pentocaine) :—इसे 0·5 से 1 प्रतिशत घोल के रूप में नेत्र, गला, कान तथा मूत्रमार्ग के लघु शल्य कर्मों में प्रयोग करते हैं।

(v) **सिंचोकेन क्लोराइड** (Cinchocaine chloride)—Nupercaine or Dibucaine) :—इसे 1 से 2 प्रतिशत घोल के रूप में मूत्रमार्ग के लघु शल्य कर्मों (Cathetarization, cystoscope etc.) के लिए प्रयोग करते हैं।

(2) अन्तः संचरण संज्ञानाश (Infiltration anaesthesia) :—

संज्ञानाश औषधियों के लवण जल को सूचीवेध द्वारा अधः त्वचा (Sub cutaneous) में संचरण (Infiltration) करते हैं। पहले वेध स्थान को स्प्रिट से शुद्ध करके संज्ञाहरण औषधि के द्वारा वहाँ पर छोटे विस्फोट अर्थात् चक्कर (wheel) उत्पन्न कर लें। संज्ञाहरण औषधि का संचरण सम्पूर्ण स्थान में करना चाहिए। आवश्यकता होने पर इसका गम्भीर ऊतियों (Deep tissue) में भी सूचीवेध द्वारा संचरण करना चाहिए।

औषधियाँ :—

(i) **प्रोकेन** (Procaine)—इसे 0·5 से 2 प्रतिशत घोल के रूप में (अधिक से अधिक 1 ग्राम तक) दिया जाता है। इससे केशिकायें विस्फारित हो जाती हैं। इसमें 1 : 50,000 एड्रिनेलिन (Adrenaline) मिला लेने से केशिकायें संकुचित हो जाती हैं जिससे औषधि देर में शोषित होने के कारण इसका प्रभाव भी देर तक बना रहता है तथा इसके विषाक्त लक्षण भी नहीं होते। इसका प्रभाव 1 से 2 घण्टे तक बना रहता है। यदि इसे अधिक मात्रा में प्रयोग करना हो तो इसके 0·5 प्रतिशत घोल का प्रयोग करना चाहिए। इसे उबाला भी जा सकता है। उबालने से प्रोकेन के प्रभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

(ii) **सिञ्चोकेन** (Cinchocaine—Nupercaine)—यह सर्वाधिक प्रभावकारी औषधि है तथा इसके विषाक्त प्रभाव भी अधिक होते हैं। इसमें 1 :100,000 एड्रिनेलिन (Adrenaline) मिलाकर इसे 0.05 से 0 1 प्रतिशत घोल के रूप में प्रयोग किया जाता है।

(iii) **लिग्नोकेन** (Lignoocaine or Xylocaine) :—यह प्रोकेन से द्वि-गुणी प्रभावकारी औषधि है तथा इससे विषाक्त प्रभाव भी अधिक होते हैं। इसका प्रभाव

1 घन्टे तक बना रहता है। इसे उबाला भी जा सकता है।

(iv) **बेन्जिल एल्कोहल** (Benzyl alcohal) :—इसे 1 से 3 प्रतिशत घोल के रूप में प्रयोग करें। दांत में पीड़ा होने पर इसे दांत की गुहा (Cavity) में डाल दें।

(3) प्रादेशीय संज्ञानाश (Regional anaesthesia)

इसमें संज्ञाहरण औषधि को निश्चित स्थान (जहां का संज्ञानाश करना हो) की ओर जाने वाली तन्त्रिका अर्थात् वातवह नाड़ी के समीप एवं उसके अन्दर सूची-वेध द्वारा पहुंचाया जाता है। इसे कन्डक्शन (Conduction) संज्ञानाश कहते हैं। इसके साथ में अन्तः संचरण संज्ञानाश (Infiltration anaesthesia) भी किया जाता है। इन दोनों के मिलने को प्रादेशीय संज्ञानाश कहते हैं। इससे संवेदना के वेगों (Impulses) का संचारण रुक जाता है। इसे मेरू नाड़ियों या (मेरू तन्त्रिकाओं) की कशेरूकाओं के रन्ध्रों (Vertebral formen) में सूची द्वारा दिया जाता है जैसे—कुक्षिकी जालिका (Coelic plexus) के पास 5% प्रोकेन को ऐड्रिनेलिन के साथ देने से, दोनों (Lessor and greater) कुक्षीय तन्त्रिकाओं में संज्ञानाश होने पर आमाशय के शल्य कर्म किये जा सकते हैं, परन्तु पहले उदर की त्वचा में अन्तः संचरण संज्ञानाश (Infiltration anaesthesia) कर लेना चाहिए। इन दोनों प्रकार के संज्ञानाश के लिए अन्तःसंचरण संज्ञानाश (Infiltration anaesthesia) में प्रयोग किये जाने वाली औषधियों का ही प्रयोग होता है।

(4) मेरू संज्ञानाश (Spinal anaesthesia) :

इसमें उपरोक्त स्थानीय संज्ञाहरण औषधियों को सूचीवेध से सुषुम्ना (Spinal cord) तक पहुंचाया जाता है। इन औषधियों से प्रभावित तन्त्रिकाओं (Nerves) में वेगों (Impulse) का संचारण होना बन्द हो जाता है। औषधि कम मात्रा में देने से केवल संवेदना वेग (Sensory impulses) नष्ट होते हैं। इसे अधिक मात्रा में देने से चेष्टा एवं अनिच्छा (Motor and autonomic) वेग भी बन्द हो जाते हैं। संज्ञाहरण औषधियाँ सिराओं द्वारा शोषित होकर यकृत में पहुंचती हैं, जहाँ पर उनका चयापचय (Metabolism) होता है। इसके पश्चात् वह शरीर से बाहर निकल जाती हैं।

विधि—रोगी को शल्य टेबल के किनारे पर एक करवट लिटायें। उसकी ग्रीवा तथा जानु को पेट की ओर अधिक से अधिक मोड़ दें। इससे कशेरूकाओं के सन्धि स्थान में अधिक अवकाश उत्पन्न हो जाता है। फिर रोगी को इसी स्थिति में स्थिर करके पूयविरोधी द्रव्यों (Antiseptics) से रोगी के पूरे कटि प्रदेश का विशोधन करें। दोनों श्रोणि शिखा (Iliac crest) के उच्चतम स्थान (Highest point) को मिलाने वाली रेखा की त्वचा में (चौथे तथा पांचवें कशेरूकाओं के अवकाश में) स्थानीय-संचरण संज्ञानाश करें। कटिवेध सूची (Lumber puncture

needle) द्वारा पूय अपुतिक विधि (Aseptic technique) से (पहले किसी मोटी

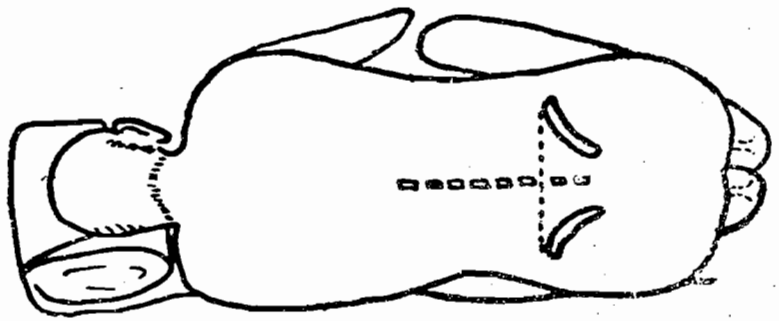

रेखाचित्र न० 10
कटिवेध के लिए आसन

सूची द्वारा त्वचा का वेध करें) कटिवेध-सूची को ठीक शरीर की मध्य रेखा में रखते

चित्र न० 11
कटिवेध सूची

हुए (त्वचा में किये गये छेद से ले जाते हुए) उसे 80 डिग्री के कोण पर (शिर की दिशा में) मोड़कर, दोनों कशेरूक कण्टकों (Spines) के बीच से ले जावें, फिर कण्टकीय स्नायु (Spinus ligament) एवं स्नायु-फलेवम (Ligamentum flavum) का वेध करें। फिर दृढ़-तानिका अथवा ड्यूरामेटर (Duramater) का वेध करके अधः एरेक्नायइड (Sub-arachnoid) अवकाश (Space) में सूची को पहुंचायें [सूची के इस अवकाश में पहुंचते ही सूची से अवरोध (Resistance) तुरन्त कम हो जाता है]। फिर सूची की अन्तः शलाका (Stilet) को निकालकर देखें, उसमें से प्रमस्तिष्क-मेरुद्रव (Cerebro spinal fluid) निकलना चाहिए अन्यथा उसे थोड़ा-सा घुमाकर तथा तनिक सा बाहर निकाल लें तथा फिर से उसी सन्धि में थोड़ी दिशा (कोण) बदलकर पुनः वेध करें या उससे ऊपर की कशेरूका सन्धि में बेध करें। जब मस्तिष्क मेरू द्रव (C. S. F.) आ जाये तो सूची को उसी स्थान में अच्छी तरह हाथ में स्थिर करें एवं संज्ञाहरण औषधि को उसके द्वारा मेरू गुहा में पहुंचा देना चाहिए। सूची को निकालकर तुरन्त रोगी को सीधा या उसकी पीठ के बल आवश्यकतानुसार मोड़कर 5 मिनट तक उसी स्थिति में रखें (ध्यान रहे कि रोगी का शिर तकिये द्वारा शरीर से ऊंचा उठा रहे, अन्यथा सिर के नीचे होने पर औषधि शिर की ओर जाकर श्वास पेशियों

का घात करके श्वास की गति बन्द कर देती है)। इससे औषधि वाञ्छनीय स्थान पर स्थिर (Fix) हो जाती है। गुदा के शल्य कर्मों के लिए रोगी को टेबल पर टांगें नीचे लटकाकर 5 मिनट के लिये बैठाकर औषधि को स्थिर होने दें। अन्य स्थानों के शल्य कर्मों के लिये तदनुसार ही रोगी को विशेष स्थिति में लेटावें तथा उसे उसी स्थिति में 5 से 10 मिनट तक लेटायें रखें, ताकि औषधि उसी स्थान में स्थिर (Fix) हो जाए।

औषधियां—

प्रोकेन (Procaine 5-10 प्रतिशत)

सिञ्चोकेन (Cinchocaine 0·5% in dextrose)

लिग्नोकेन या एमिथोकेन (Lignocaine or Amethocaine 1% solution)

उपद्रव—(i) एपिडयुरल (Epidural) रक्त वाहिनियों के विद्ध हो जाने से अन्तः रक्त स्राव हो सकता है।

(ii) कशेरूकाओं की चक्रिकाओं में सूची से आघात होने पर चक्रिका की च्युति (Prolapse) हो सकती है।

(iii) प्रमस्तिष्क मेरूद्रव (C. S. F.) अधिक निकल जाने से तीव्र शिरः शूल उत्पन्न हो जाता है।

(iv) निर्जीवाणुकरण विधि का ठीक से पालन न करने के कारण संक्रमण होकर मस्तिष्कावरण शोथ हो जाती है।

(v) तन्त्रिकाओं (वातवह नाड़ियों) में आघात होने से आन्त्राघात (Paralytic ilius) तथा अर्धाङ्गघात (Paraplegia) के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

(vi) संज्ञानाश से प्रभावित प्रदेश की रक्तवाहिनियों के प्रसारित होने के कारण शरीर का रक्तभार गिर जाता है, इससे स्तब्धता उत्पन्न हो सकती है। इसके लिए रोगी को तुरन्त मेफन्टीन (Inj. mephentine) का सूचीवेध अन्तः सिरा में दें और फिर सिरागत सूचीवेध द्वारा ग्लुकोस का घोल देते रहें।

(vii) औषधि के उच्चस्तर (High level) तक चले जाने से श्वास की पेशियों का घात होकर श्वास गति बन्द हो जाती है, इसलिए रोगी को कृत्रिम श्वास विधि से श्वास तथा ऑक्सीजन तब तक देते रहें जब तक कि औषधि का प्रभाव समाप्त न हो जाये।

स्थानीय संज्ञाहरण औषधियों के सामान्य उपद्रव—(i) इन औषधियों को अधिक मात्रा में प्रयोग करने से सर्वप्रथम केन्द्रीय तन्त्रिका संस्थान (Central nervous system) उत्तेजित होता है। इससे उत्तेजना (Excitement), बेचैनी, कम्पन (Tremors), श्वास गम्भीर तथा गति में तीव्र, आक्षेप (Convulsions), नाड़ी की

गति में शिथिलता (weak pulse), तारामण्डल विस्फारित (Dilated pupil), अचेतना (Unconsciousness) तथा श्वास गति रुक-रुककर चलने लगती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

(ii) यह हृदयपेशी (Myocardium) को अवसादित (Depress) करती है।

(iii) इससे परिसरीय वाहिनियां (Peripheral vessels) प्रसारित हो जाती हैं जिस कारण रक्त भार गिर जाता है तथा हृदयगति भी बन्द हो सकती है।

(iv) कुछ लोगों को प्रति ऊर्जा प्रतिक्रिया (Allergic reaction) से विचर्चिका (Eczema), तमक श्वास (Asthma) एवं तीव्र ग्राहिका स्तब्धता (Anaphylactic shock) इत्यादि के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

(v) यदि दुर्घटनावश इस औषधि का सिरा में सूचीवेध हो जाये तो इससे केन्द्रीय तन्त्रिका संस्थान (C. N. S.) सहसा उत्तेजित हो जाता है, इससे आक्षेप (Convulsions) आने लगते हैं। आक्षेप आने पर तुरन्त सिरा द्वारा पैन्टोथल सोडियम (Pentothal sodium) दें, ऑक्सीजन तथा कृत्रिम श्वास विधि से श्वास दें तथा रक्त परिभ्रमण के शिथिल होने पर मैफन्टीन (Mephentine) जैसी औषधियों का प्रयोग करें।

19
निर्जीवाणुकरण

(Sterilization)

शल्यकर्म सम्बन्धित उपकरणों एवं व्रण चिकित्सा सम्बन्धित बन्ध इत्यादि को जीवाणुरहित करने को निर्जीवाणुकरण (Sterilization) कहते हैं। वाग्भट्ट ने विकेशिका, पट्टादि व्रण बन्धन उपकरणों को धूपन कर्म (Fumigation) द्वारा शुद्ध करने के लिये कहा है जैसे—

"शुचि वल्क्मा दृढ़ा: कवला: सविकेशिका धूपित:"

सुश्रुत ने भी मांस भक्षी तथा अदृश्य राक्षसों (जीवाणुओं) से बचने के लिए गुग्गुलु, राल तथा अगरादि धूपन द्रव्यों के धूम (Fumes) से व्रण तथा व्रणित को शुद्ध करने के लिये कहा है। सुश्रुत ने जीवाणुओं को अनेक प्रकार के औपसर्गिक रोगों को उत्पन्न करने वाला कहा है। यह जीवाणु सह भोजन (Eating together in a common pot) से, नि:श्वास (Inhalation) से, गात्रस्पर्श (Physical contact) से तथा वस्त्र या माला इत्यादि के द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को संक्रमित करते हैं जैसे—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्नि:श्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रमन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० 5

इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने व्रणित से सम्बन्धित सब वस्तुओं को धूपन द्वारा शुद्ध करने को कहा है। आज से कुछ वर्ष पूर्व रोगी के वस्त्र एवं गृह का निर्जीवाणुकरण करने के लिए गन्धक के धूम का बहुतायत से प्रयोग किया जाता था। परन्तु इसके उपरान्त कई प्रभावकारी विधियों का अन्वेषण होने से आजकल धूम द्वारा निर्जीवाणुकरण नहीं किया जाता।

प्रकार—निर्जीवाणुकरण करने की दो विधियाँ हैं। ये निम्न (अनेक) भेदों में विभाजित की जाती हैं।

(I) निर्जीवाणुकरण की भौतिक विधि (Physical method of sterilization)—

(क) ताप द्वारा (By heat)
  (1) रुक्ष ताप (Dry heat)
  (2) आर्द्र ताप (Moist heat)
(ख) विकिरण द्वारा (By radiation)
(ग) निस्यंदन द्वारा (By filtration)

(II) निर्जीवाणुकरण की रासायनिक विधि (Chemical method of sterilization)—

(1) भौतिक विधि (Physical method)

(क) ताप द्वारा निर्जीवाणुकरण (Sterilization by heat)

(1) **रुक्ष ताप** (Dry heat)—विभिन्न वस्तुओं का निर्जीवाणुकरण विभिन्न प्रकार के रुक्ष ताप द्वारा करना चाहिये, जैसे रक्त वर्ण के ताप (Red-heat) द्वारा तार से निर्मित यन्त्र एवं संदंश यन्त्रों (Forceps) के अग्रिम भाग का निर्जीवाणुकरण करना इत्यादि।

ज्वाला (Flaming) द्वारा सूची (Needles), कांच की वस्तुयें (Slides etc.), वृद्धि पत्र (Scalpel), लोहे तथा इनामल के पात्रों का निर्जीवाणुकरण करना चाहिये। इस विधि में स्प्रिट का प्रयोग किया जाता है। पात्र को स्प्रिट द्वारा भिगो कर इसे आग लगा दी जाती है।

उष्ण ताप (Hot air oven) द्वारा—इसमें ताप प्रायः 160°C तक (When indicator ink turns brown) रखा जाता है, इसमें वस्त्र (Linen), कांच का सामान (Glassware), वृद्धि पत्र (Scalpel), कर्तरी (Scissor), पाउडर, वसा एवं तैल (Fats and oils) की 1·5 cm. मोटी तह इत्यादि को एक घन्टे तक रखने से इनका निर्जीवाणुकरण हो जाता है। 180° ताप पर केवल 20 मिनट ही पर्याप्त होते है, जबकि 120°C पर इन्हें 8 घन्टे तक रखना चाहिये।

इन्फ्रारेड विकिरण (Infrared radiation) द्वारा—इस विधि से सूची वेध यन्त्र (Syringes) का निर्जीवाणुकरण किया जाता है। जब यन्त्रों को ठन्डा करना हो, तब उन्हें निस्यंदित नाइट्रोजन (Filtered nitrogen) का निर्जीवाणुकरण कोष्ठ (Sterilization chamber) में प्रवेश कर देना चाहिए, ताकि ऑक्सीडेशन (Oxidation) न होने पावे।

विद्युत दहन (Electric cautery) द्वारा—जीर्ण व्रणों का दहन करने पर

इनका शोधन एवं छेदन दोनों कर्म हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नख के नीचे आघात लगने से रक्त स्राव होकर जो रक्त इकट्ठा हो जाता है, उसका विस्रावण ताप द्वारा लाल की गई सूची से नख में छेद करके करना चाहिये। तत्पश्चात् इस छिद्र को पूय विरोधी द्रव, जैसे Tr. Benzoin co. द्वारा बन्द (Seal) कर देना चाहिये। यह अपूतीक विधि अपनाने से अधः नख गत व्रण जीवाणु रहित बना रहता है।

(2) आर्द्र ताप (Moist heat)—यन्त्र (Blunt instruments) तथा रबर (Rubber) की वस्तुयें, जैसे मूत्र विस्रावण नाड़ी यन्त्र (Catheters), निकाशनी नाड़ी यन्त्र (Drainage tube), दस्ताने (Gloves), इत्यादि को पानी में दो प्रतिशत (2%) मीठा सोडा अर्थात् सर्जिक्षार (Sodium bicarbonate) डालकर, 30 से 45 मिनट तक उबालना चाहिये।

उष्ण वाष्पों का प्रयोग अधिक दाब (High pressure) पर तीन प्रकार के तापमान डिग्री में किया जाता है जैसे —

(i) 00 डिग्री से कम ताप पर
(ii) 00 डिग्री ताप पर
(iii) 100 डिग्री से अधिक ताप पर

(i) 100 डिग्री से कम ताप, परन्तु अधिक दाब रहने पर दूध तथा टीके (Vaccine) का निर्जीवाणुकरण किया जाता है। बीजाणु उत्पन्न करने वाले जीवाणु (Spore forming bacteria) इस ताप द्वारा नष्ट नहीं हो पाते।

(ii) 100 डिग्री ताप तथा अधिक भार पर बीजाणु न उत्पन्न करने वाले जीवाणु (Non spore forming bacteria) 5 से 10 मिनट में नष्ट हो जाते हैं। इन निर्जीवाणुकृत वस्तुओं को पकड़ने के लिये, लाईसोल के 3% (3% Lysol) घोल में डुबो कर फिर सुखाए हुए चिटल के संदंश यन्त्र (Chittle forceps) का प्रयोग करना चाहिये।

(iii) 100 डिग्री से अधिक ताप अर्थात् 132 डिग्री ताप में आटोक्लेव करने के लिये 15 पौण्ड के दाब (15 lb. Pressure) पर 2-3 मिनट 121 डिग्री ताप पर 12-15 मिनट दें तथा 115 डिग्री ताप पर 30 से 45 मिनट दें। परन्तु ध्यान रखें कि जल वाष्पों के साथ हवा का प्रवेश नहीं होना चाहिये।

रुई, कपड़ा, पाऊडर (Telcum powder), वैसलीन इत्यादि वस्तुओं का निर्जीवाणुकरण इसी विधि द्वारा करना चाहिये। परन्तु रबर की वस्तुओं के लिये 120 डिग्री ताप में 15 पौण्ड दाब पर 10 मिनट का समय ही पर्याप्त होता है।

(ख) विकिरण द्वारा निर्जीवाणुकरण (Sterilization by radiation)—*निर्जीवाणुकरण के लिये दो प्रकार की विकिरणों का प्रयोग किया जाता हैं।*

(i) अल्ट्रावायलट विकिरण (Ultraviolet radiation)—इस विकिरण की तरंग की लम्बाई (Wave length) 330 mμ से कम होने पर ही यह जीवाणुओं को नष्ट कर पाती है। (पृथ्वी पर सामान्य रूप से इसकी तरंग की लम्बाई 290 mμ रहती है) पारा वाष्प लैम्प (Mercury vapour lamp) के द्वारा इस विकिरण को 240 से 280mμ की तरंग में प्राप्त किया जाता है। परन्तु इस लम्बाई की तरंग का प्रकाश विक्षोभ कारक (Irritant) होता है, इसलिये इसके सीधे प्रकाश से त्वचा को, आँख के स्वच्छ मण्डल (Cornea) को तथा शल्यकर्म वाले स्थान (Operation area) को बचाना चाहिये।

(ii) आयनन् विकिरणें (Ionizing radiation)—इन विकिरणों में 'क्ष-विकिरण' (X-rays) तथा 'गामा विकिरण' (γ-rays) का समावेश होता है। ये विकिरणों कोषों (Cells) तथा जीवाणुओं के लिये घातक (Lethal) होती हैं, इसलिए इन विकिरणों को केवल विस्रावण नाड़ी यन्त्रों (Catheters) तथा प्लास्टिक के सूची वेध यन्त्रों (Plastic syringes) के लिये प्रयोग किया जाता है।

(ग) निस्यंदन द्वारा निर्जीवाणुकरण (Sterilization by filtration)—निस्यंदन विधि का प्रयोग जीव विरोधी औषधि के घोल को तथा सीरम को जीवाणु रहित करने के लिये होता है। परन्तु इस विधि से घोल को विषाणु रहित (Free from virus) नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस विधि में प्रयोग होने वाले विशेष स्यन्दन यन्त्रों (Special filters) के छिद्र 0.75μ के प्रमाण के होते हैं। इनमें से विषाणु निकल जाते हैं (Viruses cannot be checked by it), इसलीये इस विधि द्वारा निर्जीवाणुकृत सीरम सुरक्षित (Safe) नहीं माना जाता।

प्रकार—निस्यन्दन यन्त्र निम्न पाँच प्रकार के होते हैं।

(i) Ear barkefeld filter :—यह स्यन्दन यन्त्र Klesselguhr fossil diatomaceous से निर्मित होता है। यह V, W तथा N के नाम से 3 प्रकार का होता है। इस यन्त्र को प्रयोग करने से पूर्व इसका निर्जीवाणुकरण कर लेना चाहिए।

(ii) Chamber land filter :—यह खुरदरे पोरसलिन (Unglased porcelien) द्वारा निर्मित होता है। इसमें तीन श्रेणियाँ अर्थात् L1, L2 तथा L3 होती हैं। इनका प्रयोग जीवाणु विषों (Bacterial toxins) से जीवाणुओं को अलग करने के लिये किया जाता है।

(iii) Sicetz filter—इस निस्यन्दन यन्त्र का निर्माण Asbestos द्वारा होता है।

(iv) Sintered glass filter—यह यन्त्र अति सूक्ष्म कांच के कणों (Finely ground glass) द्वारा, उनको चिपकाकर बनाया जाता है।

(v) Cellulose membrane filter—यह स्यन्दन यन्त्र Cellulose acetate की परतों से निर्मित होता है। इसकी ऊपरी परत 5 से 10 म्यू परिमाण के छिद्र वाली तथा नीचे की परत 3 से 5 म्यू व्यास के छिद्र वाली होती है। इसको प्रयोग करने से पूर्व इसका 121 डिग्री तापमान (121°C) पर आटोक्लेव (Autoclave) द्वारा निर्जीवाणुकरण कर लेना चाहिये। इसमें स्यन्दन 100-200 mm. Hg. के दाब पर किया जाता है।

(vi) Centrifugal filter: —इस विधि का प्रयोग तब किया जाता है जब नमूना द्रव (Sample fluid) की मात्रा बहुत ही कम हो।

II निर्जीवाणुकरण की रासायनिक विधि (Chemical method of sterilization)—निर्जीवाणुकरण के लिये दो प्रकार के पदार्थ प्रयोग में लाए जाते हैं।

(A) रासायनिक पदार्थ अति प्रभावकारी होते हैं, परन्तु उनका विषज प्रभाव भी साथ रहता है। इनका प्रयोग निर्जीव पदार्थों का निर्जीवाणुकरण करने के लिये किया जाता है जैसे—

(i) **Volatile antiseptics**—क्लोरोफार्म को 0·25% बल (Strength) में प्रयोग किया जाता है, फिर इसे 56 डिग्री तापमान पर उड़ा दिया जाता है। इस विधि से वर्धी जीवाणु (Vegetative bacteria) नष्ट हो जाते हैं।

(ii) **Phenol group** :—इसके अन्तर्गत (Lysol 3%, Creasol 0·1% तथा Phenol 0·5% के घोलों का समावेश होता है। इनसे सीरम तथा टीके (Seras and vaccins) का रक्षण (Preservation) किया जाता है। इनका प्रयोग शस्त्रों के निर्जीवाणुकरण के लिये भी किया जाता है।

(iii) **Metallic salts**—Mercuric chloride को 1/1000 के घोल के रूप में तथा Merthiolate को 1/10,000 के घोल के रूप में प्रयोग किया जाता है। इनमें विष विरोधी द्रव (Antitoxins) तथा अन्य सीरमों (Other vaccins) का रक्षण (Preservation) किया जाता है।

(vi) **Formaldehyde (40% W/V)**—यह जल में घुलनशील गैस है जो कि विक्षोमक (Irritent) तथा बीजाणु (Spores) तक के लिये भी घातक (Lethal) होती है। यह अति प्रभावकारी होते हुये सस्ती तथा कपड़ों एवं चमड़े को हानिप्रद नहीं होती। इसको (जल में) घोल के रूप में प्रयोग किया जाता है।

(v) **Ethylene oxide**—यह गैस विस्फोटक होती है, इसलिए इसका

प्रयोग 10% कार्बनडाई ऑक्साइड के साथ किया जाता है। इसका उबलने का तापमान केवल 10·7°C होता है इसलिये यह तुरन्त सूख जाता है। इसे प्लास्टिक तथा रबर के पदार्थों व Heart lung machine के निर्जीवाणुकरण के लिये उपयोग किया जाता है।

(B) दूसरे वे रासायनिक (Chemical) पूयविरोधी पदार्थ होते हैं (Antiseptics) जो कि निर्विष होते हैं तथा जिनका प्रयोग जीवों (Animates) पर किया जाता है। ये प्रतिरोधि बीजाणुओं (Resistant spores) पर अपनी क्रिया करने में असमर्थ होते हैं। जैसे—

Acreflavin, Boric acid, Crystal violet, Potassium permagnate etc.

निर्जीवाणुकरण के लिये प्रायः प्रयोग में लाई जाने वाली उपरोक्त विधियों का सारांश (Abstract)—

(1) शल्य कक्ष के लिये = 1 : 0 कार्बोलिक अम्ल।

(2) कपड़ों को धोबी को देने से पूर्व शोधन करने के लिये = 1 : 20 कार्बोलिक अम्ल।

(6) लैम्प (Bulbs) इत्यादि के लिये = Spirit

(4) रबर या कैन्वस के जूतों के लिए = 1 : 20 कार्बोलिक अम्ल

(5) शल्य कक्ष की वायु शोधनार्थ = अल्ट्रावाईलेट विकिरणें

(6) कपड़ों (Linen) के लिये = Steam in 20 lbs Pressure/Sq inch.

(7) रबर के दस्ताने (Gloves) के लिये—5 lb. का दाब 15 मिनट के लिये या उन्हें 20 मिनट तक उबालें।

(8) यन्त्रों (Blunt instruments) के लिये—प्रति लीटर जल में एक चम्मच मीठा सोडा डालकर उबालें या 15 lb दाब पर 20 मिनट तक आटोक्लेव करें।

(9) केटगट तथा तीक्ष्ण धार शस्त्रों (Sharp instruments) के लिये इन्हें लाईसोल (lysol) का स्प्रिट में 25% घोल बनाकर इसमें एक सप्ताह तक रखें, फिर साबुन से धोकर 20 मिनट के लिये पानी में उबालें तथा फिर प्रयोग करने के लिये स्प्रिट तथा lysol के 25% घोल में रख दें।

(10) धागे अर्थात् सूत्र (Threads)—इन्हें 20 मिनट तक उबालें या फिर 20 lb दाब पर 20 मिनट तक आटोक्लेव करें।

(11) इनामल के पात्रों के लिये—इन्हें 20 मिनट तक उबालें।

(12) चिटल संदंश यन्त्र (Chittel forceps)—इसे 20 मिनट तक उबाल कर फिर 1% डिटोल के घोल में रख दें।

(13) निदानकीय उपकरण (Diagnostic instruments) :—इन्हें 12 घन्टे फार्मलडिहाईड के वाष्पों में रखें।

(14) व्रण बन्धनार्थ (Dressing) के लिए—1 : 1000 एक्रीफलेविन का घोल

(15) हाथ धोने के लिये—1 : 1000 Perchloride of mercury lotion or 1 : 160 dettol lotion

(16) मूत्राशय धावनार्थ 2% बोरिक अम्ल।

(17) अव्रणित त्वचा के लिए—70% सुरा (Alcohol)

(18) चिकनाई हटाने के लिए—Solvent ether

NOTE :—Strong solution of tincher iodine should not be used for skin, especially on face, scrotum etc. i.e. on soft skin 1% mercurocrome in spirit should not be used in open wounds, as it precirpitates proteins of the tissues.

20

क्षार-कर्म

"क्षरणात् क्षणनाद् वा क्षारः"

"जो शरीर की त्वक्, मांसादि धातुओं का क्षरण या क्षणन् अर्थात् नाश करता है, उसे क्षार कहते हैं।" इसका प्रयोग दुष्ट अथवा अनावश्यक धातुओं को नष्ट करने के लिए किया जाता है। ऐसे ही कास्टिक सोडा, कास्टिक पोटाश इत्यादि तीव्र क्षार भी धातुओं का क्षरण करते हैं। क्षार (Caustics) स्वभाव से ही क्षरण करने (Corrosive action) वाले होते हैं। रजत क्षार (Silver nitrate) को दुष्ट व्रणों (Indolent ulcers), पोथकी (Trachoma), कर्णिका (Callus) इत्यादि व्याधियों में धातुओं का क्षरण करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

क्षार की प्रधानता :

(1) यह छेदन, भेदन तथा लेखन तीनों कर्मों को एक साथ करता है। यह नासार्श, नासार्बुद इत्यादि संकीर्ण स्थानों (Narrow cavities) की व्याधियों को नष्ट करने में समर्थ होता है, जहां पर कि शस्त्र की पहुंच भी कठिन होती है।

(2) यह विभिन्न औषधियों से निर्मित होने के कारण तीनों दोषों को नष्ट करने में सक्षम होता है।

(3) क्षार उन मर्म स्थानों में भी प्रयोग किया जा सकता है जहां पर शस्त्र कर्म से मर्माभिघात होने का भय रहता है।

(4) पानीय क्षार का अनेक सार्वदैहिक रोगों में मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है।

(5) क्षार में नष्ट धातुओं को शीघ्रता से नष्ट करने का सामर्थ्य होता है।

क्षार के प्रकार :

क्षार दो प्रकार का होता है—

(1) **प्रतिसारणीय क्षार**—इसका बाह्य रोगों में स्थानीय प्रयोग होता है।

(2) **पानीय क्षार**—इसका प्रयोग आभ्यन्तर रोगों में मुख द्वारा किया जाता है।

क्षार दोष :

अतिमार्दव शैत्योष्ण्य तैक्ष्ण्य पैच्छिल्यसर्पताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते।

अर्थात् अति कोमल, अतिशीतल, अतिउष्ण, अति तीक्ष्ण, अतिपिच्छल, बहुत फैलने वाला, अतिघना, अपक्व एवं हीन द्रव्यों से बना हुआ क्षार दोषयुक्त होता है।

क्षार प्रतिसारण विधि :

रोगी को प्रकाश वाले एवं वायु रहित घर में बैठाकर प्रशस्त तिथि, नक्षत्र एवं मुहूर्त देखकर क्षार का प्रतिसारण करें। क्षार को रुग्ण स्थान पर दर्व्याकृत शलाका द्वारा लगाकर प्रशस्त समय तक के लिए प्लोत से ढक दें। नासार्बुद में इसे पञ्चाशत् मात्रा तक रखते हैं, वाग्भट्टानुसार। सुश्रुत ने क्षार को सौ गिनने तक लगाने को कहा है। क्षार लगाने से उत्पन्न आचूषण तथा निपीड़न की प्रतीति, रोग शान्त होने पर स्वतः ही शान्त हो जाती है। फिर अङ्ग से वस्त्र द्वारा क्षार को अलग करके अम्ल द्रव से उसका प्रक्षालन करें। काञ्जी जैसे अम्ल पदार्थ, आग्नेय तथा उष्णवीर्य होते हुए भी, क्षार की क्षरता का (माधुर्य भाव प्राप्त होने के कारण) शान्त कर देते हैं। अम्ल तथा क्षार (Acids & alkalies) के मिलने से माधुर्य भाव (Neutralisation and salt) का निर्माण होता है।

$$2NaOH + 2HCl = 2NaCl + 2H_2O$$

$$Alkali + Acid = Neutral\ salt + Water$$

क्षार में अम्ल रस को छोड़कर अन्य सब रस होते हैं। शीत स्पर्श वाले अम्ल रस से मिलने पर क्षार अपनी तीक्ष्णता को छोड़कर मधुरता को प्राप्त हो जाता है। क्षार को दग्ध व्रण में अम्ल रस से प्रक्षालन करने के पश्चात् घृत व मधु या घृत, मुलहठी एवं तिल कल्क का लेप करें। रोगी को दधि, मांसादि अभिष्यन्दी पदार्थ खाने को न दें। वात दुष्टि में क्षार से लेखन करना चाहिए। पित्त दुष्टि में घर्षण तथा कफ दुष्टि में क्षार को, पाञ्छे लगाकर शलाका से लगाना चाहिए।

सम्यक् दग्ध के लक्षण—सम्यक् दग्ध रोग पर रोग की शान्ति होती है, स्राव का अभाव हो जाता है, अङ्गों में लघुता आ जाती है, दग्ध स्थान निम्न तथा पक्व जामुन फल सदृश कृष्ण वर्ण का हो जाता है।

हीन दग्ध के लक्षण—रुग्ण स्थान पर तोद, कण्डु तथा जड़ता रहती है एवं रोग बढ़ जाता है। स्थान का वर्ण ताम्रवर्ण सदृश हो जाता है। हीन दग्ध होने पर उस स्थान पर पुनः क्षार से दग्ध करना चाहिए।

अतिदग्ध के लक्षण— क्षार द्वारा रुग्ण स्थान की स्वस्थ धातुओं के नष्ट होने पर दाह, पाक, लालिमा (Inflammatory signs), शोथ, स्राव, अङ्गमर्द, ग्लानि, तृषा, मूर्च्छा तथा, मृत्यु भी हो सकती है। वाग्भट्टानुसार अतिदग्ध में ज्वर तथा रुधिर स्राव भी होता है।

क्षार निर्माण विधि :

क्षार का निर्माण दोष तथा व्याधि के अनुसार, भिन्न-भिन्न औषधि वृक्षों से किया जाता है। मुष्क (मोखा), कुटज, पलाश, अश्वकर्ण, फिरहद, आरग्वध तिल्वक, अर्क स्नुही, अपामार्ग, पाटला, करञ्ज, वासा, चित्रक, कदली, अग्निमंथ इत्यादि की आवश्यकतानुसार (द्रव्यों के पञ्चाङ्ग को) लेकर एवं छोटे-छोटे टुकड़े करके शुष्क लेते हैं। सूखने पर अग्नि द्वारा जलाकर इनकी भस्म बना लें। शक्तिशाली क्षार के निर्माणार्थ तिल नाल को भी इनके साथ जलाना चाहिए। अब दो भाग शुष्क भस्म तथा एक भाग कुटजादि किसी अन्य औषधि की भस्म को लेकर छः गुणा जल अथवा गोमूत्र में मिलाकर इसे इक्कीस बार कपड़े से छान लें। इस विलयन को लोहे की कड़ाही में डालकर अग्नि पर रखकर दर्वी (कड़छी) से हिलाते हुए पकायें। जब इसमें से उग्र गन्ध आने लगे तथा यह निर्मल और चिपचिपा बन जावे तब इसको वस्त्र से छानकर दो भाग कर लें। एक भाग क्षारोदक तथा दूसरा भाग नीचे बैठा हुआ किट्टभूत क्षार होता है। अब निथारे हुए स्वच्छ क्षारोदक को पुनः पकावें तथा उसमें से एक कुड़व (आठ पल) क्षारोदक को लौह पात्र में, शुक्ति इत्यादि बुझाने के लिये पृथक रख लें। इसमें शंख नाभि, जलशुक्ति, कटशर्करा (गंगोष्ठी) या सुधा शर्करा को कुल आठ पल लेकर, अग्नि में खूब गर्म करके बार-बार बुझायें। इसकी भस्म होने पर या यदि कुछ छोटे-छोटे टुकड़े शेष रह जायें तो उन्हें पीसकर क्षारोदक में मिलाकर थोड़ा घना होने तक पकावें। अब इसे लोहे के घड़े में मुख बन्द करके रख दें। इस तरह मध्यम क्षार बनता है। यदि समय के प्रभाव से यह क्षार मृदु हो जाए तो इसमें उपरोक्त विधि से बनाए क्षारोदक को डालकर पकाने से इसमें पुनः तीक्ष्णता आ जाती है। उपरोक्त विधि से प्रतिसारणीय क्षार बनाया जाता है। यदि इसमें शंखादि को न डाला जाए तो मृदु क्षार (संव्यूहित क्षार) बनता है। यदि मध्यम क्षार में तीक्ष्ण औषधि-चूर्णों का प्रक्षेप मिलाकर पकाया जाए तो तीक्ष्णक्षार (पाक्य क्षार) बनता है।

प्रक्षेप द्रव्य—दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लाङ्गली, पूतिक, प्रवाल, मूसली, विड्नमक, सज्जीक्षार, स्वर्णक्षीर, वच तथा अतिविषा, प्रत्येक का शुक्ति प्रमाण में चूर्ण मिलाना चाहिये।

क्षार के गुण :

नवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिव शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः॥

अर्थात् न अति तीक्ष्ण, न अति मृदु, शुक्ल वर्ण, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, अविष्यन्दी, शिव (सौम्य) तथा शीघ्रकारी, ये क्षार के आठ गुण कहे गए हैं।

विषय :

नासार्बुद—इसमें नासा को ऊपर उठाकर क्षार लगाया जाता है।

पोथकी—पोथकी इत्यादि वर्त्मगत रोगों में अक्षिगोलक को ढककर क्षार लगाया जाता है।

अर्श—अर्श में रक्तस्राव रोकने के लिए तथा अर्श के मस्सों के क्षरण के लिए क्षार का प्रयोग करें [इसका प्रयोग आभ्यन्तरिक अर्श में ही करना चाहिए क्योंकि डैन्टेट रेखा (Dentate line) के नीचे के अर्श (बाह्यार्श) में क्षार लगाने से अत्यधिक वेदना होती है]। एक बार में अधिक क्षार का प्रयोग करने से गुद विकार या मृत्यु [प्राणदा नाड़ी (Vagus) के संक्षोभ (all of a sudden stimulate) होने से] भी हो सकती है। अतः यदि अधिक क्षरण करना हो, तो थोड़ा-थोड़ा करके कई बार क्षार पातन करना चाहिए।

भगन्दर—क्षार द्वारा भगन्दर नाड़ी को नष्ट करें। **कुष्ठ, दुष्टव्रणादि में क्षार** से दुष्ट धातुओं का क्षरण होता है। उपजिह्विका, अधिजिह्विका, चर्मकील इत्यादि व्याधियों को भी क्षार नष्ट करता है। क्षार, भीरू एवं बाल रोगियों में पक्वशोथ का दारण करने के लिये प्रयोग किया जाता है।

पानीय क्षार—

पानीय क्षार का प्रयोग सार्वदैहिक रोगों में मुख द्वारा किया जाता है। पानीय क्षार का निर्माण प्रतिसारणीय क्षार की भांति होता है, किन्तु इसे पकाकर घना नहीं किया जाता तथा न ही इसमें प्रक्षेप द्रव्य मिलाये जाते हैं। दो पल, एक पल या आधा पल (तीक्ष्ण, मध्यम या मृदु क्षार के अनुसार) क्षार द्रव्यों की भस्म को लेकर छः गुणे जल में मिलायें, फिर इक्कीस बार छानकर, पात्र में 1/3 भाग शेष रहने तक पकाएं। सुश्रुत ने गुल्म चिकित्सा में लेह्य (पानीय) क्षार निर्माण करने को कहा है। इसमें अपेक्षाकृत मृदु प्रक्षेप द्रव्य मिलाये जाते हैं, जैसे–तिल, तालमखाना इत्यादि। पलाशादि द्रव्यों को जलाकर उनकी भस्म को चार गुणा गोमूत्र में घोलकर छान लें, फिर इसमें कुष्ठ, सैंधा नमक, मुलहठी, विडङ्ग तथा समुद्र नमक का प्रक्षेप डालकर लेह्य क्षार की तरह गाढ़ा (घन) होने तक पकाएं।

मृदु पानीय क्षार (Dilute alkali) को आमाशय की अम्लता के निःस्सरण के लिए और वातरक्त में मूत्र की प्रतिक्रिया को क्षारीय बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

विषय—पानीय क्षार का सबसे अधिक प्रयोग उदर तथा गुल्म रोगों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह गर विष, अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, अश्मरी, आभ्यन्तर-विद्रधि, कृमि, विष, अर्श तथा कफादि को नष्ट करने के लिये, भी प्रयोग में लाया जाता है।

अधिक प्रयोग से हानि––क्षार के अधिक प्रयोग से अन्धता, हृदयवेदना, पाण्डुता, खालित्य तथा पालित्य रोग उत्पन्न होते हैं। पिप्पली तथा लवण की भांति इसका भी अत्यधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

"अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिकः।
.....तद्यथा पिप्पली, क्षार, लवणमिति।"

क्षार निषेध––अतिशीत, अति उष्ण, वर्षाकाल, आकाश के मेघाच्छादित होने पर; दुर्बल, बालक, भीरू, गर्भिणी, स्थावर विषयुक्त, उदर रोगी, सर्वाङ्ग शोथ से पीड़ित रोगी, रक्तपित्त, ज्वर, प्रमेही, रूक्ष, क्षतक्षीण, अतिसार, पाण्डु, तृषा, मूर्च्छा क्लैव्य, अण्ड या योनि विकार, वमन-विरेचन द्वारा संशोधित पुरुष में, मर्म, सिरा, धमनी, सन्धि, तरुणास्थि एवं सेवनी के रोग में; गल, नाभि, नखान्त, उपरथ भाग, जानू, ललाट तथा अल्प मांसयुक्त स्थानों में क्षार का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

21
अग्नि कर्म

अग्नि से तप्त किए हुए अनेक प्रकार के उपकरणों द्वारा, शरीरगत व्याधि को नष्ट करने के लिये जो दहन कर्म किया जाता है उसे अग्नि-कर्म (Cautery) कहते हैं। डल्हण ने अग्नि से सम्बन्धित सब चिकित्सा कर्मों को अग्नि कर्म कहा है। आजकल अनेक रोगों में विद्युत् दहन (Electric cautery) द्वारा अग्नि-कर्म किया जाता है, जैसे नासार्श, गर्भाशय-ग्रीवा-व्रण तथा रक्त स्कन्दनादि के लिए। धातुओं का छेदन तथा भेदन करने के लिए तीव्र विद्युत दहन (Diathermy cautery) का प्रयोग किया जाता है। कार्बनडाईऑक्साइड स्नो (Carbon dioxide snow) द्वारा शीतदग्ध उत्पन्न होता है। डल्हण के मतानुसार शीत दग्ध भी दाह के सदृश ही होता है।

"हिमदग्धेऽपि दाह सादृश्यमस्ति।"

अग्नि-कर्म की प्रधानता :

क्षार कर्म को अनुशस्त्रों में श्रेष्ठ माना जाता है। अग्नि-कर्म को निम्नलिखित गुणों के कारण क्षार से भी श्रेष्ठ माना जाता है।

(i) अग्नि-कर्म द्वारा एक बार नष्ट हुए रोग पुनः उत्पन्न नहीं होते।

(ii) औषध द्वारा असाध्य रोग अग्नि-कर्म द्वारा साध्य होते हैं।

(iii) अग्नि तप्त शस्त्र (Diathermy knife) द्वारा छेदन कर्म भी किया जाता है (इस विधि से छेदन कर्म करने पर रक्त स्राव नहीं होता) जैसे––

"अग्नि तप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्॥"

(iv) अग्नि तप्त शस्त्र से छेदन करने पर पाक (Infection or pus) का भय नहीं रहता अन्यथा **'अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयस्यात्'** अर्थात् बिना अग्नि तप्त शस्त्र द्वारा छेदन कर्म करने पर पूय पड़ने का भय रहता है।

दहन-उपकरण तथा दहन विधि :

भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों में अग्नि कर्म करने के लिए कम या अधिक अग्नि की आवश्यकता होती है, जैसे––त्वचा में कम अग्नि से दग्ध हो जाता है, मांस

में इससे अधिक तथा अर्बुदादि के अग्नि कर्म करने के लिए सबसे अधिक अग्नि की आवश्यकता पड़ती है। अतः अग्नि कर्म करने के लिए अनेक प्रकार के उपकरणों का वर्णन किया गया है, जैसे—पिप्पली, अजाशकृद् (बकरी की मींगण), गोदन्त, क्षार, शलाकाएं (जैसे जाम्बवौष्ठ, इतर लौहादि), मधु, गुड़, स्नेह तथा सूजंरस। अष्टाङ्ग संग्रह के अनुसार सूर्यकान्त मणि, कांस्य एवं स्वर्ण की सूची, घृत-वसादि दाह कर्म के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

भिन्न-भिन्न उपकरणों का प्रयोग आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न रोगों में किया जाता है। जैसे—

(i) मशक, तिलकालक इत्यादि त्वचा विकारों में सूर्यकान्त मणि, पिप्पली, अजाशकृद्, शर-शलाका या गोदन्त का प्रयोग करें।

(ii) मांस दग्ध के लिए—जाम्बवौष्ठ-शलाका, इतर लोह या वसा का प्रयोग करें।

(iii) सिरा-स्नायु तथा सन्धिगत रोगों के लिए—मधु, गुड़ तथा स्नेह का प्रयोग करें।

शलाकाओं द्वारा अग्नि कर्म अनेक प्रकार के चिन्ह अंकित करके किया जाता है, जैसे—

(i) **वलय**—(⊙) यह दग्ध कर्म अर्बुद के चारों ओर मुद्रिका का चिन्ह बनाकर किया जाता है।

(ii) **बिन्दु**—(.) इसमें दग्ध कर्म बिन्दु के आकार में किया जाता है।

(iii) **विलेखा**—यह दग्ध अनेक प्रकार की रेखाएं बनाकर किया जाता है।

(iv) **प्रतिसारण**—इसमें तप्त शलाकाओं से घर्षण किया जाता है। अष्टाङ्ग संग्रहकार ने तीन प्रकार के अन्य दग्ध भी बताए हैं, जैसे—

(i) **अर्धचन्द्र**—(U) इसमें आधे चन्द्रमा के आकार में दग्ध किया जाता है।

(ii) **स्वस्तिक**—(卐) यह दग्ध स्वस्तिक के आकार का होता है।

(iii) **अष्टापद**—(❀) यह दग्ध आठ चिन्हों वाला होता है।

विधि :

शुभ दिन, शुभ नक्षत्र एवं मुहूर्त को देखकर मूढ़ गर्भ, अश्मरी, भगन्दर तथा मुख रोगों से ग्रस्त रोगियों को बिना कुछ खिलाए अग्निकर्म करें। अन्य व्याधियों से ग्रस्त

रोगियों को पुष्टिकर एवं पिच्छिल अन्न खिलाने के उपरान्त, पूर्व दिशा में प्रकाश की ओर मुख करके बैठायें। अब निर्धूम अग्नि में दहन उपकरणों को तप्त करके सम्यक् दग्ध के लक्षण उत्पन्न होने तक दग्ध करें। रोग का शान्त हो जाना, स्राव का नष्ट हो जाना तथा अङ्गों में लघुता का आ जाना इत्यादि सम्यक् दग्ध के लक्षण हैं।

दग्ध के लक्षण :

(i) **त्वक् दग्ध :**—इसमें शब्द होता है, त्वक् संकोच होता है तथा दुर्गन्ध आती है।

(ii) **मांस दग्ध :**—इसमें वेदना तथा अल्प शोथ के साथ व्रण संकुचित शुष्क तथा कपोत वर्ण का हो जाता है।

(iii) **सिरा दग्ध :**—इसमें रुधिर का स्राव रुक जाता है। सिरा उन्नत तथा व्रण कृष्ण वर्ण का हो जाता है (कृष्ण वर्ण स्कन्दित रक्त के कारण होता है)।

(iv) **स्नायु दग्ध :**—इसमें व्रण स्थिर, कर्कश तथा अरुण वर्ण का होता है।

महर्षि कश्यप के काल में सिरा एवं स्नायु दग्ध को (सन्धि तथा अस्थि मर्म के दग्ध की भाँति) वर्जित कहा गया था, परन्तु सुश्रुत काल में सिरा एवं स्नायु का दग्ध किया जाता था।

विषय (Indications) :

अश्मरी में [शस्त्र कर्म के एक सप्ताह के उपरान्त (डल्हण)] तथा मूत्र स्रावी व्रणों में दग्ध कर्म करें। कर्कश, कठोर, स्थिर तथा पृथु अर्श, भगन्दर के भेदनोपरान्त, प्लीहा वृद्धि, अर्बुद, ग्रन्थि, अपची, गलगण्ड, मशक, तिलकालक, आन्त्रवृद्धि, वल्मीक, अधिदन्त, दन्तनाड़ी, शीतदन्त, अधिमाँस, वातवेदनायें तथा विषज व्रण के शस्त्र कर्म के पश्चात भी दग्ध कर्म न करें।

अयोग्य (Contra-Indications) :

पित्त प्रकृति में, भिन्न कोष्ठ होने पर एवं रक्त-पित्त में दग्ध कर्म न करें। चरके के अनुसार तृषा, ज्वर, सविष शल्य, स्नायु तथा मर्म स्थित व्रण, नेत्र व्रण, कुष्ठज व्रण तथा गर्भिणी में दग्ध कर्म न करें।

———

22

रक्त विस्रावण

शरीर में रक्त की उत्पत्ति देशसात्म्य, कालसात्म्य तथा ओकसात्म्य (सम्यक् आहार-विहार) से होती है।

"रक्तं जीव इति स्थितिः' सु० सू० 14

यह रक्त जीवन देने वाला एवं इन्द्रगोप या गुञ्जा के सदृश लाल वर्ण का होता है। इससे रञ्जित वस्त्र धोने के बाद साफ हो जाते हैं (यह शुद्ध रक्त का लक्षण है)। शुद्ध रक्त (Oxygenated blood) स्वाद में मधुर तथा लवण रस वाला, अशीतोष्ण स्पर्श वाला, असंहत (न पतला न गाढ़ा) अर्थात् 1055 आपेक्षिक घनत्व वाला, 78% जल तथा 22% घन भाग वाला होता है।

"त्वग्दोषार्ता ग्रन्थयः शोफाः रोगाः शोणितजाश्च ये।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन।" सु०सू० 14

रक्त मोक्षण करने से त्वचा के रोग, ग्रन्थियां, शोफ एवं रक्त जन्य रोग नहीं होते।

दुष्टि के हेतु :

दूषित, उष्ण एवं तीक्ष्ण, मद्यसेवन करने से; क्षार तथा कटु रस के अधिक सेवन करने से; तिल तैल एवं कुलत्थादि से, विरुद्ध आहार से, स्निग्ध या रूक्ष एवं गुरू भोजन के पश्चात् दिन में सोने से, वायु एवं धूप का अधिक सेवन करने से, छर्दि का वेग रोकने से, अजीर्ण से एवं स्वभाव से ही शरद ऋतु में रक्त दूषित हो जाता है, दूषित रक्त में दोषानुसार निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं—

वात दुष्टि—इसमें रक्त फेनिल, अरुण या कृष्ण वर्ण का (पाकाभिमुख होने पर), परुष (कम पिच्छिल), तनु, शीघ्रगामी (अधिक स्रवित होने वाला) तथा अस्कन्दी (जमने की कम प्रवृत्ति वाला) होता हैं।

पित्त दुष्टि—पित्त से दूषित रक्त नील, हरित, पीत एवं श्याव वर्ण का, विस्र गन्ध युक्त, अनिष्ट (चिऊटियों में ज्ञेय) तथा अस्कन्दी होता है।

श्लेष्म दुष्टि—श्लेष्मा से दूषित रक्त पाण्डु-लोहित वर्ण का, स्निग्ध, शीतल, बहल (घन), पिच्छिल, चिरस्रावी तथा गाढ़ा होता है।

रक्तज रोग—

त्वक् दोष, मशक, ग्रन्थिरोग, नीलिका, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त, प्लीहा वृद्धि,

रक्त प्रदर, गुद, मुख, एवं मेढ्र पाक इत्यादि रोग दुष्ट रक्त से उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त चरक ने उपकुश, विसर्प, रक्तपित्त, वातरक्त, विद्रधि, गुल्म, रक्त मेह, प्रदर, कण्डू, कोठ, पिड़िका तथा कुष्ठादि अनेक रोगों को रक्तज रोग माना है।

रक्त-विस्रावण—शरीर में से उचित मात्रा में रक्त विस्रावण करा देने से रक्तगत दोष शांत हो जाते हैं। इससे उपरोक्त रक्तज-व्याधियाँ भी शांत हो जाती हैं। रक्त विस्रावण से रक्त धातु के पश्चात् उत्पन्न होने वाली उत्तरोत्तर धातुयें। (जैसे—मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र इत्यादि) भी शुद्ध हो जाती हैं।

रक्त विस्रावण को शोफ चिकित्सा के सप्त उपक्रमों में द्वितीय स्थान दिया गया है, क्योंकि दोषों के स्थान-संश्रय से पूर्व (प्रसरावस्था में) ये रक्त में परिभ्रमण करते हैं तथा इस काल में रक्त विस्रावण से ये दोष आसानी से बाहर निकल जाते है और दोषों का धातुओं में स्थान संश्रय नहीं होता। इसके परिणाम स्वरूप शोफादि रक्तज व्याधियाँ उत्पन्न ही नहीं हो पातीं।

रक्त-विस्रावण विधि :

रक्त-विस्रावण सौम्य ऋतु (शरद काल अर्थात् न अधिक उष्ण एवं न ही अधिक शीत ऋतु) में करें। विस्रावण स्थान पर अल्प स्वेद देकर तथा दो तीन बार तिल, तण्डुल एवं घृत युक्त यवागू (सद्यः स्नेहार्थं) खिलाकर रक्त-विस्रावण करना चाहिये। जब सम्यक् रक्त निकल जाए तथा रोगी लघुता का अनुभव करने लगे, उस का मन प्रफुल्लित हो जाये और व्याधि का वेग भी कम हो जाये तो रक्त का सम्यक् विस्रावण हुआ समझें। अल्प विस्रावण होने पर एला, कर्पूर, तगर, पाठा तथा कुष्ठ के चूर्ण का विस्रावण स्थल पर घर्षण करें। अधिक रक्त विस्रावण से कम रक्त विस्रावण अच्छा होता है, क्योंकि रक्त विस्रावण के पश्चात् शेष दोष शीतोपचार से शांत किये जा सकते हैं। अधिक रक्त विस्रावण से आक्षेप एवं अंधत्वादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। सिरावेध द्वारा अधिक से अधिक, युवा में एक प्रस्थ, मध्यम बल वाले व्यक्ति से आधा प्रस्थ तथा हीन बल वाले व्यक्ति में चौथाई प्रस्थ रक्त निकालना चाहिये।

**बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः
परं प्रस्थप्रमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥ सु० शा० 8 ॥**

(1 प्रस्थ = 13½ पल, एक पल = 4 तोला, 1½ तोला = 1OZ) अधिक रक्त भार (High B. P.) होने पर 12—25 OZ रक्त वाला निकाला जा सकता है। रक्त विस्रावण के पश्चात् अग्नि मन्द हो जाती है (क्योंकि अग्नि रक्त के सधर्मी होने से पित्ताश्रित रहती है)। अतः रक्त विस्रावणोपरान्त रोगी को दीपनीय द्रव्यों का सेवन करना चाहिये।

रक्त-विस्रावण के भेद :

I अशस्त्र विस्रावण—

1. **जलौका**—दुष्ट रक्त के गम्भीर धातुओं में (अवगाढ़) रहने पर तथा पित्त दोष से दूषित होने पर जलौका द्वारा रक्त निकालें। यह एक हस्त परिमाण तक का दूषित रक्त निकाल लेती है।

2.. **तुम्बी**—यदि दुष्ट रक्त अवगाढ़तर हो या वह कफ दोष से दूषित हो तो तुम्बी से रक्त निकालें। तुम्बी 12 अंगुल तक का रक्त स्रवित कर देती है।

3. **शृंङ्ग**—यदि दुष्ट रक्त अवगाढ़तम हो तथा वात दोष से दूषित हो तो शृंङ्ग से रक्त निकालें। यह 10 अंगुल तक का रक्त निकाल देता है।

II शस्त्र विस्रावण—

"शस्त्र विस्रावणं द्विविधं प्रच्छानं सिराव्यधनं च ॥"

1. **प्रच्छान**—रक्त के पिण्डीभूत होने पर या अल्पदोष युक्त होने पर (जैसे क्षुद्र कुष्ठ में) रक्त विस्रावण के लिये प्रच्छान विधि का प्रयोग करें।

2. **सिरावेध**—अवगाढ़तम या सर्वशरीरगत दोष होने पर (जैसे महाकुष्ठों में) सिरावेध द्वारा विस्रावण करना चाहिये।

स्राव्य व्याधियाँ :

निम्न व्याधियों की शाँति के लिये रक्त विस्रावण कर्म करना चाहिये—

सन्निपातज को छोड़कर अन्य सब विद्रधियाँ, शोथ, श्लीपद, विष, कुष्ठ, विदारिका तथा कण्ठशालूकादि में रक्त विस्रावण करायें।

अस्राव्य अवस्थायें :

मद, मूर्च्छा एवं कास से पीड़ित रोगी में तथा मल-मूत्र एवं वायु का अवरोध होने पर रक्त विस्रावण नहीं कराना चाहिए। अत्युष्ण काल में, अत्यधिक स्वेदन देने के पश्चात् (रक्त स्राव अधिक होने की सम्भावना रहती है, जिससे अन्धत्व आक्षेपादि उपद्रव हो जाते हैं), सर्वांग शोथ होने पर, अल्प भोजन से उत्पन्न क्षीण रोगी में, पाण्डु, अर्श, शोथ, उदररोग, शोष रोगी तथा गर्भिणी में विस्रावण नहीं करना चाहिये। अत्यधिक शीत ऋतु में तथा भोजन के पश्चात् रक्त विस्रावण न करायें क्योंकि रक्त के आभ्यन्तरिक अवयवों में चला जाने से वह कम स्रवित होता है।

सम्यक् विस्रावण :

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।

सम्यग्विस्रावितेलिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥ सु० सू० 14

अच्छी प्रकार से रक्त विस्रावण होने पर शरीर में लघुता, वेदना शांति, रोग वेग का ह्रास और प्रसन्नता होती है।

जलौका

जलौका (Leech) को सर्वश्रेष्ठ अनुशस्त्र माना है। जल में रहने के कारण इसे जलौका कहते हैं। जल में रहने के कारण पित्तदोष में इसका प्रयोग किया जाता है। जलौका द्वारा रक्त विस्रावण विशेषकर बालक, वृद्ध, भीरू, स्त्री, नृप, धनी तथा कोमल प्रकृति वाले व्यक्तियों में करना चाहिये।

भेद :

जलौकायें दो प्रकार की होती हैं—

(1) सविष जलौका

(2) निर्विष जलौका

(1) सविष जलौका—सविष जलौकायें विपैली मछलियों एवं कीट-पतंगादि के मूत्र एवं पुरीष युक्त तथा सड़े व गन्दे जलाशयों में पाई जाती हैं। सविष जलौकायें छः प्रकार की होती हैं—

(i) कृष्णा, (ii) कर्बुरा, (iii) अलगर्दा, (iv) इन्द्रायुधा, (v) गोचन्दना, (vi) सामुद्रिका।

(i) **कृष्णा**—यह कृष्ण वर्ण की स्थूल शिरवाली जलौका होती है।

(ii) **कर्बुरा**—यह बड़ी मत्स्य की तरह विस्तृत तथा कुक्षि से ऊंची नीची होती है।

(iii) **अलगर्दा**—इसका मुख काला तथा शरीर बालों से युक्त होता है।

(iv) **इन्द्रायुधा**—यह इन्द्र धनुष की तरह बहुवर्ण युक्त होती है।

(v) **गोचन्दना**—इसका मुख सूक्ष्म होता है तथा यह नीचे से अण्डकोष की तरह दो भागों में विभक्त होती है।

(vi) सामुद्रिका—कालापन लिये हल्के रंगीन धब्बों वाली सामुद्रिका जलौका होती है।

(2) निर्विष जलौका—ये स्वच्छ, कमल, पुण्डरीक पुष्प तथा शैवाल से

युक्त जलाशयों में रहती है। इन पर नीली धारियाँ रहती हैं तथा उदर पीलापन लिये होता है। यह छः प्रकार की होती हैं—

(i) कपिला, (ii) पिंगला, (iii) शङ्कुमुखी, (iv) मूषिका, (v) पुण्डरीकमुखी, (vi) सावरिका।

(i) **कपिला**—इसका वर्ण पार्श्व से मनः शिला की तरह रहता है तथा उदर पीत वर्ण का होता है।

(ii) **पिंगला**—यह गोल शरीर वाली, लाल एवं पिंगल वर्ण की तथा तीव्रता से चलने वाली होती है।

(iii) **शङ्कुमुखी**—यह यकृत की तरह सलेटी वर्ण की, लम्बे एवं तीक्ष्ण मुख वाली तथा रक्त का शीघ्रपान करने वाली होती है।

(iv) **मूषिका**—मूषिका (चूहे) की तरह भूरे रंग की एवं उसकी पूंछ के समान आकार की तथा अप्रिय गन्ध से युक्त होती है।

(v) **पुण्डरीक मुखी**—यह मूंग के समान हरे रंग की तथा कमल पुष्प के समान विस्तृत मुख वाली होती है।

(vi) **सावरिका**—सावरिका जलौका बड़े आकार की अर्थात् 18 अंगुल लम्बी तथा कमल के पत्र की तरह गहरे हरे वर्ण की होती है।

पालन विधि—

जलौका को पालने के लिये इन्हें शरद ऋतु में पकड़ना चाहिये। जलौका को चमड़े या माँसपेशी पर घृत लगाकर पकड़ें तथा इनको कीचड़ एवं जल से युक्त घड़े में डाल दें। इनके विश्राम के लिये घट में कुछ तृण डाल देने चाहियें। प्रत्येक दो या तीन दिन पश्चात् इस घट का जल बदलते रहें। इनके खाने के लिये शुष्क माँस तथा जल में उत्पन्न वनस्पतियों के कन्दों का चूर्ण घट में डाल देना चाहिये।

अयोग्य जलौका—

सविष जलौकाओं के अतिरिक्त निम्न गुणों वाली जलौकाओं को विस्रावण के अयोग्य समझना चाहिये।

जो मध्य से स्थूल हों, विस्तीर्ण हों, मन्द गति वाली हों, देखने में विकृत आकार वाली तथा न लगने वाली हों और अल्प रक्तपान करने वाली जलौकाओं का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इनसे अनेक तरह के रोग उत्पन्न होते हैं—जैसे तीव्रशोफ, कण्डु, ज्वर, दाह, छर्दि, मद, अंगसाद तथा मूर्च्छा। इन्द्रायुधा रोगी को असाध्य अवस्था में पहुंचा देती है। इनकी चिकित्सा के लिये विष चिकित्सा में वर्णित महागदों का प्रयोग करना चाहिये।

विषय:—

क्षुद्र कुष्ठ, विद्रधि, रुधिर विकार, वातरक्त तथा पैत्तिक ग्रन्थि में जलौका का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति में इसका प्रयोग अधिक रक्त-भार (High blood pressure), हृदय रोग, तीव्र शुष्क पार्श्व-शूल (Acute dry pleurisy) तथा फुफ्फुस रक्ताधिक्य (Hyperaemia of lung) में करते हैं।

लगाने की विधि:—

जलौका लगाने से पूर्व उसे सरसों या हल्दी के कल्कोदक से अच्छी तरह से मलें फिर उसे कुछ देर के लिये स्वच्छ जल में रख दें, इस कर्म से उसकी थकान दूर होने पर वह शीघ्रता से लग जाती है।

जलौका लगाने वाले स्थान को पहले मिट्टी या गोबर से रूक्ष कर दें, फिर व्रण स्थान को एक छिद्र युक्त कागज या कपड़े से ढक दें। उस छिद्र में से जलौका को (गीले तथा मृदु कपड़े से पकड़कर) लगायें। यदि जलौका रक्त का पान न करे तो उस स्थान पर रक्त, क्षीर (दुग्ध) या घृत की एक बूंद लगा दें। यदि जलौका फिर भी रक्त का पान न करे तो दूसरी जलौका का प्रयोग करें; जब जलौका रक्त पान करती है तो वह अश्वखुर की भांति ग्रीवा तथा मुख को ऊपर को उठा लेती है। रक्त पान के समय उसे गीले कपड़े से ढककर उस पर बूंद-बूंद जल डालते रहना चाहिये। जलौका पहले दूषित रक्त का पान करती है। जब वह शुद्ध रक्त का पान करने लगती है तो उस स्थान पर तोद और कण्डू होने लगती है; ऐसा होने पर जलौका को हटा देना चाहिये। यह जलौका खींचने पर न हटे तो उसके मुख पर व्रण तथा हरिद्रा चूर्ण डाल दें, इससे वह तुरन्त हट जाती है। एक समय में 10 जलौकायें लगाई जा सकती हैं। यदि एक ही जलौका हो तो उसकी पुच्छ में सुई से छिद्र करदें इससे जलौका को बार-बार वमन कराने की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी पुच्छ में छिद्र करने पर जितने रक्त का वह पान करती है उतना ही रक्त उस छिद्र से निकल जाता है। व्रण में यदि कुछ अशुद्ध रुधिर शेष रह जाये तो उसके दंश स्थान पर हरिद्राचूर्ण, गुड़ और मधु लगाकर मर्दन करके वहाँ से कुछ रक्त निकाल दें। हिरूडीन (Hirudine) पदार्थ जलौका की लार से निकलता है। उसके व्रण में रहने पर अत्यधिक रक्तस्राव हो सकता है।

(3 grams of hirudine is anticoagulant for 100 c. c. of blood) रक्त स्राव रोकने के लिये उस स्थान का शीतल जल से सिंचन करें या रक्तस्कन्दन की अन्य विधियों का प्रयोग करें। जलौका को हटाकर दंश स्थान पर तण्डुल त्वक् का चूर्ण भुरकें तथा तैल और लवण से मर्दन करें। जलौका को वमन कराने के लिये उसे पूंछ से पकड़कर दूसरे हाथ की अंगुली तथा अंगुष्ठ द्वारा पूंछ से मुख की ओर लाते जायें। [क्योंकि जलौका के आमाशय के विवर (Cavities) आगे या मध्य की ओर को खुलते हैं (Stomach opens anteriorly and

medially)] अधिक जोर से मसल देने से जलौका की मृत्यु हो जाती है, इसलिये वमन कराते समय उसे अधिक जोर से नहीं दबाना चाहिये। सम्यक वमन होने पर जलौका को जल में छोड़ दें। फिर वह भोजन के लिये इधर-उधर भागती है। एक ही जलौका होने पर उसका पुनः प्रयोग एक सप्ताह के पश्चात कराना चाहिये। जलौका पानी में छोड़ने पर यदि डूब जाये तो उसे और अधिक वमन कराना चाहिये, अन्यथा उसे इन्द्रमद नामक रोग हो जाता है जिससे जलौका मर जाती है।

अल्प दोषयुक्त तथा अल्पकालीन व्याधियों में स्त्री जाति की जलौका लगायें। इसका शिर छोटा तथा शरीर का उर्ध्वभाग बड़ा होता है और त्वचा पतली होती है। अधिक दोष होने पर तथा चिरकालीन रोग में पुरुष जाति की जलौका लगायें। इसका सिर बड़ा तथा शरीर का ऊर्ध्व भाग छोटा और त्वचा मोटी होती है।

शृङ्ग (Cupping by horn)

शृंग शब्द से गौ-शृंग को ही लेना चाहिये। यह 18 अंगुल लम्बा तथा इसका लगने वाला भाग 3 अंगुल का होता है। इसके आचूषण करने वाले भाग पर चूचुक के समान या सरसों के बीज के बराबर छिद्र होता है। शृंग उष्ण, मधुर और श्लक्षण होने से इसे वात प्रधान रोगों में प्रयोग किया जाता है। वाग्भट्ट ने वात के साथ पित्त दोष होने पर तथा वात रक्त के कारण अंगों में कण्डू और प्रसुप्तता होने पर भी शृंग का प्रयोग करने को कहा है। इसके द्वारा त्वचा गत स्थित रुधिर को भी निकाला जाता है।

शृंग का प्रयोग विद्रधि में, वातवृद्धि में तथा कठिन मण्डल कुष्ठ में, स्वेदन एवं लेखन करने के पश्चात्, रक्त निकालने के लिये करना चाहिये।

प्रयोग विधि :

जिस स्थान पर शृंग लगाना हो वहाँ पर प्रच्छान लगाकर उस पर शृंग रख दें। फिर उसके सूक्ष्म छिद्र में से बलपूर्वक आचूषण करें। इससे वहाँ पर निर्वात स्थिति (Vacuum) उत्पन्न हो जाती है। अब उसके मुख को बन्द कर देना चाहिए (प्लाप्टिकादि लगाकर मुख बन्द करने से उसमें निर्वात स्थिति बनी रहती है)। जब शृंग को हटाना हो तो उसका मुख खोल देना चाहिये। मुख के द्वारा आचूषण करने के स्थान पर आचूषण यन्त्र (Suction balls or pump) का भी प्रयोग किया जा सकता है। शृंग में अधिक निर्वात स्थिति उत्पन्न होने पर यह अवगाढ़तम स्थान का भी रक्त को खींच लेता है। अलाबू में इससे कम निर्वात स्थिति उत्पन्न होती है इसलिये वह केवल अवगाढ़तर दूषित रक्त को ही निकाल सकता है। जलौका की आचूषण शक्ति और भी कम होने से वह केवल दुष्ट रक्त को ही निका

सकती है, इसलिये दुष्ट रक्त के गम्भीर न होने पर जलौका को प्रयोग करना चाहिए। शृंग, जलौका एवं अलाबू को क्रमशः वात, पित्त एवं कफ दोषों में एवं क्रमशः अवगढ़तम, अवगाढ़ तथा अवगाढ़तर अवस्थाओं में प्रयोग करना उचित प्रतीत होता है।

अलाबू (Cupping by gourd)

अलाबू यन्त्र की लम्बाई 12 अंगुल तथा व्यास 3-4 अंगुल होता है। इसमें एक ओर कोटर (Cavity) रहती है तथा दूसरी ओर यह खुला रहता है। अलाबू (लौकी) कटु, रूक्ष एवं तीक्ष्ण होने से कफ दोषों में रक्त विस्रावण के लिए प्रयोग में लाई जाती है। कफ और वायु से दुष्ट रक्त में, वात-रक्त में तथा दोषों के अवगाढ़तर या त्वचा में होने पर इनको प्रयोग करना उचित होता है। जिस स्थान पर अलाबू लगाया जाता है वहाँ रक्तिमा उत्पन्न हो जाता है तथा इस प्रतिक्षोभक (Counter irritent) प्रभाव से गम्भीर स्थानों में रक्ताधिक्य (Hyperaemia) कम हो जाता है।

प्रयोग विधि—

अलाबू अर्थात् घटिका, (वाग्भट्ट के अनुसार) का प्रयोग निर्वात स्थिति के सिद्धांत पर किया जाता है। पहले रुग्ण स्थान पर एक दीपक जला देते हैं। फिर उस दीपक के ऊपर अलाबू (घटिका) को उल्टा करके रख देते हैं। कुछ समय तक दीपक जलता रहता है, परन्तु अलाबू के अन्दर स्थित वायु (Oxygen) का उपयोग हो जाने पर दीपक बुझ जाता है। इस अलाबू में आंशिक निर्वात स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अलाबू को इस स्थिति में 10 से 15 मिनट तक रखा जाता है। इससे वहां की त्वचा ऊपर को खिच जाती है और वहाँ पर रक्तिमा उत्पन्न हो जाती है। यदि व्याधि ग्रस्त स्थान पर प्रच्छान लगा करके अलाबू को रखा जाए तो वहां से रुधिर भी निकल जाता है। आजकल अलाबू के स्थान पर दीपक पर शीशे का ग्लास रखते हैं। इसे Cupping कहते हैं।

प्रच्छान (Scarification)

पिण्डित रुधिर का अवसेचन करने के लिए तथा व्याधि के त्वचा गत होने पर प्रच्छान कर्म किया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रलुप्त, वातरक्त, क्षुद्रकुष्ठादि रोगों में जिनमें कि दोष या व्याधि अत्यधिक बढ़ी हुई हो, उनमें प्रच्छान द्वारा रक्त निकालना चाहिए।

विधि—

तीक्ष्ण शस्त्र से सिरा, स्नायु, अस्थि इत्यादि मर्म को बचाकर सम्यक् प्रकार

से (न बहुत गहरा हो, न बहुत पास-पास हो, न अधिक तिर्यक् (oblique) हो और न एक के ऊपर दूसरा प्रच्छान लगा हो) नीचे से ऊपर की ओर को प्रच्छान लगाने चाहियें।

सिरावेध (Venesection or venepuncture)

शल्य चिकित्सा में सिरावेध को चिकित्सा का आधा भाग माना जाता है।

(सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः)

वा:भट्ट ने तो इसकी प्रधानता दिखाते हुये इसे विभिन्न रोगों की सम्पूर्ण चिकित्सा ही कह दिया है।

विधि--

वर्षा ऋतु में जब बादल न हों, ग्रीष्म ऋतु में तीसरे पहर में (जब उष्णता अत्यधिक न हो) तथा शीत ऋतु में जब अत्यधिक शीत न हो, रोगी को स्नेहन, स्वेदन देकर तथा द्रव बाहुल्य यवागु को खिलाकर मत्स्य समान चञ्चल सिराओं को उपयुक्त स्थानों से बांधकर स्थिर करें।

"क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥" सु० शा० 8

क्षीण, अधिक दोष वाले एवं मूर्च्छा से पीड़ित रोगी में सिरावेध अपराह्ण में दूसरे या तीसरे दिन करना चाहिये।

सिरा बांधने के स्थान—पाद सिरावेध से जानु सन्धि के नीचे, परन्तु व्यध स्थान से 4 अंगुल ऊपर से बाँधें। हस्त सिरावेध में कूर्पर सन्धि के नीचे से बांधें। न बाँध सकने वाले स्थान पर (जैसे कंधा, वक्ष, पीठादि) रोगी को ऐसी स्थिति में बैठाना या खड़ा करना चाहिए जिससे व्यध स्थान खिच जाये, जैसे श्रोणि, पीठ एवं कंधे की सिरावेध में रोगी को आगे को झुकायें, शिर नीचे को करें तथा रोगी को बैठाकर सिरावेध करें। ऐसे ही पेट या वक्ष में वेधन करने के लिए छाती या पेट को फुलाकर शिर को ऊपर को तथा थोड़ा पीछे को हटाकर सिरावेध करना चाहिये। मेढ्र में झुका कर, तालु में मुख खोलकर तथा अधोजिह्वा में जिह्वा को मोड़कर सिरावेध करें।

उत्तमाङ्ग की सिराओं के लिए रोगी को बैठाकर, शिर तथा घुटनों को इतना समीप लायें ताकि गर्दन पर मुट्ठी बन्द करके हाथ रखने से कूर्पर सन्धि स्थान घुटनों तक पहुंच जाए, या फिर शटक यन्त्र को ग्रीवा तथा घुटनों में डालकर उसे कपड़ा निचोड़ने की तरह तब तक ऐंठते जायें जब तक कि सिरा का उत्थान न हो जाये। इस समय रोगी को अपने मुख में हवा भर लेनी चाहिए। इन उपरोक्त उपायों से सिराओं का उत्थान तथा नियन्त्रण करके ही सिरावेध करना चाहिये।

सिरावेध विधि—

सिराओं का अच्छी प्रकार से उत्पन्न तथा उन्हें नियन्त्रित करके, व्रीहि मुख

शस्त्र या कुठारिका से (सिराओं के गम्भीर या उत्तान स्थिति के अनुसार), आधे यव के बराबर सिरा वेधन करें। ठीक परिमाण में वेधन करने के लिए शस्त्र का तीक्ष्ण होना (पायना द्वारा साधित शस्त्र) तथा शस्त्र कर्म में हस्त कुशलता (Balanced hand) का होना अत्यावश्यक होता है। रक्त के अल्प मात्रा में स्रवित होने पर सिरा मुख पर तैल, लवण व तगरादि का चूर्ण मलना चाहिये या रोगी के पृष्ठ के मध्य भाग का पीड़न करना चाहिए। कुसुम पुष्प को तोड़ने से जैसे उससे पहले पीत स्राव होता है वैसे ही सिरावेध से सर्वप्रथम दुष्ट रक्त का स्राव निकलता है। रक्त विस्रावण के पश्चात् व्रण का शीतल जल से प्रक्षालन करना चाहिये तथा फिर सिरा के मुख पर तैल का प्लोत रखकर उसे बांध देना चाहिए।

सुविद्धा सिरा—शस्त्र से सिरावेधन करने पर यदि रक्त धार रूप में निकलने लगे तथा एक मुहूर्त समय में रक्त स्राव रुक जाये (अर्थात् एक मूहूर्त समय के बाद दबाव हटाने पर रक्त स्राव स्वतः बन्द हो जाता है) तो इसे सुविद्धा कहते हैं। इसके पश्चात् रोगी प्रसन्नचित रहता है, जठराग्नि सम्यक् रहती है तथा रोगी अपने को स्वस्थ एवं बलशाली अनुभव करता है। रक्त विस्रावण के पश्चात् रोगी को अनुष्ण-शीत, दीपनीय एवं लघु भोजन देना चाहिए।

दुष्ट व्यधन--अनुपयुक्त शस्त्र से, अनुपयुक्त समय में तथा कार्य कुशलता विहीन वैद्य द्वारा किया गया सिरावेध दुष्ट व्यधन कहलाता है। इससे 20 प्रकार के सिराओं के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

यथा—

(1) **दुर्विद्धा**--अल्प मुख शस्त्र में कम वेधन होना।

(2) **अतिविद्धा**—बड़े (दीर्घ) शस्त्र के कारण सिरा का अधिक कट जाना।

(3) **कुट्टिता**—हस्त कौशल न होने के कारण सिरा का दोनों ओर से वेध हो जाना।

(4) **पिच्चिता**—कुण्ठित शस्त्र से सिरा का कुचला जाना।

(5) **अत्युदीर्ण**—सिरा का अधिक कट जाना।

(6) **शस्त्रहता**—तीक्ष्ण शस्त्र से सिरा का पूर्ण रूप से कट जाना।

(7) **तिर्यक् विद्धा**—सिरा का तिरछा कट जाना (Oblique cut)।

(8) **अपविद्धा**--अनेक छिद्र युक्त विद्ध होना।

(9) **पुनः पुनर्विद्धा**—कम छिद्र होने पर पुनः वेधन करना।

(10) **धनुका**—सिरा का नीचे से ऊपर की ओर को अनेक स्थानों से विद्ध होना।

(11) **अन्तः विद्धा**:—सिरा के अन्तः भाग (Inner side) से वेधन होने के कारण रक्त का कम मात्रा में स्रवित होना।

(12) **कुणिता**—यदि शस्त्र ठीक प्रकार से न चलने पाए तो सिरा का 1/4 भाग ही कटता है।

(13) **कुञ्चिता**—अधिक कटने से अधिक रक्त स्राव का होना।

(14) **अप्रसृता**—अति शीत ऋतु में या मूर्च्छादि रहने पर सिरा में वेधन करने से रक्त का कम परिमाण में निकलना।

(15) **परिशुष्का**—वायु के कारण पतली तथा अल्प रक्त वाली सिराओं का वेधन करना।

(16) **अव्यध्या**—अवेध्य सिराओं का वेधन करना।

(17) **वेपिता**:—सिरा के ठीक से नियन्त्रित न होने पर हिलती हुई सिरा को काटने से उनका विषम (Irregular) रूप में कट जाना।

(18) **अनुत्थित विद्धा**—बिना उत्थान किये सिरा का वेधन करने से ठीक से वेधन नहीं होता।

(19) **विद्रुता**:—सिरा को चंचलावस्था में अर्थात् बिना नियन्त्रित किए वेधन करना।

(20) **मांसादि विद्धा**—मांस तथा अन्य मर्मों का साथ में वेधन हो जाना।

रोगानुसार सिरावेध—

(1) पादहर्ष, अवबाहुक, खञ्ज, क्रोष्टुशीर्ष, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक एवं विचर्चिका रोगों में पैर के क्षिप्र मर्म से 2 अंगुल ऊपर की सिरा अर्थात् पाद पृष्ठिका सिरा जाल (Dorsal venous plexus) का वेधन करें।

(2) **खञ्ज, क्रोष्टुशीर्ष, पंङ्गु एवं वात वेदनाओं में**—गुल्फ से 4 अंगुल ऊपर ह्रस्वोत्ताना सिरा (Small saphenous vein) का वेधन करें।

(3) **अपची में**—इन्द्रवस्ति मर्म से 2 अंगुल नीचे ह्रस्वोत्तान सिरा का वेधन करें।

(4) **विश्वाची तथा गृध्रसी में**—कूर्पर/जानु सन्धि से 4 अंगुल ऊपर या नीचे की सिरा का वेध करें।

(5) **गलगण्ड में**—अंसमूल में स्थित और्वीसिरा का वेध करें।

(6) **प्लीहा वृद्धि में**—वाम भुजा के दो स्थानों पर वेध करें। कूर्पर सन्धि के सामने की मध्य बाहु की योजनी सिरा (Median cubital vein) में या कनिष्ठिका एवं अनामिका अंगुली में स्थित मध्य सिरा (First dorsal metacarpal vein) में वेध करें।

(7) **यकृदाल्युदर, कास तथा श्वास रोगी में**—उपरोक्त प्लीहा वृद्धि वाली दक्षिण ओर की सिराओं का वेध करें।

(8) **प्रवाहिका जन्यशूल में**—श्रोणि प्रदेश में चारों ओर की दो अंगुल क्षेत्र में स्थित सिराओं (Superficial circumflex iliac veins) का वेधन करें।

(9) **परिकर्तिका, उपदंश, शूक दोष एवं शुक्र सम्बन्धी विकारों में :**—पृष्ठिका सिरा (Superficial dorsal vein of penis) का वेध करें।

(10) **पार्श्वशूल एवं अन्तर्विद्रधि में**—वामपार्श्व का कक्षा और स्तन के मध्य की सिरा (Long thoracic vein) का वेधन किया जाता है।

(11) **बाहुशोष एवं अवबाहुक में**—अंसों के मध्य स्थित सिरा का वेध करें।

(12) **तृतीयक ज्वर में**—त्रिक्सन्धि के मध्य स्थित सिरा का वेधन करें।

(13) **चतुर्थक ज्वर में**—अंश सन्धि अधः स्थित किसी भी पार्श्व की शिरा का वेध करें।

(14) **अपस्मार में**—हनुसन्धि के मध्य की सिरा का वेध करें।

(15) **उन्माद में**—शंख प्रदेश तथा केशान्त सन्धिगत सिरा (Superficial temporal vein) या उरः, अपांग या ललाट की सिरा का वेध करें।

(16) **दन्त व्याधि या जिह्वा रोगों में**—अधो जिह्वा सिरा (Sublingual vein) का वेधन करें।

(17) **तालू गत रोगों में**—तालवीय सिरा का वेधन करें।

(18) **कर्ण रोगों में**—कान के ऊपर या आस-पास की किसी सिरा का वेधन करें।

(19) **नासागत रोगों में**—नासा-ग्रसनिका सिरा का वेधन करें।

(20) **तिमिर तथा नेत्रपाकादि नेत्र विकारों में**—उपनासिका सिरा का, ललाट की सिरा का या अपांग की सिरा का वेधन करें।

(21) **शिर के रोग तथा अधिमन्थ में**—उपनासिका सिरा का अथवा ललाट या अपांग की सिरा का वेधन करें।

वाग्भट्ट के अनुसार यदि उपरोक्त सिरायें दिखाई न दें तो उस स्थान के मर्म को बचाते हुए समीप की किसी अन्य सिरा का वेधन करना चाहिए।

पूर्व वर्णित रोग, जैसे महाकुष्ठ, प्लीहावृद्धि, विसप, विषदुष्ट, श्लीपद, रक्तपित्त, विद्रधि तथा अनेक अन्य रक्तज रोगों में जबकि व्याधि बढ़ गई हो या दोष अत्यधिक दुष्ट हो चुके हों या विसर्पादि तथा रक्त भाराधिक्य रोगों में जब व्याधि का तत्काल शमन करना हो तो सिरावेध द्वारा रक्त निकालना चाहिये। आजकल भी रक्तभाराधिक्य (High blood pressure) तथा रक्ताधिक्यजन्य हृत्कार्यावरोध (Congestive cardiac failure) में रक्तविस्रावण (Venesection) कराया जाता है।

23

मर्म

(VITAL ORGANS)

"मारयन्तीति मर्माणि"—आचार्य डल्हण के मतानुसार जिन स्थानों पर आघात लगने से मृत्यु होती है उनको मर्म कहते हैं।

मर्माघात प्राय: मृत्युकारक होता है, परन्तु यदि मर्माघात का रोगी बच भी जाये तो मर्म में विकलता आ जाती है या कृच्छ्र साध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मर्म—मर्म महत्वपूर्ण स्थान होते हैं। इनमें प्राण विशेष रूप से रहते हैं तथा ये मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के मिलने से बनते हैं।

मर्म के भेद :

मर्म संख्या में 107 होते हैं। मर्मों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है।

(I) संरचना के अनुसार मर्म भेद।
(II) शरीर भागानुसार मर्म भेद।
(III) आघात परिणामानुसार मर्म भेद।
(IV) चरक मतानुसार मर्म भेद।
(V) परिमाणानुसार मर्म भेद।

(I) संरचना के अनुसार मर्म भेद :—

सब प्रकार के मर्म मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि के संयोग से बनते हैं। संरचना की दृष्टि से उनका नाम उस धातु के नाम पर रखा जाता है जिस धातु की संरचना (जो धातु) उस मर्म में अधिक रहती है। संरचना के आधार पर मर्म पांच प्रकार के होते हैं।

(1) मांस मर्म	11
(2) सिरा मर्म	41
(3) स्नायु मर्म	27

(4) अस्थि मर्म	8
(5) सन्धि मर्म	20
कुल योग	107

मर्म (मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि) को तर्पण (पोषण) करने के लिये वात, पित्त, कफ, एवं रक्त को वहन करने वाली चार प्रकार की शिरायें प्राय: सब मर्मों में रहती हैं। मर्माघात से तन्त्रिका के प्रभावित होने से बढ़ी हुई (प्रवृद्ध) वायु इन शिराओं को आच्छादित करके (Affect these vessels) तीव्र पीड़ा उत्पन्न करती हैं तथा चेतन का नाश करती हैं। इसलिए मर्म में से शल्य निकालते समय इन वाहिनियों को बचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इन मर्मों के बिद्ध होने से उत्पन्न लक्षणों का वर्णन आगामी मर्म विज्ञान तालिका में किया गया है।

(II) शरीर भागानुसार मर्म भेद—

मर्मों को शरीर के विभिन्न भागों में उनकी स्थिति के अनुसार पाँच भेदों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) टाँग के मर्म	$=11\times2=22$
(2) बाहु के मर्म	$=11\times2=22$
(3) उदर एवं वक्ष के मर्म	$=12$
(4) पीठ के मर्म	$=14$
(5) उर्ध्वजत्रुगत मर्म	$=37$
कुल योग	$=107$

शरीर भागानुसार विभाजित मर्मों के नाम, रोग एवं संख्या का वर्णन आगामी मर्म विज्ञान तालिका में किया गया है।

(III) आघात परिणामानुसार मर्म भेद—

मर्मों पर आघात होने के परिणाम के अनुसार मर्म निम्नलिखित पाँच प्रकार के होते हैं।

(1) सद्य:प्राण हर मर्म—19	(2) कालान्तर प्राणहर मर्म—33
(3) विशल्यघ्न मर्म —3	(4) वैकल्यकर मर्म —44

(5) रूजाकर मर्म —8

कुल =107

(1) **सद्यः प्राणहर मर्म**—ये मर्म आग्नेय गुण प्रधान होते हैं। इन पर आघात लगने से शरीर से अग्नि गुणों का शीघ्रता से ह्रास हो जाता है तथा इससे रोगी सात रात्रि से पहले ही मर जाता है। मृत्यु से पूर्व रोगी को तीव्र वेदना होती है, रूप रसादि इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान का नाश हो जाता है तथा मन एवं बुद्धि में विपरीतता आ जाती है। ये संख्या में 19 होते हैं। जैसे—

"शृंगाटकान्यधिपतिः शंखौ कण्ठसिरागुदम्।
हृदयं वस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि तु॥ सु० शा० 6

अधिपति	—1	गुद	—1
हृदय	—1	वस्ति	—1
नाभि	—1	शंख	—2
शृंगाटक	—4	मातृका (कंठसिरा)	8

आचार्य चरक ने इनमें से हृदय, मस्तिष्क तथा वस्ति को मुख्य मर्म माना है। (C.e Tripod of life) फुफ्फुस का भी हृदय में ही समावेश समझना चाहिए। इनको **त्रिमर्म** नाम भी दिया गया है। अन्य मर्मों पर आघात से मृत्यु का कारण अप्रत्यक्ष रूप से (Indirecly) ये तीनों ही मर्म होते हैं। इन तीनों में भी हृदय को चेतना का विशेष स्थान कहा गया है अर्थात् "**तद् हृदयं विशेषेण चेतना स्थानम्।**"

हृत् कार्य नष्ट (Heart failure) होने से मृत्यु होती है। जिन स्थानों पर वेगस तन्त्रिका (Vagus nerve) के तन्तु अधिक रहते हैं (जैसे-गुदा, पर्युदया कला, नाभि तथा कण्ठ) उन स्थानों पर तीव्र आघात होने से, वेगस् के अत्यधिक उत्तेजित होने के कारण हृदय गति में अवरोध होकर तुरन्त मृत्यु हो सकती है।

(2) **कालान्तर प्राणहर मर्म**—ये मर्म सौम्य तथा आग्नेय गुण प्रधान होते हैं। इन पर आघात होने से यद्यपि अग्नि शीघ्रता से क्षीण हो जाती है, तथापि सौम्य गुण उसे क्षीण होने से कुछ देर तक रोके रखता है, इसलिए रोगी की कालान्तर में (15—30 दिन में) मृत्यु होती है। इन मर्मों पर आघात लगने से धातुक्षय के लक्षण तथा वेदना होती है। ये संख्या में 33 होते हैं जैसे—

बृहती	—2	नितम्ब	—2
पार्श्व सन्धि	—2	कटिक तरुण	—2
इन्द्र वस्ति	—4	क्षिप्र	—4
तल हृदय	—4	सीमन्त	—5

वक्ष के मर्म—

स्तन मूल—2	स्तन रोहित—2
अपलाप —2	अपस्तम्भ—2

(यदि इनसे मर्म आघात के कारण निरन्तर कई दिन तक थोड़ा-2 रक्तस्राव होता रहे तो यह रक्तस्राव मृत्यु का कारण होता है)।

(3) **विशल्यघ्न मर्म**—यह वायव्य गुण प्रधान मर्म होते हैं। इनमें से शल्य को बाहर निकालते समय मर्म की वायु भी बाहर निकल जाती है, इस कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है (शल्य रहने पर मृत्यु नहीं होती) इन मर्मों पर आघात होने से विकलता (Deformity) उत्पन्न हो जाती है। ये मर्म मारक बहुत कम होते हैं। ये संख्या में 3 होते हैं।

"उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत्।'

उत्क्षेपी—2	स्थपनी—1

(4) **वैकल्यकर मर्म**—ये मर्म सौम्य होने के कारण आघात होने पर भी प्राणों को सहारा देते रहते हैं। इन पर तीव्र आघात से कदाचित् ही मृत्यु होती है। इनमें आघात से स्थाई विकलता (permanent disability) उत्पन्न हो जाती है। ये संख्या में 44 होते हैं, जैसे—

बाह्वी	—2	कण्ठा	—2
जानू	—2	कुकुन्दर	—2
उर्वी	—2	कक्षाधर	—2
विटप	—2	विधुर	—2
कूर्पर	—2	कृकाटिक	—2
अंस	—2	आवर्त्त	—2
अंसफलक	—2	कूर्च	—4
अपांग	—2	आणि	—4
नीला	—2	लोहिताक्ष	—4
मन्या	—2	मणिबन्ध	—2

(5) **रूजाकर मर्म**—ये मर्म आग्नेय तथा वायव्य गुण प्रधान होते हैं, इस कारण इनमें पीड़ा विशेष रूप से होती है। इनमें आघात लगने पर यदि चिकित्सा की व्यवस्था ठीक से न की जाए तो विकलांगता उत्पन्न हो जाती है। इन मर्मों पर आघात से मृत्यु कदाचित् ही होती है। इनसे मृत्यु केवल तीव्र आघात के कारण ही होती है। ये संख्या में 8 होते हैं. जैसे—

गुल्फ —2	मणिबन्ध—2	कूर्चशिर —4

(iv) चरक मतानुसार मर्म भेद :

मर्म दो प्रकार के होते हैं।

(1) स्कन्धाश्रित मर्म (2) शाखाश्रित मर्म

इन दोनों में स्कन्धाश्रित मर्म ही प्रधान माने जाते हैं, क्योंकि शाखागत मर्म इन्हीं पर आश्रित होते हैं।

(I) स्कन्धाश्रित मर्म—स्कन्धाश्रित मर्मों में निम्नलिखित तीन मर्म ही प्रधान हैं, इन तीनों मर्मों पर सम्पूर्ण देह इन्द्रियां आश्रित हैं।

(क) हृदय (ख) शिर (मूर्धा) (ग) वस्ति

(क) हृदय—इसमें 10 धमनियाँ होती हैं जो प्राणादि का वहन करती हैं जैसे—

(1) प्राण (2) अपान (3) मन (4) बुद्धि

(5) पाँच महा भूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी)।

हृदय के दोषाक्रान्त होने पर लक्षण—कास, श्वास, बलहीनता, कंठ का सूखना, क्लोम का नीचे को खिंच जाना, जिह्वा का बाहर को आना, मुख एवं तालु का सूखना, अपस्मार, उन्माद, प्रलाप तथा चेतना नाश होकर अन्त में मृत्यु हो जाती है। परन्तु इस पर अधिक आघात के कारण मृत्यु तुरन्त हो सकती है।

(ख) शिर—इन्द्रियाँ, इन्द्रिय-वह स्रोत और प्राणवह-स्रोत शिरके आश्रित रहते हैं।

शिर के दोषाक्रान्त होने पर लक्षण—मन्यास्तम्भ, अर्दित, नेत्र-विभ्रम, मोह, वेष्टन, चेष्टानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकता, अस्पष्ट भाषाण, नेत्र बन्द रहना, गण्ड स्पन्दन, जृम्भा, मुख से लालास्राव तथा मुख का एक पार्श्व को हो जाना।

(ग) **वस्ति**—यह जलवह स्रोतों का स्थान है।

वस्ति के दोषाक्रान्त होने पर लक्षण—मूत्र एवं मल में रुकावट, वंक्षण, मूत्रेन्द्रिय तथा वस्ति में शूल, मण्डल, उदावर्त, गुल्फ, वाताष्ठीला, ऊरुस्तम्भ, नाभिग्रह, गलग्रह तथा श्रोणि-ग्रह इत्यादि लक्षण होते हैं।

आचार्य चरक ने मुख्य रूप में उपरोक्त तीन ही मर्म माने हैं, परन्तु इन मर्मों पर आघात होने से उनमें वेदना, रक्तस्राव, विकलाँगता इत्यादि लक्षणों का वर्णन नहीं किया है। चरक ने मर्मों के दोषाक्रान्त होने पर केवल मात्र इनसे उत्पन्न व्याधियों तथा उनकी चिकित्सा का ही वर्णन किया है।

आचार्य चरक ने मुख्यतः **हृदय, शिर एवं वस्ति ये तीन मर्म माने हैं। नाभि** नामक मर्म का इसमें समावेश नहीं किया गया है। शिर में अनेक प्रकार की दोषज

(दुष्कर व्याधियाँ) होने के कारण चरक ने शिर मर्म को प्रधानता दी है। आचार्य सुश्रुत ने सम्भवतः इसे इसलिए प्रधानता नहीं दी कि शिर पर थोड़ा सा आघात लगने पर मजबूत अस्थियाँ उसे रोक लेती हैं और आघात शिर मर्म तक नहीं पहुंच सकता, जबकि मुख्य मर्म पर थोड़ा सा आघात भी मृत्यु कारक होता है।

नाभि में कोई विशेष दोषज रोग के न होने के कारण आचार्य चरक ने इस मर्म को विशेष मर्म नहीं माना। परन्तु सुश्रुत ने आघात दृष्टि कोण से इस मर्म को विशेष स्थान दिया है, क्योंकि यहां आघात लगने से स्तब्धता तथा आन्त्र भेदन जैसी भयानक अवस्थायें उत्पन्न हो सकती हैं (सुश्रुत एक शल्य चिकित्सक होने से उसने शल्य प्रधान अवस्थाओं को मुख्य माना है)।

(v) परिमाणानुसार मर्म भेद :

परिमाण भेदानुसार मर्म पाँच प्रकार के होते हैं। परिमाण मनुष्य की स्वयं की अंगुली के अनुसार लिया जाता है।

(1) चार अंगुली परिमाण के मर्म—यह हथेली के गड्ढे के बराबर होते हैं, जैसे—हृदय, नाभि, वस्ति, गुद, कूर्च, नीला, मन्या तथा मातृका धमनियों एवं शिर के भ्रृ गाटक तथा सीमन्त मर्म।

(2) तीन अंगुल परिमाण के मर्म—कूर्पर एवं जानु मर्म।

(3) दो अंगुल परिमाण के मर्म—मणिबन्ध एवं गुल्फ मर्म।

(4) एक अंगुल परिमाण के मर्म—कक्षधर, विटप, स्तनमूल, कूर्च शिर, उर्वी एवं बाह्वी।

(5) आधा अंगुल परिमाण के मर्म—उपरोक्त मर्मों के अतिरिक्त अन्य मर्म आधा अंगुल परिमाण के होते हैं।

मर्म सारांश तालिका

नाम	मांस मर्म	सिरा मर्म	स्नायु मर्म	अस्थि मर्म	सन्धि मर्म	धमनी मर्म
व्यध होने पर लक्षण।	इससे निरन्तर निर्मल मांसरस या रक्त के समान स्राव निकलता है। इन्द्रियों के विषय ग्रहण करने की शक्ति का नाश हो जाता है। शरीर में पीलापन होता है तथा शीघ्र मृत्यु हो जाती है।	इसमें से निरन्तर सान्द्र रक्त स्राव होता है। रोगी को प्यास, भ्रम, मोह, श्वास एवं हिक्का उत्पन्न होकर अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है।	इसमें खिचाव वेदना, खड़े होने, बैठने एवं सवारी करने में अशक्ति; आक्षेप, जड़ता तथा विकलता उत्पन्न होकर अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है।	इसमें मज्जा मिश्रित स्वच्छ स्राव रुक-रुक कर आता है तथा वेदना होती है।	सन्धि में शूक के समान अनुभव, लूलापन या लंगड़ापन, बल व चेष्टा की हानि तथा पर्वों में शोथ आ जाती है।	इसमें शब्द के साथ झाग युक्त रक्त निकलता है तथा संज्ञानाश हो जाती है।
संख्या	11	41	27	8	20	9

नाम	मांस मर्म	सिरा मर्म	स्नायु मर्म	अस्थि मर्म	सन्धि मर्म	धमनी मर्म
मर्म भेद तथा उनकी संख्या।	तल हृदय = 4 इन्द्रवस्ति = 4 गुद = 1 स्तनरोहित = 2	नील धमनी = 2 अपांग = 2 कणा = 2 स्तन मूल = 2 अपलाप = 2 उपस्तम्भ = 2 पार्श्व सन्धि = 2 वृहती = 2 मन्या = 2 स्थपनी = 1 हृदय = 1 नाभि = 1 लोहिताक्ष = 4 ऊर्वी = 4 मातृका = 8	वस्ति = 1 विटप = 2 कक्षाधर = 2 अंस = 2 विधुर = 2 उत्क्षेप = 2 कूर्च = 4 कूर्चशिर = 4 क्षिप्र = 4 आणि = 4	कटिकतरुण = 2 नितम्ब = 2 अंसफलक = 2 शंख = 2	अधिपति = 1 जानू = 2 कूर्पर = 2 गुल्फ = 2 मणिबन्ध = 2 कुकुन्दर = 2 आवर्त्त = 2 कृकाटिका = 2 सीमन्त = 5 इन मर्मों की संख्या में आचार्य वाग्भट्ट के मतानुसार थोड़ा अन्तर आ जाता है।	गुदा = 1 अपस्तम्भ = 2 शृंगाटक = 4 आचार्य सुश्रुत ने गुदा को मांस मर्म, उपस्तम्भ तथा शृंगाटक को सिरा मर्म और विधुर को स्नायु मर्म माना है।

नाम	मांस मर्म	सिरा मर्म	स्नायु मर्म	अस्थि मर्म	सन्धि मर्म
टांग में 11 X 2 बाहु में 11 X 2	इन्द्रवस्ति = 2 + 2 तलहृदय = 2 + 2	उर्वी = 2 + 2 लोहिताक्ष = 2 + 2	कूर्च = 2 + 2 कूर्चशिर = 2 + 2 आणि = 2 + 2 क्षिप्र — 2 + 2 विटप या कक्षाधर = 2 + 2		जानू, गुल्फ या मणिबन्ध = 2 + 2 जानू या कूर्पर = 2 + 2
उदर में = 3 तथा वक्ष में = 9	गुद = 1 स्तन रोहित = 2	नाभि = 1 हृदय = 1 स्तन मूल = 2 अपलाप = 2 उपस्तम्भ = 2	वस्ति = 1		
पीठ के मर्म 14		पार्श्व सन्धि = 2 वृहती = 2	अंस = 2	कटिकतरुण = 2 नितम्ब = 2 अंसफलक = 2	कुकुन्दर = 2

नाम	मांस मर्म	सिरा मर्म	स्नायु मर्म	अस्थि मर्म	सन्धि मर्म
जत्रु में = 37		मातृका = 8 कण्ठा = 2 अपांग = 2 स्थपनी = 1 शृंगाटक = 4 नील धमनी = 2 मन्या = 2	विधुर = 2 उत्क्षेप = 2	शंख = 2	अधिपति = 1 आवर्त = 2 कृकाटिका = 2 सीमन्त = 5
सद्यःप्राणहर मर्म = 19	गुदा = 1	हृदय = 1 नाभि = 1 मातृका = 8 शृंगाटक = 4	वस्ति = 1	शंख = 2	अधिपति = 1
कालान्तर प्राणहर मर्म = 33	तल हृदय = 4 इन्द्रवस्ति = 4 स्तनरोहित = 2	वृहती = 2 अपलाप = 2 उपस्तम्भ = 2 पार्श्व सन्धि = 2 स्तनमूल = 2	क्षिप्र = 4	कटिकतरुण = 2 नितम्ब = 2	सीमन्त = 5

मांस मर्म	सिरा मर्म	स्नायु मर्म	अस्थि मर्म	संधि मर्म
विशल्यघ्न मर्म–3	रक्तपाती = 1	उत्क्षेप = 2		
वैशल्यकर मर्म–44	वातिकाख्य = 4 अपांग = 2 मन्यां = 2 वाह्वी = 2 उर्वी = 2 नीला = 2 कण्ठा = 2	कृकं = 4 श्रंस = 2 विधुर = 2 विटप = 2 कशेरुका = 2 शंखौ = 4	अंसफलक = 2	ऊर्वी = 2 कृकाटिका = 2 कुकुन्दर = 2 कुंधर = 2 जानु = 2
		कूर्च शिर = 4		गुल्फ = 2 मणिबन्ध = 2
क्षयकर मर्म–8				

संधि मर्म	सिरा मर्म	मस्तिष्क के अन्दर ऊपर की ओर सिराओं के सन्धि स्थान (बालों के आवर्त अर्थात् भंवर चक्र के समान) को अधिपति मर्म कहते हैं।	
		ये मर्म नासिका, कान, नाक, जिह्वा को पोषण देने वाली सिराओं के मध्य में रहते हैं।	
	सिरा मर्म		
		स्थिर की 5 सन्धियों में 5 ही सीमांत मर्म होते हैं।	
	सिरा मर्म	यह दोनों भ्रुवों के बीच में होता है।	
	स्नायु मर्म	भौंहों के ऊपर बालों के सिरे पर उत्क्षेप मर्म होता है।	
	अस्थि मर्म	यह मर्म भ्रुवों में ऊपर को तथा कान और माथे के बीच में स्थित होता है।	
	संधि मर्म	यह मर्म भ्रुवों में नीचे की ओर रहता है।	
	सिरा मर्म	यह भ्रुवों के बाह्य छोर पर, नीचे की ओर तथा आंखों के बाहर की ओर होता है।	

मर्म भेद		स्थिति	क्रम संख्या
शरीर के अनुसार	रचनानुसार		

क्रम संख्या	नाम	संख्या	परिमाण	मर्म भेद: आघात परिणामानुसार	मर्म भेद: रचनानुसार	स्थिति	आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
	सक्थि तथा बाहु के मर्म							
1	क्षिप्र	4	$\frac{1}{2}$ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	स्नायु मर्म	यह मर्म अंगूठे और मध्यमा के बीच में स्थित होता है।	आक्षेप आते हैं, इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है।	It is the main site fo infection viz. Ist dorsal carpal/metatarsus ligame peroneal nerve, muscles & ons.
2	तलहृदय	4	4 अंगुल	,,	माँस मर्म	यह तलुवे में मध्यमा अंगुली की रेखा में स्थित होता है।	वेदना के कारण मृत्यु होती है।	Palmar/Plantar apo and muscles.
3	कूर्च	4	4 अंगुल	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह क्षिप्र मर्म से ऊपर दोनों ओर रहता है।	अंग में तिरछापन तथा कम्पन होता है।	Tendons of tarsome intertarsal/carpal, metaca inter carpal ligaments.
4	कूर्च शिर	4	1 अंगुल	रुजाकर	स्नायु मर्म	पैर में गुल्फ या मणिबन्ध सन्धि के नीचे दोनों ओर होता है।	इसमें वेदना और सूजन होती है।	Sprain of the lateral ent or the ankle/wrist.
5	गुल्फ/मणिबन्ध	4	2 अंगुल	रुजाकर	अस्थि मर्म	जंघा, पैर/बाहु और हाथ की सन्धि को कहते हैं।	इसमें वेदना, अंग में स्तब्धता तथा विकलांगता हो जाती है।	Ankle/wrist joint.
6	इन्द्र वं ति	4	$\frac{1}{2}$ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	मांस मर्म	यह शाखा के मध्य में स्थित होती है (पार्ष्णि से 13 अंगुल ऊपर, जंघा में)।	इससे रक्त क्षय से मृत्यु होती है।	Lower part of the poplitial fossa.
7	जानु/कूर्पर	4	3 अंगुल	वैकल्यकर	सन्धि मर्म	जंघा और उरु, बाहु और अग्र बाहु की सन्धि को कहते हैं।	इससे सन्धियों की कार्यहीनता होती है जिससे लंगड़ापन या हस्त में क्रिया हीनता हो जाती है।	Knee/elbow joint.
8	आणि	4	—	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह जानु/कूर्पर, सन्धि के ऊपर 3 अंगुल स्थान में दोनों ओर रहता है।	इसमें शोफ की वृद्धि एवं टांग/बाहु में स्तब्धता हो जाती है।	Tendons of quadrice oris or femoral nerve. of biceps brachialis, radial and ulnar nerves.
9	उर्वी/बाह्वी	4	1 अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह उरु/बाहु के बीच में होता है।	इसमें रक्त क्षय से टांग सूख जाती है।	Paralytic or ischam phy due to involvem brachial artery, basai and femoral vessels.
10	लोहिताक्ष	4	$\frac{1}{2}$ अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह उरु/बाहु की जड़ में अर्थात् वंक्षण/कक्षा में होता है। यह सन्धि के ऊपर या नीचे तथा उर्वी/बाह्वी के ऊपर रहता है।	—	Femoral/axillary ves
11	विटप/कक्षधर	4	1 अंगुल	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह वंक्षण और वृषण, कक्षा और वक्ष के बीच में रहता है।	इससे नपुंसकता या पक्षाघात (बाहु में) हो जाता है।	Spermatic cord/brachial

क्रम संख्या	नाम	संख्या	परिमाण	मर्म भेद: आघात परिणामानुसार	मर्म भेद: रचनानुसार	स्थिति	आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
	सक्थि तथा बाहु के मर्म							
1	क्षिप्र	4	½ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	स्नायु मर्म	यह मर्म अंगूठे और मध्यमा के बीच में स्थित होता है।	आक्षेप आते हैं, इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है।	It is the main site for tetanus infection viz. Ist dorsal metacarpal/metatarsus ligament, deep peroneal nerve, muscles & tendons.
2	तलहृदय	4	4 अंगुल	,,	मांस मर्म	यह तलुवे में मध्यमा अंगुली की रेखा में स्थित होता है।	वेदना के कारण मृत्यु होती है।	Palmar/Plantar aponeurosis and muscles.
3	कूर्च	4	4 अंगुल	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह क्षिप्र मर्म से ऊपर दोनों ओर रहता है।	अंग में तिरछापन तथा कम्पन होता है।	Tendons of tarsometatarsal intertarsal/carpal, metacarpal & inter carpal ligaments.
4	कूर्च शिर	4	1 अंगुल	रुजाकर	स्नायु मर्म	पैर में गुल्फ या मणिबन्ध सन्धि के नीचे दोनों ओर होता है।	इसमें वेदना और सूजन होती है।	Sprain of the lateral ligament or the ankle/wrist.
5	गुल्फ/मणिबन्ध	4	2 अंगुल	रुजाकर	अस्थि मर्म	जंघा, पैर/बाहु और हाथ की सन्धि को कहते हैं।	इसमें वेदना, अंग में स्तब्धता तथा विकलांगता हो जाती है।	Ankle/wrist joint.
6	इन्द्र वति	4	½ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	मांस मर्म	यह शाखा के मध्य में स्थित होती है (पार्ष्णि से 13 अंगुल ऊपर, जंघा में)।	इससे रक्त क्षय से मृत्यु होती है।	Lower part of the cubital/poplitial fossa.
7	जानु/कूर्पर	4	3 अंगुल	वैकल्यकर	सन्धि मर्म	जंघा और उरु, बाहु और अग्र बाहु की सन्धि को कहते हैं।	इससे सन्धियों की कार्यहीनता होती है जिससे लंगड़ापन या हस्त में क्रिया हीनता हो जाती है।	Knee/elbow joint.
8	आणि	4	—	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह जानु/कूर्पर, सन्धि के ऊपर 3 अंगुल स्थान में दोनों ओर रहता है।	इसमें शोफ की वृद्धि एवं टांग/बाहु में स्तब्धता हो जाती है।	Tendons of quadriceps femoris or femoral nerve. Tendons of biceps brachialis, median, radial and ulnar nerves.
9	उर्वी/बाह्वी	4	1 अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह उरु/बाहु के बीच में होता है।	इसमें रक्त क्षय से टांग सूख जाती है।	Paralytic or ischamic atrophy due to involvement of brachial artery, basalic vein and femoral vessels.
10	लोहिताक्ष	4	½ अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह उरु/बाहु की जड़ में अर्थात् वंक्षण/कक्षा में होता है। यह सन्धि के ऊपर या नीचे तथा उर्वी/बाह्वी के ऊपर रहता है।	—	Femoral/axillary vessels.
11	विटप/कक्षधर	4	1 अंगुल	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह वंक्षण और वृषण, कक्षा और वक्ष के बीच में रहता है।	इससे नपुंसकता या पक्षाघात (बाहु में) हो जाता है।	Spermatic cord/brachial plexus.

क्रम संख्या	नाम	संख्या	परिमाण	मर्म भेद: आघात परिणामानुसार	मर्म भेद: रचनानुसार	स्थिति	आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
	उदर के मर्म—							
12	गुद	1	4 अंगुल	सद्य प्राणहर	मांस मर्म	यह वायु और मल को निकालने वाला स्थूलान्तर से सम्बन्धित मर्म है।	इससे तुरन्त मृत्यु होती है।	Anus and anal canal, it is supplied by vagal fibres which on stimulation or reflexly causes cardiac arrest.
13	वस्ति	1	4 अंगुल	सद्य प्राण हर	स्नायु मर्म	थोड़े मांस एवं थोड़े रक्त युक्त, कटि में स्थित, मूत्र का स्थान वस्ति होती है।	आघात से एक ओर व्रण होने पर तथा अश्मरी से दोनों ओर व्रण (वेघन) हो जाने पर तुरन्त मृत्यु होती है।	Urinary bladder (Its walls are thin & less muscular)
14	नाभि	1	4 अंगुल	सद्य प्राण हर	सिरा मर्म	पक्वाशय और आमाशय के बीच में सिराओं का उत्पत्ति स्थान नाभि माना जाता है।	आघात से तुरन्त मृत्यु होती है।	Umblical region
	वक्ष के मर्म —							
15	हृदय	1	4 अंगुल	सद्य प्राण हर	सिरा मर्म	यह स्तनों के मध्य में वक्ष के भीतर तथा आमाशय द्वार के पास होता है।	सत्व, रजव तम का तथा प्राणों का स्थान होने से तुरन्त मृत्यु हो जाती है।	Heart.
16	स्तनमूल	2	1 अंगुल	कालान्तर प्राण हर	सिरा मर्म	ये स्तनों के 2 अंगुल नीचे दोनों ओर रहता है।	इनमें कफाधिक्य से कास या श्वास द्वारा मृत्यु होती है।	Basal part of the lungs.
17	स्तन रोहित	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राण हर	मांस मर्म	यह स्तन चूचुकों के 2 अंगुल ऊपर दोनों ओर रहता है।	इसके रक्त के भर जाने से कास या श्वास द्वारा मृत्यु होती है।	Apex of lungs, subclavian vesseIs & Pectoralis major muscles
18	अपलाप	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राण हर	सिरा मर्म	यह मर्म दोनों ओर अंस-कूट के नीचे तथा पार्श्वों के ऊपरी भाग में होता है।	इसमें रक्त के पूय में बदलने से मृत्यु होती है।	Axillary lymph nodes, thoracic & sub scapular vessels.
19	अपस्तम्भ	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राण हर	सिरा मर्म	वक्ष में दोनों ओर वात को ले जाने वाली 2 नाड़ियाँ अपस्तम्भ मर्म हैं।	इसमें वात के भर जाने से कास या श्वास के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है।	Both bronchii.
	पृष्ठ के मर्म–							
20	कटीक तरुण	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राण हर	अस्थि मर्म	यह पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में होता है।	इसमें रोगी रक्तक्षय से पाण्डु वर्ण का (विवर्ण) एवं हीन रूप वाला हो होकर मर जाता है।	Sacro iliac joint, iliac bones.
21	कुकुन्दर	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	सन्धि मर्म	यह मर्म पार्श्वों एवं जघन के बाह्य भाग में पृष्ठवंश के दोनों ओर रहता है।	इसमें शरीर के निचले भाग में स्पर्श ज्ञान की अप्रतीति तथा चेष्टा का नाश होता है।	Sciatic notch, ilio-ischial union.

क्रम संख्या	नाम	संख्या	परिमाण	मर्म भेद		स्थिति	आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
				आघात परिणामानुसार	रचनानुसार			
22	नितम्ब	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	अस्थि मर्म	यह श्रोणीकांड के ऊपर, आमाशय को ढकने वाले, पार्श्वों के बीच के स्थान से सम्बन्धित मर्म हैं।	इनसे शरीर के निचले भाग में शोष एवं निर्बलता से मृत्यु होती है।	Floating ribs or ala of ilium.
23	पार्श्व सन्धि	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	सिरा मर्म	पार्श्वों के नीचे लगे हुए जघन और पार्श्वों के बीच में जघन के ऊपर की ओर तिरछी पार्श्व सन्धि होती है।	इसमें रक्त के भर जाने से मृत्यु होती है।	Common iliac vessels & renal vessels.
24	बृहती	2	½ अंगुल	कालान्तर प्राणहर	सिरा मर्म	स्तन मूलों के समानान्तर, पृष्ठ वंश के दोनों ओर बृहती मर्म रहता है।	इसमें रक्त के अतिस्राव से उत्पन्न उपद्रवों के कारण रोगी मर जाता है।	Hilum of liver & spleen, sub scapular & trans thoracic arteries.
25	अंसफलक	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	अस्थि मर्म	यह पीठ के ऊपर पृष्ठ वंश के दोनों ओर त्रिक से सम्बद्ध रहता है।	इससे बाहुओं में सुन्नता और शोष होता है।	Spine of scapula.
26	अंस	2	½ अं	वैकल्यकर	स्नायु मर्म	यह मर्म स्कन्ध को बांधने वाला होता है।	इनसे बाहु क्रियाहीन (जड़) हो जाते हैं।	Coracohumral & glenohumral ligaments.
	ऊर्ध्वजत्रु के मर्म							
27	नीला तथा मन्या	4	4 अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	ये कण्ठ नाड़ी के दोनों ओर 4 धमनियां होती हैं।	इनसे गूंगापन, स्वर विकृति तथा रसज्ञान का नाश होता है।	Superior laryngeal nerve, glossopharangeal nerve, hypoglossal nerves & lingual vessels.
28	मातृकायें	8	4 अंगुल	सद्य प्राणहर	सिरा मर्म	ये ग्रीवा के दोनों ओर की 4–4 सिरायें होती हैं।	इनसे तुरन्त मृत्यु होती है।	Carotid arteries & Jugular veins.
29	कृकाटिका	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	सन्धि मर्म	यह शिर एवं ग्रीवा की सन्धि पर स्थित होता है।	इनसे शिर हिलता है।	Atlento occipital joint.
30	विधुर	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	स्नायु मर्म धमनी मर्म (वाग्भट्ट)	यह कान के पीछे नीचे की ओर होता है।	इससे बहरापन होता है।	Posterior auricular vessels. & branches of 6th cranial nerve.
31	फणा	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह नासिका मार्ग के दोनों पार्श्वों में स्रोत मार्ग से सम्बद्ध अन्दर की ओर रहता है।	इससे गन्ध ज्ञान का नाश हो जाता है।	Olfactory region of the nasal cavity.

मर्म विज्ञान तालिका

क्रम संख्या	नाम	संख्या	परिमाण	मर्म भेद		स्थिति	आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
				आघात परिणामानुसार	रचनानुसार			
32	अपांग	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	सिरा मर्म	यह भ्रुवों के बाह्य छोर पर, नीचे की ओर तथा आंखों के बाहर की ओर होता है।	इसमें अन्धापन तथा दृष्टि में विकृति हो जाती है।	Outer canthus of the eye, zygomatic and temporal vessels. It involves the branches of 6th cranial nerve.
33	आवर्त	2	½ अंगुल	वैकल्यकर	सन्धि मर्म	यह मर्म भ्रुवों में नीचे की ओर रहता है।	इससे अन्धापन एवं दृष्टि में विकृति होती है।	Junction of frontal, molar & sphenoid bones.
34	शंख	2	½ अंगुल	सद्य प्राण हर	अस्थि मर्म	यह मर्म भ्रुवों में ऊपर को तथा कान और माथे के बीच में स्थित होता है।	इससे तुरन्त मृत्यु होती है।	Temporal bones.
35	उत्क्षेप	2	½ अंगुल	विशल्यघ्न	स्नायु मर्म	शंखों के ऊपर बालों के सिरे पर उत्क्षेप मर्म होता है।	इसमें से शल्य निकलते ही मृत्यु हो जाती है, परन्तु शल्य रहने पर या उसके पककर निकलने पर मृत्यु नहीं होती।	Temporal fascia & muscles.
36	स्थपनी	1	½ अंगुल	विशल्यघ्न	सिरा मर्म	यह दोनों भ्रुवों के बीच में होता है।	शल्य निकालते ही रोगी मर जाता है।	Nasal arches of frontal vein & at glabella.
37	सीमान्त	5	4 अंगुल	कालान्तर प्राणहर	सन्धि मर्म	शिर की 5 सन्धियों में 5 ही सीमांत मर्म होते हैं।	इनसे उन्माद, भय, चिन्ता तथा चित्त का नाश होकर मृत्यु होती है।	Cranial sutures.
38	शृङ्गाटक	4	4 अंगुल	सद्य प्राण हर	सिरा मर्म	ये मर्म नासिका, कान, नाक, जिह्वा को पोषण देने वाली सिराओं के मध्य में रहते हैं।	इनसे तुरन्त मृत्यु होती है।	Cavernus & inter-cavernus sinuses.
39	अधिपति	1	½ अंगुल	सद्य प्राण हर	सन्धि मर्म	मस्तिष्क के अन्दर ऊपर की ओर सिराओं के सन्धि स्थान (बालों के आवर्त अर्थात् भंवर चक्र के समान) को अधिपति मर्म कहते हैं।	इससे तुरन्त मृत्यु होती है।	Confluence of sinuses.

आघात परिणाम	वक्तव्य Probabilities
इसमें अन्धापन तथा दृष्टि में कृति हो जाती है।	Outer canthus of the eye, zygomatic and temporal vessels. It involves the branches of 6th cranial nerve.
इससे अन्धापन एवं दृष्टि में कृति होती है।	Junction of frontal, molar & sphenoid bones.
इससे तुरन्त मृत्यु होती है।	Temporal bones.
इसमें से शल्य निकलते ही हो जाती है, परन्तु शल्य रहने या उसके पककर निकलने पर नहीं होती।	Temporal fascia & muscles.
शल्य निकालते ही रोगी मर ता है।	Nasal arches of frontal vein & at glabella.
इनसे उन्माद, भय, चिन्ता चित्त का नाश होकर मृत्यु ा है।	Cranial sutures.
इनसे तुरन्त मृत्यु होती है।	Cavernus & inter-cavernus sinuses.
इससे तुरन्त मृत्यु होती है।	Confluence of sinuses.

र्मघात के सामान्य लक्षण :

मर्मों के अतिरिक्त स्थान पर आघात होने से या इसके (बाहु व टांग के) ट जाने पर भी मनुष्य जीवित रहता है। परन्तु मर्मों पर आघात होने से उनमें त्व, रज, तम तथा अग्नि, सोम, वायु और जीवात्मा (अर्थात वहां पर प्राण विशेष रूप से रहने से) रहने के कारण प्राणी प्रायः मर जाता है, या फिर विकलांगता (अत्यन्त कष्टदायक अवस्था) उत्पन्न हो जाती है। मर्म स्थान पर आघात होने से वहां की सिरायें संकुचित हो जाती हैं जिस कारण उनसे होने वाले रक्त स्राव को आसानी से बन्द नहीं किया जा सकता। मर्म स्थान पर (जैसे तल हृदयादि में) आघात के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले रक्तस्राव एवं पीड़ा को शीघ्रता से बंद करना कठिन (Difficult) होता है तथा ये सिरायें स्वयं संकुचित नहीं होतीं, इसके फलस्वरूप वेदना एवं रक्त स्राव के कारण रोगी की मृत्यु हो जाती है। मर्म पर स्थित वात, पित्त, कफ तथा रक्त को वहन करने वाली (Nerves, blood vessels, Rymphatics) चार वाहिनियों के आघात से, अत्यधिक रक्तस्राव होने से वात वृद्धि होकर अत्यन्त वेदना तथा पित्त के कारण तृष्णा, चोष, भ्रम, मद, निर्बलतादि लक्षण उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

सामान्य लक्षण—शोथ, शून्यता, मूर्च्छा, शीत की इच्छा, स्वेद, वमन, श्वास का फूलना, भ्रम, प्रलाप, अभिहत, अंगों का पतन, उष्णता की प्रतीति, विकृत चेष्टा, शयन, स्थिराङ्गता, ऊर्ध्वघात, वातरक्त, तीव्र वेदना, मांसोदक सदृश्य रक्त स्राव तथा इन्द्रियों के विषय ग्रहण शक्ति का नाश, ये मर्मघात के सामान्य लक्षण हैं।

चिकित्सा :

मर्म स्थानों पर आघात होने पर मुख्यतः तीन प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए।

(1) **रक्तस्राव की चिकित्सा**
(2) **व्रण की चिकित्सा**
(3) **लाक्षणिक चिकित्सा**

(1) रक्तस्राव की चिकित्सा—रक्तस्राव को रोकने के चार उपाय मुख्य ते हैं, जैसे—

(a) **सन्धान** (c) **पाचन**
(b) **स्कन्दन** (d) **दहन**

(a) सन्धान—पंचवल्कल, क्षीरीवृक्ष, चन्दन, लोध्र तथा कषाय रस प्रधान व्यों से सेचन करें, इनमें धातुओं का संकोच होकर रक्तस्राव बन्द हो जाता है। वाहिनियों को दबाकर (By pressure) तथा उन्हें बांध कर (Ligation) भी रक्त स्राव बन्द किया जा सकता है।

(b) **स्कन्दन**—शीतल जल या हिम से रक्त स्राव बन्द करें।

(c) **पाचन**—क्षीम, शंख, शुक्ति इत्यादि की भस्म या क्षार लगाने से भी रक्त स्राव बन्द होता है।

(d) **दहन**—यदि बहुत छोटी-छोटी वाहिनियों से रक्तस्राव (Oozing) हो रहा हो तो दहन कर्म (Electric cautery) से रक्तस्राव को बन्द करें।

(2) **व्रण की चिकित्सा**—पहले व्रण की स्थानीय शोधन चिकित्सा करें। इसके लिए दन्ती, द्रवन्ती, चित्रकादि तीक्ष्ण द्रव्यों से तथा कासीस, गन्धक, हरिताल, तुत्थादि जीवाणु नाशक द्रव्यों से व्रण का शोधन करें। शोधन के लिए द्रव्यों को आवश्यकतानुसार चूर्ण, वर्ति, घृत, रस-क्रियादि कल्पनाओं के रूप में प्रयोग करें। रोगी को खाने के लिए रक्त-शोधक औषधियां (गुग्गुलु, सारिवा, शिलाजीत, खदिर, बाकुची, गन्धकादि) दें।

आधुनिक चिकित्सा पद्धति के अनुसार जीवाणुनाशक औषधियां (Antibiotics), जैसे टैरामाइसीन (Terramycin), पेनिसिलीन (Penicillin), सेप्ट्रान (Septran) इत्यादि देते हैं। रोगी के जीवाणु विष से विषाक्त होने पर सीरम या एन्टीटाक्सिन (Serum or antitoxins) देते हैं, जैसे टेटनस (Tetanus) के लिए ए० टी० एस० (A. T. S.) दें तथा व्रण पर स्थानीय पूयनाशक औषधियों (Antiseptics) का प्रयोग व्रण के भरने तक करते रहें।

व्रण के शुद्ध होने पर इसके रोपणार्थ जाति (चमेली) तथा गोजिह्वा से सिद्ध घृत लगाकर बन्धन बांधें।

(3) लाक्षणिक चिकित्सा—

(i) **दाह**—सौंफ चूर्ण और घृत या कल्याण घृत खाने को दें।

(ii) **तृष्णा**—तरबूज का रस, चन्दन क्वाथ तथा नागर मोथा दें।

(i.i) **ज्वर**—विडंगपानीय के साथ मृत्युञ्जय रस दें।

(iv) **वेदना**—गोजिह्वा, शतावरी तथा उशीर से सिद्ध दूध दें या गिलोय, शतावर और दूध की धारा से या चन्दन, शतावर, बलादि के क्षीर कषाय से सिंचन कर्म करें तथा उशीर, लोध्र और अजवायन का लेप करें।

(v) **शिरः शूल**—त्रिजात द्रव्यों का लेप या बलामूल को स्त्री दूध में घिस कर मक्खन के साथ माथे पर लगाएं।

(vi) **हिक्का**—सहदेवी को दूध में मिलाकर दें।

(vii) **प्रलाप**—तगर तैल, दूध, नारियल जल, चन्दन तथा कमलादि द्रव्यों का शरीर पर लेप करें।

24

प्रनष्ट शल्य

(Foreign bodies)

व्याख्या :

"मनः शरीराबाधकराणि शल्यानि"

मन एवं शरीर को दुःख देने वाले पदार्थ को शल्य कहते हैं। शरीर में **प्रवृद्ध** मल एवं दोष तथा स्थावर या जंगम विष शल्य कहलाते हैं।

(अति प्रवृद्धं मलदोषजवा शरीरिणां स्थावरजंगमानाम्।
यत्किंचिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेवप्रवदन्ति शल्यम्॥) (डल्हण)

'शल' शब्द से शल्य बनता है। 'शल' का अर्थ होता है शीघ्र गमन करना। जिससे सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा होती है उसे शल्य कहते हैं, [अर्थात् शरीर में अवरुद्ध हुए (Retained) विजातीय तत्व को शल्य कहते हैं।]

भेद :

शल्य दो प्रकार के होते हैं—

(1) शारीरिक

(2) आगन्तुज

(1) **शारीरिक शल्य**—इनके अन्तर्गत शरीर की विकृत धातुओं तथा मलों का समावेश होता है, जैसे—नख, लोम, विकृत दांत, विकृत हुई रसादि धातुएं, मूत्र, मल तथा दोष।

(2) **आगन्तुज शल्य**—इसके अन्तर्गत उपरोक्त शारीरिक शल्यों से भिन्न पदार्थ अर्थात् बाह्य पदार्थों का समावेश होता है, जैसे—बांस, वृक्ष, शृंग, अस्थि, लौहादि धातु, सुई, यन्त्र, शस्त्र तथा काञ्च के टुकड़े इत्यादि

शल्य की गति :

शल्य के शरीर में प्रविष्ट होने पर इसमें 5 प्रकार की गति हो सकती है—

(i) ऊर्ध्व गति (जब शल्य शिर की ओर ऊपर को गतिशील होता है)।

(ii) अधः गति (यह गति पैर की ओर अर्थात् नीचे की ओर होती है)।

(ii) अर्वाचीन गति (जब गतिमान शल्य अस्थि से टकराकर अपनी दिशा बदल दें।)

(iv) तिर्यक् गति (जब शल्य एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व को जाता है)।

(v) ऋजु गति (आगे से पीछे को जाने वाली गति)।

लक्षण :

शरीर में उपरोक्त गति से जाने वाले शल्यों की गति का वेग कम हो जाने पर शल्य शरीर में रुक जाते हैं। इनसे अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं जैसे—शल्य युक्त स्थान में श्याव वर्णता, पिड़िकाओं से व्याप्त, शोफ युक्त, वेदनावान, बार-बार रक्त स्राव का होना, वायु का बुद्-बुद् के रूप में व्रण से निकलना एवं व्रण के बाहर अंकुरों (Exuberant granulation) की उपस्थिति i. e. Sprouting granulation।

शल्य के स्थानानुसार विशेष लक्षण :

(i) **त्वचा**—त्वचा में शल्य होने पर विवर्णता, कठिनता तथा दीर्घ शोफ उत्पन्न होती है।

(ii) **मांस**—शल्य के मांस गत होने पर व्रण का रोपण नहीं हो पाता, उसमें, अधिक शोफ, स्पर्श असह्यता (Tenderness), चोष और पाक हो जाता है (यदि शल्य दो पेशियों के मध्य भाग में पड़ा हो तो शोफ और चोष नहीं होता)।

(iii) **सिरा**—इसमें शल्य होने पर सिरा फूली हुई, शोफ तथा शूल युक्त होती है।

(iv) **स्नायु**—स्नायु में शल्य होने पर स्नायु समूह ऊपर को उठ आता है शोफ तथा तीव्र वेदना होती है।

(v) **स्रोत**—शल्य जिस स्रोत में रहता है उस स्रोत के कार्य नष्ट हो जाते हैं।

(vi) **धमनी**—धमनी में शल्य होने पर वहाँ से झागयुक्त रक्त तथा वायु बाहर निकलती है। रोगी अंगमर्द, तृषा तथा वमन से पीड़ित रहता है।

(vii) **अस्थि**—अस्थि में शल्य होने पर शोफ तथा अनेक प्रकार की तोद, भेदादि वेदनायें होती हैं।

(viii) **अस्थि विवर**—इसमें शल्य होने पर अस्थि में पूर्णता का अनुभव होता है पीड़ा तथा बेचैनी रहती है।

(ix) **सन्धि**—सन्धि में शल्य होने पर चेष्टाओं में ह्रास तथा अस्थिगत शल्य के सदृश लक्षण रहते हैं।

(x) **कोष्ठ**—यहाँ पर शल्य होने से आटोप, आनाह, व्रण मुख से मलमूत्र का निकलना (आन्त्र या मूत्राशय का भेदन होने पर) इत्यादि लक्षण होते हैं।

(xi) **मर्म**—इसमें शल्य होने पर मर्मविद्ध के समान लक्षण मिलते हैं।

शल्य के शुद्ध होने पर तथा दोषों के साम्यावस्था में रहने पर शल्य युक्त व्रण का भी रोपण हो जाता है, परन्तु दोष प्रकोप होने से या आघातादि लगने से या फिर अन्य विक्षोभक कारणों से शल्य पुनः पीड़ा को तथा शोफादि लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए शरीर में नष्ट (Retained) शल्य के स्थान का पता लगाना तथा फिर उस शल्य का निर्हरण करना अति आवश्यक होता है।

नष्ट शल्य को जानने के उपाय :

अनेक प्रकार की विक्षोभक क्रियाओं से जब शल्य हिलता है तो शल्य युक्त स्थान पर वेदना होती है। इससे शल्य युक्त स्थान का ज्ञान हो जाता है। व्रण के आकार को देखकर शल्य के वृत्त या त्रिकोणाकार इत्यादि आकृति का भी अनुमान कर लेना चाहिए या फिर एक्सरे द्वारा इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

(i) **त्वचा गत शल्य**—त्वचा पर चन्दन का पतला लेप करने से जहां पर लेप शीघ्र सूख जाए या घृत लगाने से जहाँ पर घृत जल्दी पिघल जाए या फिर अभ्यङ्ग, मर्दनादि करने से जहाँ पर दाह तथा शोफ उत्पन्न होने लगे उस स्थान पर शल्य की उपस्थिति समझनी चाहिए (लेप के शीघ्र सूखने तथा घृत के शीघ्र पिघलने का कारण शल्य स्थान पर शोफ की उष्मा होती है)। मर्दन से वेदना होती है तथा शल्य के हिलने के कारण पास की धातुओं में आघात होने से शोफ उत्पन्न होती है।

(ii) **पेशी तथा कोष्ठगत शल्य**—वमन तथा विरेचनादि क्रियाओं से (कोष्ठ तथा उदर की माँसपेशियों के क्रियाशील होने से) शल्य विक्षुब्ध होकर वेदना उत्पन्न करता है, जिससे शल्य के स्थान का पता चल जाता है।

(iii) **अस्थिगत शल्य**—उपरोक्त विधियों से या अस्थि पर बन्धन, पीड़न, मर्दनादि कर्म करने से शल्य स्थान पर (उसके क्षुब्ध होने अर्थात् हिलने से) पीड़ा होने लगती है।

(iv) **सन्धिगत शल्य**—सन्धिगत शल्य होने पर इन्हें जानने के लिए अस्थिगत शल्य सदृश अभ्यंग एवं मर्दनादि कर्म करें या सन्धि का संकोच तथा प्रसार करें। शल्य के विक्षुब्ध होने पर शल्य स्थान पर पीड़ा होती है।

(v) **मर्म, सिरा एवं स्नायुगत शल्य**—मर्म स्थानों पर शल्य होने पर रोगी को टूटे हुए पहिए वाले रथ पर बैठाकर ऊंचे नीचे स्थान से दौड़ाने से, हाथी या घोड़े की सवारी से या पर्वत पर चढ़ने से शल्य स्थान पर पीड़ा होने लगती है। इसके अतिरिक्त डकार या छींक आने से भी शल्य क्षुब्ध होकर पीड़ा करने लगता है।

शरीरगत शल्य में परिवर्तन (Fate of foreign bodies)

शरीरगत शल्य की रचना के अनुसार उसमें विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं, जैसे—

(i) अस्थि जैसे भंगुर पदार्थों के शल्य शरीर में प्रविष्ट होने पर वे अनेक टुकड़ों में टूट जाते हैं।

(ii) लौहादि धातुओं के शल्य अन्दर जाकर मुड़ जाते हैं।

(iii) श्रृंग, अस्थि, दन्त, केश, नख, वृक्षादि जीवीय तत्व (Organic matter) शरीर में जाकर वहाँ मांस, रक्तादि की ऊष्मा से पककर (उनका पूयभवन होकर) ढीले होने पर पूय के साथ बाहर आ जाते हैं।

(iv) ताम्र, लौहादि धातुयें उष्मा से पिघलकर (Corrosive action के कारण) शरीर में विलीन हो जाती हैं या फिर ये शल्य युक्त व्रण भर जाने पर शल्य शरीर के भीतर बिना पीड़ा किए पड़ा रहता है। इस शल्य युक्त स्थान पर पुनः आघात होने से शोफादि लक्षण फिर से उत्पन्न हो जाते हैं।

शल्य निर्हरण के सिद्धान्त :

शल्य निकालने से पूर्व उनकी आकृति एवं स्थानादि का ज्ञान, एषण कर्म द्वारा (Probing से) करना चाहिए। व्रण की आकृति से या फिर व्रण में धातुओं से निर्मित शल्य होने पर, 'क्ष' किरण (X-Ray) द्वारा भी शल्य का ज्ञान किया जाता है।

शल्य निकालने के लिए निम्न विधियों का प्रयोग किया जाता है।

(i) अनुलोम विधि।

(ii) प्रतिलोम विधि।

(iii) अन्य विधियाँ।

(i) **अनुलोम विधि**—शल्य के शरीर में प्रविष्ट होते समय जिस दिशा में उसकी गति हो रही थी उसी दिशा में एक नया मार्ग बनाकर रुके हुए शल्य को निकालने की विधि को अनुलोम विधि कहते हैं। 'प्राचीन शल्य' अर्थात् जो शल्य शरीर में बहुत गहराई या दूर तक प्रविष्ट हो चुके हों उनको अनुलोम गति से (प्रवेश मार्ग से विपरीत दिशा में) तथा त्वचा मांसादि में उभार के रूप में दिखाई दे रहे शल्य के ऊपर भेदन करके उसे निकालना चाहिये। परन्तु यदि 'प्राचीन शल्य' किसी कोष्ठ या मर्म स्थान में पड़ा हो तथा उसे निकालना आवश्यक हो तो यह 'प्राचीन शल्य' होते हुए भी इसे अनुलोम विधि से नहीं निकालना चाहिये (क्योंकि इसके लिए मर्म या कोष्ठ में दूसरे स्थान पर अन्य भेदन व्रण बनाना पड़ता है), उसे आगे वर्णित प्रतिलोम विधि से निकालना चाहिए।

(ii) **प्रतिलोम विधि**—जिस मार्ग से शल्य शरीर में प्रविष्ट होता है, उसे उसी मार्ग से वापिस निकालने की विधि को प्रतिलोम विधि कहते हैं। 'अर्वाचीन शल्य' अर्थात् जो शल्य शरीर के अन्दर दूर तक प्रविष्ट न हुआ हो, उसे प्रतिलोम विधि से (प्रवेश मार्ग से) बाहर निकालना चाहिए। यदि अर्वाचीन शल्य का अग्रभाग कर्णिका युक्त या तीर के समान आकार का हो तब शल्य के अर्वाचीन होते हुए भी

इसे प्रति लोम विधि से नहीं निकालना चाहिये क्योंकि वह बड़िश सदृश (Hook like) होने से धातुओं में फंसने के कारण प्रतिलोम निकालने से धातुओं का नाश करता है। ऐसे शल्य को अनुलोम विधि से निकालना चाहिए।

(ii) **अन्य विधियाँ**—दिखाई दे रहे शल्य को, यदि वह ढीला हो तो हाथ से तथा यदि फँसा हुआ हो तो सिंहमुख यन्त्र (Lion's forceps) या अन्य हिंसक पशुओं के मुख के आकार के स्वस्तिक यन्त्रों से पकड़कर प्रतिलोम विधि से निकालना चाहिए।

यदि शल्य दिखाई न दे रहा हो और वह गम्भीर (गहराई में) या संकीर्ण व्रण (Narrow and deep wound) में पड़ा हो (जैसे नाड़ी व्रण में) तो उसे कंक-मुख या अन्य हिंसक पक्षियों के मुख के आकार के स्वस्तिक यन्त्रों के द्वारा प्रतिलोम गति से निकालना चाहिए।

शल्य के अस्थि में फंसे होने पर, शल्य को हाथ से पकड़कर तथा शल्य युक्त अंग को पैरों से विपरीत दिशा में रोककर (Counter pressure देकर) निकालना चाहिए। या फिर इस शल्य को झटके से निकालना चाहिए, जैसे—(i) शल्य को पञ्चांगी बन्ध में बांधकर उसे घोड़े की कविका या शिर से बाँध दें, फिर घोड़े को चाबुक मारने पर जब घोड़ा झटके से शिर ऊपर करता है तो शल्य झटके द्वारा बाहर निकल आता है (ii) वृक्ष की दृढ़ शाखा को नीचे झुका कर उससे शल्य को रस्सी से बांध दें और फिर शाखा को एक दम से छोड़ने पर झटके के साथ शल्य बाहर निकल जाता है।

लाक्षा (Sealing wax) का शल्य गले में फंसने पर, गर्म शलाका को किसी नाड़ी यन्त्र में डालकर लाक्षा शल्य पर रखें फिर उसे पानी से सेचन करके ठंडा करें। शलाका के ठंडा होने पर वह शल्य से जुड़ जाती है, अब शलाका को खींचकर शल्य को बाहर निकाल लें। यदि शल्य लाक्षा का न होकर किसी धातु या पाषाणादि का हो तो गर्म शलाका पर लाक्षा को लगाकर उसे नाड़ी यन्त्र में रखकर शल्य से जोड़ें और उस शलाका को पानी से ठण्डा करें। जब शल्य शलाका पर लगी हुई लाक्षा से जुड़ जाए तो शलाका को खींचकर शल्य को बाहर निकाल लेना चाहिए।

शल्य निर्हरण के १५ उपाय—

विभिन्न प्रकार के शल्यों को निकालने के लिए निम्नलिखित 15 उपायों में से जो उपाय ठीक प्रतीत हो उसके द्वारा (उपरोक्त बताए सिद्धान्तों के आधार पर) शल्य को निकालना चाहिये।

(i) स्वभाव (ii) पाचन (iii) भेदन (iv) दारण (v) पीड़न (vi) प्रनार्जन (vii) निष्पीडन (viii) वमन (ix) विरेचन (x) प्रक्षालन (xi) प्रतिमर्श (xii) प्रवा-

हण (xiii) आचूषण (xiv) अयस्कान्त (xv) हर्ष तथा अन्य उपाय ।

(i) **स्वभाव**—बाहर खुलने वाले स्रोतों में स्थित शल्य स्वाभाविक वेगों (Natural urge) के द्वारा बाहर आ जाते हैं, जैसे आन्त्र में स्थित धूल-तथा फलों के बीज और अपान वायु गुदा द्वार से, नाक में स्थित शल्य छींक द्वारा, अश्मरी रूपी शल्य मूत्र द्वारा और पुरीष रूपी शल्य गुदा द्वार से बाहर आते हैं।

(ii) **पाचन**—मांस में स्थित अदृष्ट तृणादि जीवीय (Organic) शल्य उपनाहादि कर्मों द्वारा पाचन होने पर ढीले होकर पूय के साथ बाहर आते हैं।

(ii) **भेदन**—(Incision)—शल्य स्थान पर पूय बनने पर, पूय स्थान का शस्त्रों द्वारा भेदन करके पूय के साथ पड़े शल्य को भी निकाल दें। ये शल्य पूय की गुहा में पड़े मिलते हैं।

(iv) **दारण**—(Counter irritation)–बाल, वृद्ध, राजा एवं स्त्री में शल्य स्थान पर पूय पड़ने पर उसका दन्ती एवं कलिहारी, क्षारादि दारण द्रव्यों से दारण (फाड़ना) कर्म करना चाहिए ।

(v) **पीड़न**—व्रण में शल्य होने पर उस पर गेहूं, न्यग्रोधादि पीड़न द्रव्यों (Which contract on bryirg) का मोटा लेप लगाकर फिर उसे सुखाकर या व्रण को चारों ओर से हाथ से दबाकर शल्य को बाहर निकाला जाता है।

(vi) **प्रमार्जन** (Broom like action)—व्रण में एवं आंख में अनेक छोटे-छोटे धूल के कण शल्य रूप में रहने पर उन्हें बालों की वर्ति या कोमल वस्त्र से प्रमार्जन (पोंछ) करके निकालना चाहिए ।

(vii) **निर्धमापन** (Blow like action)—नासादि विवर युक्त अंग में फंसे हुए शल्य को मुख से फूंक कर या नाड़ी यन्त्र द्वारा वायु के वेग से निकालना चाहिए।

(viii) **वमन** (Vomit)—भोजन द्वारा खाए गए शल्य को गले में अंगुली से घर्षण करके एवं वमन करवा कर बाहर निकालना चाहिए।

(ix) **विरेचन** (Purgation)—यदि शल्य पक्वाशय तक पहुंच गया हो तो उसे विरेचन औषधि देकर गुद मार्ग से बाहर निकालना चाहिए।

(x) **प्रक्षालन** (Irrigation)—व्रण में स्थित पूय या अन्य धूलादि सूक्ष्म शल्यों को क्वाथादि से प्रक्षालन करके निकालना चाहिए।

(xi) **प्रतिमर्श** (To clean by rubbing)—व्रण में स्थित सूक्ष्म शल्य जैसे काञ्च के छोटे-छोटे टुकड़े जो दिखाई नहीं देते उन्हें अंगुली द्वारा अनुभव करके (स्पर्श करके), अंगुली की रगड़ (प्रतिमर्ष) द्वारा निकालते हैं।

(xii) **प्रवाहण** (To increase intra abdominal pressure)—मल, मूत्र, गर्भादि शल्यों को कुन्थन (प्रवाहण) द्वारा निकालना चाहिए।

(xiii) **आचूषण** (Suction)—व्रण गत स्राव को, दुष्ट स्तन्य को तथा वक्ष गत रुधिर को आचूषण कर्म (Negative pressure) द्वारा निकालते हैं।

(xiv) **अयस्कान्त** (Magnet)—व्रण या नेत्र में से लौहादि धातुओं के चूर्ण को अयस्कान्त द्वारा निकालना चाहिये।

(xv) **हर्ष** (To make happy)—रोगी के मन से दुःख रूपी शल्य को उसे हर्षित (प्रसन्न) करके निकालना चाहिये।

अन्य उपाय—(क) ग्रास रूपी शल्य के ग्रसनिका में फंसने पर रोगी को पानी पिलाकर या उसकी ग्रीवा पर शनैः-२ मुष्ठि प्रहार से शल्य को निकालना चाहिये।

(ख) भंगुर या दुर्बल शल्य जिसको कि निकालते समय टूट जाने का भय हो, उसे पहले गहराई में (शल्य को उसकी ग्रीवा स्थल से) बाँधकर फिर उसे खींचकर निकालना चाहिये।

(ग) मछली के काँटे गले में फंसने पर रोगी को धागे से बाँधा हुआ बालों का गुच्छा खिलाना चाहिये। जब उस गुच्छे के बालों में वह कांटा फंस जाये तो उसे खींचकर बाहर निकाल लें। बालों के गुच्छे के साथ-साथ काँटा भी बाहर निकल आता है।

आधुनिक उपाय—(i) मूत्राशय में स्थित विजातीय तत्वों (Foreign bodies) को मूत्राशय-दर्शक नाड़ी यन्त्र (Cystoscope) द्वारा, या मूत्र के वेग द्वारा, उनका विलयन करने के पश्चात् उन्हें निकालें (जैसे—मोम को जाईलोल और पानी में विलयन (dissolve) करके निकालते हैं)। शल्य बड़ा होने पर उसे उदर पाटन कर्म, जैसे सुपरा पियूबिक लिथोटामी (Supra pubic lithotomy) द्वारा निकालना चाहिये।

(ii) प्राणवह स्रोतों (Larynx and pharynx) के शल्य तीव्र कास के वेग के साथ या कफ के साथ मिलकर बाहर निकालते हैं। बड़े शल्यों को तुरन्त लेरिञ्जोटोमी या ट्रिकियोस्टमी कर्म (Laryngotomy or tracheostomy) द्वारा बाहर निकालना चाहिये, अन्यथा इनसे श्वासावरोध होकर मृत्यु हो सकती है। शल्य के श्वास प्रणाली (Bronchi) में रहने पर श्वास प्रणाली दर्शक नाड़ी यन्त्र (Broncho scope) के द्वारा, या श्वास नलिका को भेदन करके (Bronchotomy), या फिर फुफ्फुसों का छेदन कर्म (Lung resection) करके शल्य को निकालना चाहिये।

(iii) **आन्त्रवह स्रोत**—यहाँ का शल्य यदि विषमाकार परन्तु कुण्ठित हो तो उसे केला जैसे विष्टम्भि पदार्थ खिलाकर गुद मार्ग से मल के साथ निकालना चाहिये। यदि शल्य तीक्ष्ण कण्टक युक्त हो तो उसे आमाशय का भेदन (Gastrotomy) करके निकालना चाहिये। बालों के गुच्छे (Trichobezoar) को भी इसी

विधि से निकालें। यह बालों का गुच्छा पागल रोगियों में बाल खाने से बन जाता है। गुदा में स्थित गोल शल्य को मूढ़ गर्भ में प्रयुक्त होने वाले स्वस्तिक यन्त्रों (Obstetric forceps) द्वारा निकालें। काच के टुकड़ों को पैरिस के प्लास्टर (Plaster of paris) में जमा लेने के पश्चात् निकालें। गुदा में स्थित तीर सदृश कर्णिका युक्त शल्य (जो उपरोक्त विधि से न निकाले जा सकें) निकालने के लिये पहले उदर का भेदन करें (Laparotomy) फिर शल्य को गुद द्वार से ऊपर को धकेलें और उसे आन्त्र का भेदन करके निकालना चाहिये।

25

व्रण बन्धन (Bandages)

व्रणों को ढकने के लिए जो उपक्रम किया जाता है उसे व्रणबन्धन कहते हैं। पट्टी बांधने से व्रण का शोधन होता है। अर्थात् व्रण शुद्ध रहता है, कोमल बनता है तथा उपद्रव रहित रोपित होता है।

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते॥ सु० चि० 1

बन्धन द्रव्य *(Material for bandaging)*—

(1) क्षौम (सन्)
(2) कार्पास (रुई)
(3) आविक (ऊनी वस्त्र)
(4) दुकूल (पट्ट वस्त्र)
(5) कौशेय (रेशम)
(6) चीन पट्ट (चीन में बना पट्ट)
(7) चर्म (मृग का चर्म)
(8) अन्तर्वल्कल (गूलर वृक्ष की अन्दर की पतली छाल)
(9) अलाबूशकल (लोकी का टुकड़ा)
(10) लता (बेल)
(11) विदल (बाँस या बिल्व का खरपर)
(12) तूलफल (सिम्बल फल)
(13) रज्जु (रस्सी)
(14) सन्तानिका (दो या तीन गुणा मोटा रज्जु)
(15) लौह (स्वर्णादि धातुयें)

आजकल बन्धन कर्म के लिये लिनिन (Linen), फ्लैनल (Flannel), मलमल (Muslin) तथा रुई (Cotton) का प्रयोग किया जाता है।

व्रण बन्धन प्रयोज्य उपकरण—

कवलिका (Cotton pad)—"द्विगुण चतुर्गुण मृदुपट्ट विरचिता कवलिका" "बहुवस्त्र खण्डमुद विवर्तिता कवलिका"

व्रण को आघातादि से बचाने के लिये, व्रण के ऊपर दो या चार तह करके जो कोमल वस्त्र रखा जाता है उसे कवलिका कहते हैं। सुश्रुत ने व्रण पर घनी

कवलिका रखकर बन्धन करने को कहा है। आजकल इसके स्थान पर रुई अर्थात् कपास (Cotton pad) का प्रयोग करते हैं।

विकेशिका (Medicated gauze piece)—"कल्कमधुघृताभ्युक्त वस्त्रस्य सूत्रस्य वा वर्ति विकेशिका।"

कल्कघृतादि औषध को जिस वस्त्र या सूत्रादि पर लगाकर व्रण पर रखा जाता है उसे विकेशिका कहते हैं।

सपूतिमासं सोत्संगसर्गति पूयगर्भिणम्।
व्रणं विशोधयेत् शीघ्रं स्थिता ह्यन्तर्विकेशिका॥

विकेशिका को व्रण में रखने से पूतिमांस युक्त व्रण, कोटर युक्त व्रण तथा अन्तःपूय वाले व्रण शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं [आजकल भी Gauze पर औषध लगाकर उसे Sinus cavity में भरने (Packing) के लिये प्रयोग करते हैं]।

पिचु (Swab)—"पिचु स्थूल कवलिका" यह विकेशिका के सदृश होती है, परन्तु यह स्थूल कपड़े की बनी होती है, इसे औषध युक्त तैल या घृत में भिगोकर योनि में रखा जाता है।

प्लोत (Swab or pack)—पानी या कषाय से भीगा हुआ कपड़ा (Swab) जो व्रण को धोने तथा साफ करने के काम आता है उसे प्लोत कहते हैं।

बन्धन विषय (संकेत, योग्य)—

(i) औषधि को व्रण पर सतत लगाए रखने के लिए।

(ii) अस्थि भग्न तथा सन्धि मोक्ष (Fracture and dislocation) में स्थिरता लाने के लिये।

(iii) धूली, शीत वायु, धूप तथा मक्खियों से व्रण को शुद्ध रखने अर्थात् इनसे व्रण की रक्षा करने के लिए।

(iv) रक्तस्राव रोकने के लिये।

(v) व्रण की आघात से रक्षा करने के लिये।

(vi) ओष्ठ तथा नासादि के सन्धान के पश्चात्।

(vii) सर्पदंश विष को फैलने से रोकने के लिये।

(viii) श्वयथु निवारणार्थ (To reduce oedema)।

(ix) विकलांगता की चिकित्सार्थ जैसे, पादवक्रता (Talipes equinovarus) में।

(x) भग्न स्थान या व्रण स्थान को विश्राम देने के लिये।

(xi) त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि के आश्रित व्रणों में बन्धन कर्म के लिये।

प्रतिसंकेत अयोग्य :

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पंडिका मधुमेहिनाम्।
कर्णिकाश्चोन्दुरूविषे विषजुष्टाश्च ये व्रणाः॥
मांसपाके न बध्यन्ते गुदपाके च दारूणे। सु० सू० 18

शल्य युक्त व्रणों में, दुष्ट व्रणों में, पूय या मृतोतकादि से युक्त व्रणों में जैसे—कुष्ठज व्रण, अग्नि दग्ध व्रण, मधुमेही के व्रण, प्रमेह पिड़िका, मूषक विष जन्य व्रण, दूषित मांसांकुर युक्त व्रण, विषज व्रण, मांस पाक तथा गुदपाक एवं व्रण पाक की अवस्थाओं में बन्धन नहीं बाँधना चाहिए।

व्रण बन्धन के नियम :

व्रण बन्धन कर्म में निम्न क्रम का अनुसरण करना चाहिए।

(i) व्रणों में से दोषों (पूयादि) को निकालें (पित्तज तथा रक्तज व्रणों में एक ही बार में दोष निकाल दें, कफ तथा वातजन्य व्रणों में दोष बार-बार निकालें, क्योंकि इन व्रणों में पाक की क्रिया मन्द होती है तथा पूय धीरे-धीरे बनती है)।

(ii) व्रण को पञ्चक्षीरीवृक्षों की छाल के क्वाथ से प्रक्षालन करें।

(iii) चूर्ण, घृत, तैल, रसक्रियादि आवश्यकता के अनुसार शोधन औषधियों को न अतिरुक्ष तथा न अति स्निग्ध कल्पना बनाकर विकेशिका (Gauze) द्वारा व्रण पर रखें।

(iv) गुहायुक्त व्रण में वर्ति (Packing) रखें (इसे दबाकर न रखें) वर्ति को अधिक दबाकर रखने (Tight packing) से व्रण स्राव अन्दर ही रुका रहता है तथा अस्रावी व्रण में भी स्राव होने लगता है एवं व्रण विस्तृत तथा विषमाकार हो जाता है।

(v) विकेशिका के ऊपर कदली पत्र रखें। इससे औषधि की रक्षा होती है तथा औषधि बन्धन वस्त्र पर नहीं लगती।

(vi) पत्र पर घनी कवलिका (Cotton pad) रखें।

(vii) अन्त में कवलिका के ऊपर से पट्टी बान्ध देनी चाहिए।

बन्धन की विधि :

पट्टी गोलक (Rollar) को दक्षिण हाथ में इस प्रकार से पकड़ें जिससे कि उसे व्रण के ऊपर सीधा लपेटने से वह अपने से ही खुलती जाए तथा पट्टी के लपेट भीतर से बाहर को (Outwards) आने चाहिए। पहले पट्टी को व्रण के समीप के स्थान पर कुछ एक लपेट देकर स्थिर (Fix) कर लें, फिर उसे घुमाते हुए व्रण के ऊपर ऐसे ले जाएं जिससे कि पट्टी ऋजु, अनाविद्ध तथा असंकुचित रूप में बनी रहे। इसके दूसरे घुमाव द्वारा पहले घुमाव का 3/4 भाग ढक जाना चाहिए। यह भी ध्यान में रखें कि बन्धन से व्रण के किनारे आपस में जुड़े रहें। व्रण, विकेशिका तथा कवलिका का

कोई भाग बन्धन से बाहर न रहने पावे। बन्धन की यन्त्रणा (Knot) अर्थात् गांठ को उर्ध्व-अधः या तिर्यक अर्थात् व्रण से हटकर बांधना चाहिए (ताकि गांठ से रोगी को बैठते, लेटते या चलते समय कष्ट न हो)। बन्धन को दोषानुसार ही बदलना चाहिए जैसे—

(i) रक्त तथा पित्त दोष में एवं शरद् या ग्रीष्म ऋतु होने पर पट्टी को दिन में दो बार बदलें, क्योंकि स्वेद तथा व्रण के निस्रावों से व्रण क्लिन्न हो जाता है।

(ii) कफज तथा वातिक व्रणों में, हेमन्त तथा बसन्त ऋतु में बन्धन प्रति तीसरे दिन बदलें क्योंकि इन अवस्थाओं में व्रण क्लिन्न नहीं होता।

(iii) कफज व्रण में ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु होने पर बन्धन प्रति दूसरे दिन बदलें। इसी प्रकार से चिकित्सक स्वयं कल्पना करके आवश्यकता अनुसार बन्धन विपर्यय करें।

बन्धन अनाह (Width)—

0·75 इञ्चिज का बन्धन—अंगुली, शिश्न तथा पाद अंगुली के लिए।

1 ,, ,, ,, —हाथ के लिए।

2·5 ,, ,, ,, —भुजा, शिर, जंघा तथा स्तन के लिए।

3–4 ,, ,, ,, —वक्ष, उरु तथा उदर के लिए।

बन्धन द्रव्यों का अवस्थानुसार प्रयोग :

(i) वात दोष, कफ दोष, शीत ऋतु तथा गाढ़ स्थानों पर घना (Thick) तथा उष्ण वीर्य (चर्म, रेशमादि) बन्धन द्रव्यों का प्रयोग करें।

(ii) पित्त दोष, रक्त दुष्टि तथा उष्ण ऋतु में तनु (Thin) एवं शीत वीर्य बन्धन द्रव्यों का प्रयोग करें, जैसे क्षोम।

(iii) सर्पदंश में ऋजु का प्रयोग करें।

(iv) रक्तस्राव रोकने के लिए सन्तानिका का प्रयोग करें।

(v) दन्त भग्न में लोहे से निर्मित तार का प्रयोग करें।

(vi) शिर के व्रण में अलाबू शकल को बांधें।

(vii) भग्नज व्रण में स्वर्णादि धातुओं की कुशा (Splint) को लगाएं।

(viii) चिबुक या नासा व्रण में तूल फल का प्रयोग करें।

भेद :

(क) स्थानानुसार—

(i) गाढ़ बन्ध (ii) समबन्ध। (iii) शिथिल बन्ध

(ख) आकारानुसार—

सुश्रुत ने 14 प्रकार के बन्ध बताए हैं, परन्तु वाग्भट ने उत्सङ्ग बन्ध अधिक बतलाया है, इससे बन्ध 15 प्रकार के हो जाते हैं।

(1) कोश
(2) स्वस्तिक
(3) मुतोली
(4) दाम
(5) अनुवेलित
(6) चीन
(7) खट्वा
(8) विबन्ध
(9) स्थगिका
(10) वितान
(11) पञ्चाङ्गी
(12) गोफणा
(13) यमक
(14) मण्डल
(15) उत्संग

(1) स्थानानुसार भेद—

पीडयन्नरुजो गाढ़: सोच्छ्वास: शिथिल: स्मृत:।
नैव गाढो न शिथिल: समो बन्ध: प्रकीर्तित:॥ सु० सू० 18

(1) **गाढ़ बन्ध** (Tight bandage)—इस बन्ध पर दाब डालने से व्रण में पीड़ा नहीं होती। इसका प्रयोग स्फिक जैसे मांसल भागों में, कक्षा, वंक्षण, उरू एवं शिर जैसे विषम स्थानों पर होता है। यदि सम तथा शिथिल स्थानों पर गाढ़ बन्ध बांध दें तो औषधि निरर्थक हो जाती है और व्रण पर शोफ तथा वेदना होती है। यदि वात या कफ दोष अधिक हों तो सम के स्थान पर गाढ़ बन्ध तथा गाढ़ के स्थान पर और अधिक गाढ़ बन्ध बांधना चाहिए। परन्तु इसे 24 घण्टे पश्चात् ढीला कर देना चाहिए अन्यथा कोथ या शोफ उत्पन्न होने का भय रहता है।

(2) **समबन्ध** (In between loose & tight bandage)—यह गाढ़ तथा शिथिल बन्ध के बीच की स्थिति है। इसे शाखा, मुख, कान, गण्ड, शिश्न, अण्डकोष, पीठ, पार्श्व, उदर, वक्ष एवं पार्श्व इत्यादि स्थानों में बाँधते हैं। गाढ़ तथा शिथिल बन्ध के स्थानों पर सम बन्ध बांधने से बन्ध गुण हीन हो जाता है। पित्त दोष होने पर गाढ़ बन्ध के स्थान पर सम बन्ध बाँधें तथा कफ और वात दोष अधिक होने पर शिथिल के स्थान में भी सम बन्ध बाँधना चाहिए।

(3) **शिथिल बन्ध** (Loose bandage)—जो बन्ध श्वास लेते समय हिले उसे शिथिल बन्ध कहते हैं। इसे अतिकोमल स्थानों पर तथा चेष्टावान् सन्धियों पर बांधना चाहिए (ताकि उनकी गति हो सके)। गाढ़ तथा समबन्ध के स्थान पर

TYPFS OF BANDAGING

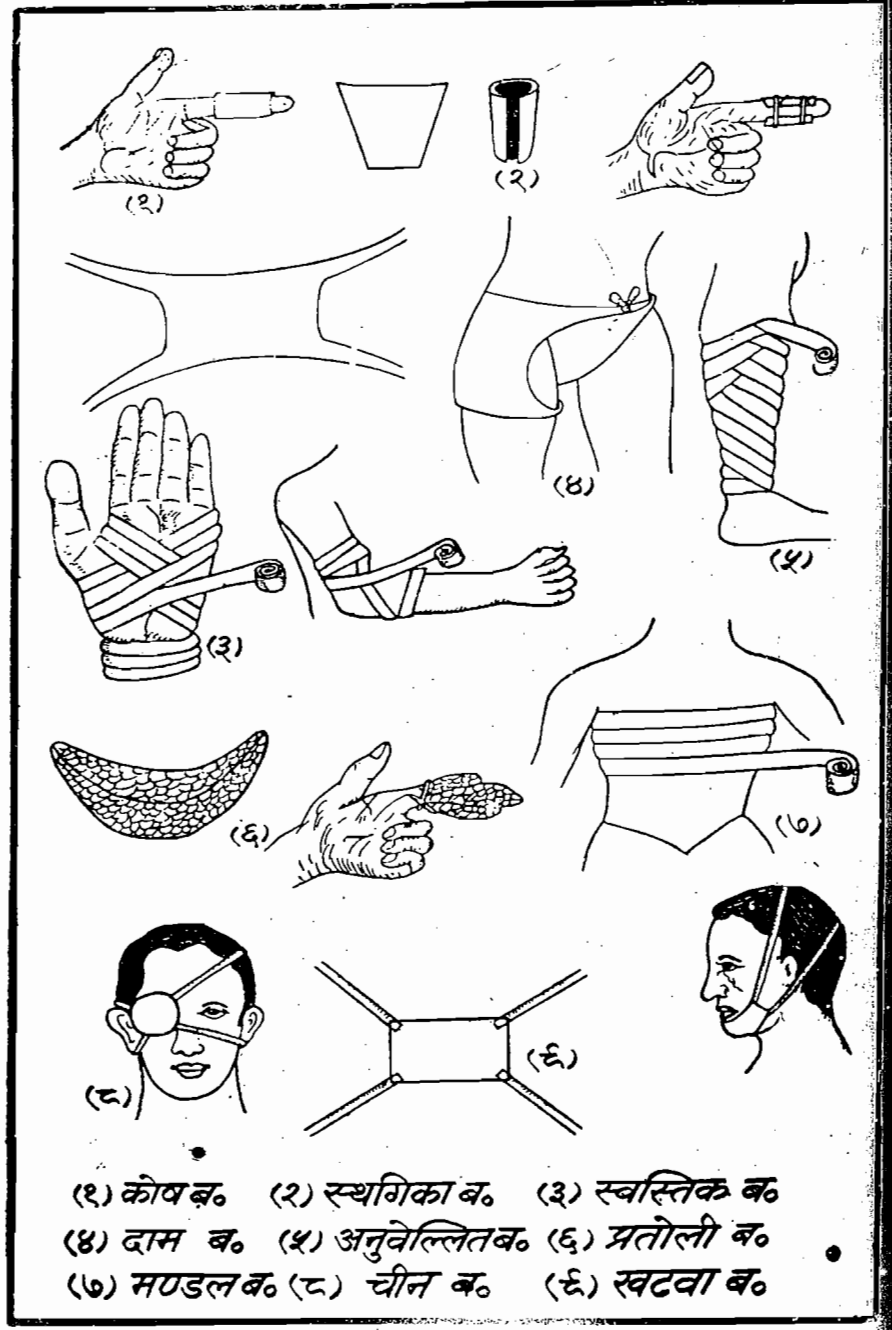

शिथिल बन्ध बाँधने से विकेशिका से औषधि गिर जाती है। बन्ध के हिलने के कारण ण मुख पर आघात (Friction) होता है। यदि व्रण में पित्त दोष हो तो सम के थान पर शिथिल बन्ध बाँधना चाहिये तथा शिथिल के स्थान पर बन्ध नहीं बांधना चाहिये।

(ii) आकारानुसार भेद :--

(1) **कोश बन्ध** (Sheath of sleeve bandage)--यह रेशम के कीट के कोष या तलवार की म्यान (कोष) की तरह होता है जो कि चर्म से बना होता है। व्रण पर औषधि तथा कवलिका रखकर, कोश बन्ध को व्रण स्थान पर चढ़ा देते हैं। इसे अंगुली, अंगुष्ठ के पर्वों में, कूर्च, कूर्पर एवं जानु के व्रणों में तथा शाखा के छिन्न व्रणों में प्रयोग करें।

(2) **स्वस्तिक बन्ध** (Cross or figure of eight bandage)--इसकी आकृति स्वस्तिक चिन्ह की तरह "卐" या आठ के चिन्ह "8" की तरह होती है। पहले पट्टी के 2-3 लपेट सन्धि के नीचे देकर उसे स्थिर कर लें, फिर पट्टी को सन्धि के पीछे से बाहर को लायें तथा लपेटते हुये उसे सन्धि के ऊपर ले जायें। फिर लपेटते हुए जब इसे सन्धि के पीछे को लाते हैं तो इसे पुनः सन्धि के अधः भाग की ओर जाकर पट्टी को पहले की तरह से हर बार-ऊपर को ले जाते हैं इस तरह पहले लपेट का 3/4 भाग ढकते हुए तथा बार-बार इसी विधि से लपेटते हुए सम्पूर्ण सन्धि को ढक लें। इस तरह सन्धि की पट्टी बार-बार लगाने से सन्धि से पीछे की ओर ले स्वस्तिकाकार या क्रास (Cross) का चिन्ह बनता जाता है। इस क्रास को सीधी रेखा में ही बनाते जाना चाहिए।

स्थान--सन्धि, कूर्च, भ्रूमध्य, स्तन, स्तन-मध्य, हाथ एवं पांव के तलुवे में बान्धें। अरुण दत्त ने इसे कक्षा, नेत्र, कपोल और कर्ण में बांधने के लिये कहा है।

(3) **प्रतोली बन्ध**--यह जाल सदृश छिद्रयुक्त (It is a loosely wooven bandage, like a net) तथा पर्याप्त ढीला बन्ध, प्रतोली (मुतोली) बन्ध होता है। इसके ढीला होने से मलमूत्र त्याग करने में सुविधा रहती है तथा यह पूरे अङ्ग को ढक लेता है। इस बन्ध को मेढ्र, ग्रीवा तथा ललाट में बांधते हैं।

(4) **दामबन्ध** (Four tailed bandage)--यह चार प्रान्त वाला बन्ध होता है। अन्य बन्धों के असफल होने पर इसे बांधना चाहिये। अक्षकास्थि के लिए इसमें चौड़े भाग को अस्थि पर रखकर दो प्रान्तों को ग्रीवा तथा कक्षा में से घुमाकर पीठ पर बांधें तथा अन्य दो प्रान्तों को दोनों कक्षाओं में से ले जाकर पीठ पर बांध दें।

(5) **अनुवेल्लित बन्ध** (Spiral bandage)--यह बन्ध लता की तरह शाखाओं के चारों ओर घूमता हुआ आगे को बढ़ता जाता है। इसका प्रयोग ऊर्ध्व

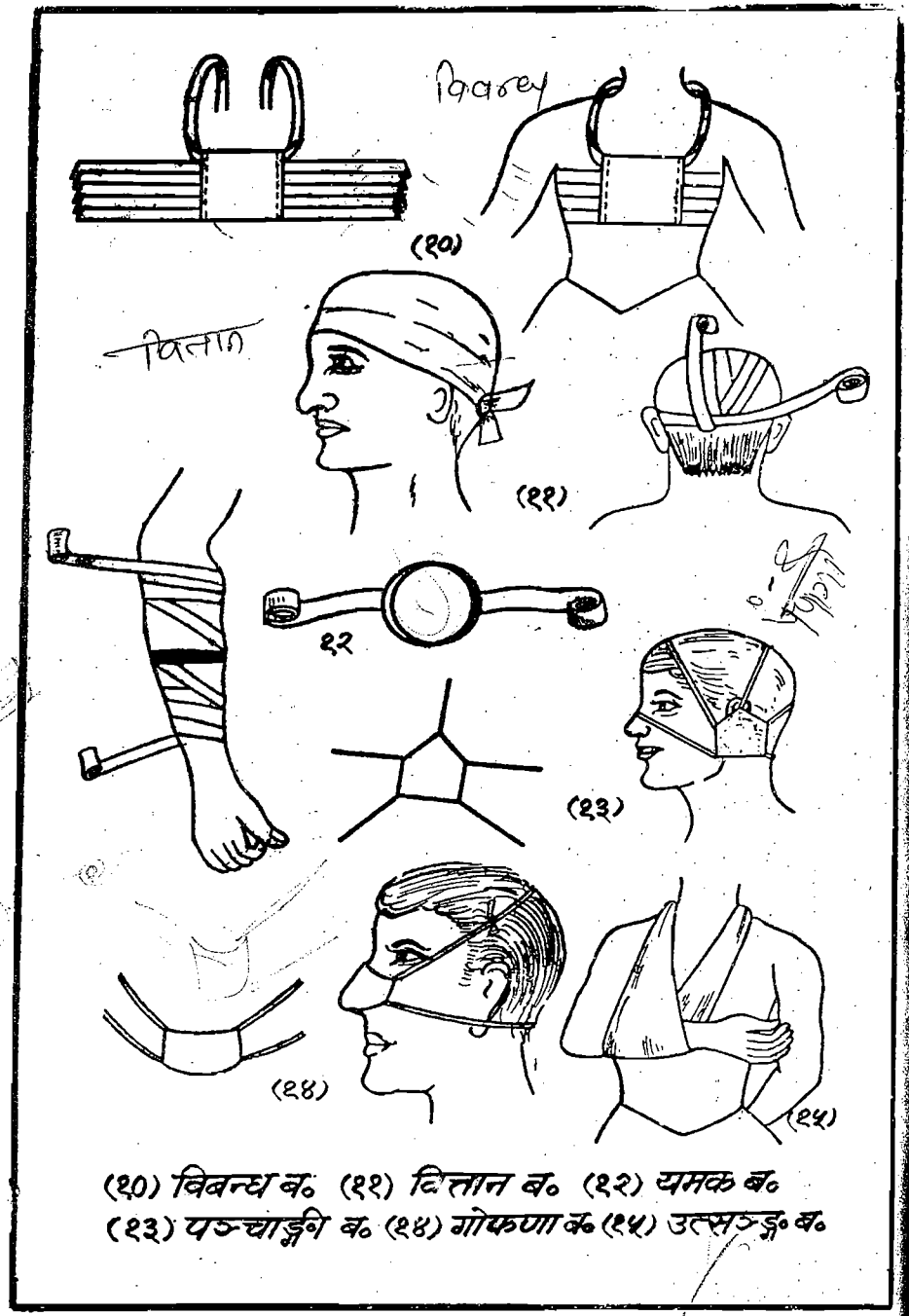

(१०) विबन्ध ब० (११) वितान ब० (१२) यमक ब०
(१३) पञ्चाङ्गी ब० (१४) गोफणा ब० (१५) उत्सङ्ग ब०

प्लेट नं 8

तथा अध: शाखाओं के व्रणों में होता है। विपरीत अनुवेल्लित बन्ध (Reversed spiral) में पट्टी जब एक लपेट पूरा करके शाखा के आगे की ओर पहुंचती है तो उसे पलट देते हैं। इससे पट्टी का बाह्य तल अन्दर तथा अन्त: तल बाहर को आ जाता है हर बार पट्टी को उसी रेखा के पास पहुंचते ही उलट दें। इससे शाखाओं की बढ़ती हुई गोलाई के साथ-साथ पट्टी को उलटते रहने से हर लपेट कसा जाता है अर्थात् Tight हो जाता है तथा पट्टी ढीली नहीं हो पाती।

(6) **चीन बन्ध** (Many tailed bandage for eye)—यह बीच से कम चौड़ा (जिससे नेत्र अच्छी तरह से आच्छादित हो सके) वस्त्र का खण्ड (Piece) होता है। इसके चारों ओर अनेक पट्टियां अर्थात् सन्तानिकायें लगी रहती हैं। इन्हें शिर के पीछे बांधकर बन्ध को नेत्र पर स्थिर किया जाता है। इसका प्रयोग नेत्रगत व्रणों में होता है।

(7) **खट्वा बन्ध** (Four tailed bandage)—हाराण चन्द्र ने इसे चतुष्पाद बतलाया है अर्थात् इसके मध्य के वस्त्र खण्ड के चारों कोणों पर एक-एक पट्टी लगी रहती है। इन्हें शिर के ऊपर बांधकर मध्य वस्त्र खण्ड से व्रण को ढक दिया जाता है (**वैतरण** ने इसे अनेक पट्टियों वाला बन्ध कहा है)। इसका प्रयोग हनु, शंख प्रदेश एवं गण्डस्थल में होता है। यह दाम बन्ध सदृश होता है, परन्तु इसका मध्य क. वस्त्र -खण्ड दाम बन्ध के वस्त्र-खण्ड की अपेक्षा छोटे आकार का होता है।

(8) **विबन्ध बन्ध** (Many tailed bandage)—इसमें एक आयताकार मध्यस्थित वस्त्र-खण्ड में प्राय: छः पट्टियां लगी रहती हैं। इनमें से पांच पट्टियों का ऊपर नीचे तथा तिर्यक रीति से कक्षादि अङ्गों के पीछे के भाग में बांध देते हैं फिर दोनों ओर की शेष एक पट्टी को ऊपर को घुमाकर स्कन्ध की ओर ले जायें तथा दोनों ओर से उन्हें ग्रीवा के पीछे लाकर बांध दें। इससे बन्ध गुरुत्वाकर्षण (Gravity) के कारण नीचे को नहीं गिर सकता। इस बन्ध को उदर, वक्ष तथा पीठ के व्रणों में बांधते हैं।

(9) **स्थगिका बन्ध**—इसकी आकृति स्थगिका की तरह एक ओर से अधिक चौड़ी तथा दूसरी ओर से कम चौड़ी होती है। इसे अंगुली, अङ्गुष्ठ तथा मेढ़ को अग्रभाग में बाँधते हैं। सुश्रुत ने इसे मूत्र वृद्धि में द्रव निर्हरण के पश्चात् बांधने को कहा है। इसका निर्माण, वस्त्र को एक ओर से अधिक तथा दूसरी ओर से कम काट-कर करते हैं। यह कोप बन्ध का भी कार्य कर सकता है, इस कारण इसे अण्डकोष तथा स्थूणक (Stump) पर भी बांधा जा सकता है।

(10) **वितान बन्ध** (Cephalic bandage)—यह बन्ध शिर को वितान (शमियाना) की तरह सब ओर से ढक लेता है, यह बन्ध अनेक प्रकार से बनाया जा सकता है जैसे—

(i) एक चकोर वस्त्र खण्ड से शिर को ढककर (रूमाल की तरह) उसके दो कोणों को माथे पर बांध दें तथा अन्य दो को शिर के पीछे बांध दें।

(ii) एक त्रिकोणाकार पट्टी (Triangular bandage) लेकर उसका चौड़ा भाग माथे (ललाट) की ओर रखते हुए रोगी के शिर को ढक दें, फिर आगे के दोनों किनारों को शिर के पार्श्व से होते हुए पीछे की ओर ले जाकर पीछे वाले किनारे के ऊपर से बांध दें। अब पीछे वाले किनारे को गांठ के ऊपर से घुमाकर शिर ढकने वाली पट्टी के साथ सेफ्टी पिन (Safety pin) से जोड़ दें।

(iii) दो पट्टी गोलकों को लेकर उनके किनारों को एक दूसरे से जोड़ दें तत्-पश्चात् एक पट्टी को तो शिर के ऊपर से पहले पीछे फिर आगे ले जाते हुए पूरे शिर को ढक लें तथा दूसरी पट्टी को शिर के चारों ओर इस तरह से घुमाते रहें ताकि पहली पट्टी जब पीछे से आगे को आ जाती है तो ललाट के ऊपर दूसरी पट्टी उसके ऊपर से लपेटें, फिर जब पहली पट्टी पीछे को जाए तथा पीछे भी इसे दूसरी पट्टी के लपेट से दबा दें इस तरह पहली पट्टी को शिर के आगे तथा पीछे की ओर ले जाकर हर बार दूसरी पट्टी के लपेट से दबाते रहें। इस तरह करते हुए पूरे सिर को ढक दें।

(11) **पञ्चाङ्गी बन्ध** (Five tailed bandage)—यह 5 प्रान्त वाला बन्ध है। इसे शिर तथा आनन (Face) जैसे गोल स्थानों पर बड़ी आसानी से बांधा जा सकता है। इसका प्रयोग हनु सन्धि के च्युत होने पर (Dislocation) तथा ऊर्ध्व जत्रुगत व्रणों में होता है।

(12) **गोफणा बन्ध**—इसका आकार पाषाण फेंकने के चार सन्तानिका वाले यन्त्र के समान होता है। इसमें मध्यस्थित वस्त्रखण्ड आधे तूलफल के समान गहराई युक्त (Concave) होता है। इसमें नासिकादि उभार युक्त अंग ठीक से बैठ सकते हैं। इसका प्रयोग चिबुक, अंस, वस्ति, नासा एवं ओष्ठादि के व्रणों पर तथा गुदभ्रंश में किया जाता है। इसके मध्य वस्त्र-खण्ड का आकार स्थानानुसार छोटा या बड़ा बना लेना चाहिये।

(13) **यमक बन्ध** (Bandage for two wounds)—यह मध्य से मण्डलाकार बन्ध, एक साथ दो व्रण स्थानों को आच्छादित करता है।

पहले दोनों व्रणों के मध्य में वस्त्र का छल्ला (मुद्रिका) बनाकर डाल दें, फिर उसके दोनों ओर एक-एक पट्टी का गोलक (Roller bandage) बांध दें तथा इन दोनों गोलकों द्वारा दोनों व्रणों को अलग-अलग बांधें।

(14) **मण्डल बन्ध**—इसके लपेट गोलाई लिये रहते हैं तथा इसे गोल स्थानों के व्रणों पर प्रयोग करने के लिये कहा है, जैसे वक्ष, उदर, पृष्ठ तथा बाहु में। वक्ष तथा उदर में व्रण सामने या पीछे की ओर होने पर विबन्ध बन्ध बांधना

चाहिए। यदि व्रण पार्श्व (Axillary line) में हो तो मण्डल बन्ध उपयुक्त होता है।

(15) **उत्सङ्ग बन्ध** (Sling bandage)—भग्न के कारण लटकी हुई बाहु को सहारा देने के लिए जो बन्ध बाँधा जाता है, उसे उत्सङ्ग बन्ध कहते हैं।

आजकल इस तरह के बन्ध के लिए त्रिकोणाकार पट्टी (Triangular bandage) का प्रयोग किया जाता है। त्रिकोणाकार बन्ध के दो प्रान्तों को बांधकर इसे गले (ग्रीवा) में डाल देते हैं। इसके लटकते हुए चौड़े भाग में हाथ को डाल दें, फिर इसके तीसरे प्रान्त से कूर्पर सन्धि को आच्छादित करते हुए इसे पीछे से आगे को लाकर मुख्य पट्ट से सेफटीपिन (Safety pin) लगाकर जोड़ दें।

26
रोगी की सेवा
(Patient's care)

व्याधि को शीघ्रातिशीघ्र शमन करने के लिए औषध व्यवस्था के साथ-साथ रोगी की विशेष सेवा (Special care) की आवश्यकता होती है। यह सेवा अनेक प्रकार से की जाती है, जैसे—

(क) **परिचारक द्वारा (By nurse)**

(ख) वैद्य द्वारा (By doctor)

(क) परिचारक द्वारा (By nurse) :

परिचारक को स्निग्ध (प्रीतियुक्त), अजुगुप्सु (लोभ रहित), बलवान्, रोगी की रक्षा करने में तत्पर, वैद्य की आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला/वाली एवं उरो दुःख रहित होना चाहिए।

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे।
वैद्यवाक्यकृदक्षान्तः पादः परिचरः स्मृतः॥ सु० सू० 34

परिचारक को रोगी की विशेष सेवा के लिए ही रखा जाता है। वह रोगी का हर समय ध्यान रखती है और रोगी को अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करती है। इस कारण रोगी को कम से कम कष्ट होता है तथा उसका मन भी प्रसन्न रहता है। रोगी की सेवा में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(i) **उपचार**—परिचारक को रोगी के लिए प्रत्येक आवश्यक भोजन सम्बन्धी जानकारी होनी चाहिए [आजकल इस कार्य के लिए आहार ज्ञाता (Dietaecian) को रखा जाता है], जैसे यूष, विलेपि इत्यादि को बनाना, कृश रोगियों के लिए पाचक तथा बलवर्द्धक भोजनों [जैसे प्रोटीन (Proteins), दूध तथा विटामिनादि] की जानकारी, स्थूल रोगियों के लिए हल्के तथा लेखन भोजन की जानकारी, मधुमेही के लिए शर्करा तथा कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) से रहित भोजन इत्यादि की जानकारी।

उसे रोगी को करवट दिलाने, उठाने, बैठाने, पकड़कर चलाने तथा मल-मूत्रादि त्याग करवाने की विधियों की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। रोगी के कमरे में

कितना प्रकाश चाहिए, रोगी के लिए आरामदायक तथा देखने में सुन्दर बिस्तर की व्यवस्था इत्यादि पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए रोगी को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने में कोई विषम क्रिया (Jerky movement) नहीं होनी चाहिए। विषम क्रिया से शल्य कर्म द्वारा कृश हुआ रोगी स्तब्धता (Shock) में पहुंच सकता है।

(ii) **चतुराई (Intelligence)** : परिचारक को रोगी पर अच्छे मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रभाव डालना चाहिए। रोगी के साथ ऐसी बातचीत करनी चाहिए तथा इस ढंग से अपने आपको उसके सामने प्रस्तुत करना चाहिए जिससे रोगी का मन अपनी व्याधि से दूर रहे। रोगी के गम्भीरावस्था में होते हुए भी उसे अपनी व्याधि की गम्भीरता का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होने देना चाहिए।

(iii) **प्रेम-भाव (Affection)** :—रोगी की सेवा केवलमात्र अपना कर्त्तव्य (Duty) समझकर ही नहीं करनी चाहिए, परन्तु सेवा में प्रेम-भाव भी होना चाहिए जिससे कि रोगी परिचारक को अपना हितैषी समझने लगे तथा उसे देखते ही अपने दुःख को भूल जाए।

(iv) **पवित्रता (Cleanliness)** :—रोगी को हमेशा पवित्र स्थान पर रखना चाहिए। उसके वस्त्र तथा भोजन पात्रों को पवित्र रखें। रोगी के शरीर को स्नान या स्पंज (Sponging) करवाकर साफ रखना चाहिए।

(v) **रोगी के बारे में जानकारी** :—परिचारक को रोगी के दिन भर की अवस्थाओं की पूरी जानकारी होनी चाहिए, जैसे :—रोगी का दिन भर का तापमान का क्रम, नाड़ी की गति (Pulse rate), रक्त भार (Blood pressure), मल-मूत्र की प्रवृत्ति तथा रोगी को वमन आने या क्षुधा लगने इत्यादि की जानकारी।

(ख) वैद्य द्वारा (By doctor) :

वह वैद्य ही रोगी की सेवा उत्तम रूप से कर सकता है जो शास्त्र को अच्छी प्रकार से जानता हो, जिसने शल्य कर्मों देखा हो या स्वयं किया हो, लघु (संतुलित) हाथ वाला, पवित्र, शूर, यन्त्र, शस्त्र एवं भैषजादि से युक्त, प्रत्युत्पन्नमति, बुद्धिमान, उत्साही, पण्डित, सत्यनिष्ठ एवं धर्मपरायण हो—

तत्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते॥ **सु० सू० 34**

वैद्य को चाहिए कि वह रोगी की पुत्रवत रक्षा करे।

(तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक्॥) **सु० सू० 25**

वैद्य को बाल तथा वृद्ध अवस्थाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

(i) **बाल्यावस्था**—बच्चों में कुछ एक व्याधियां ऐसी होती हैं जिन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है, जैसे वमन या विरेचन होने पर बच्चों में शीघ्र निर्जलीकरण की अवस्था (Dehydration) उत्पन्न हो जाती है, शरीर भार का 6% जल निकल जाने से निर्जलीकरण जन्य शल्यता (Dehydration embulous) उत्पन्न हो जाती है । ऐसी स्थिति में उसे ग्लूकोस सैलाईन (Inj-glucose saline, I. V. drip) सूची वेध द्वारा सिरा में देना चाहिए ।

(ii) **वृद्धावस्था (Old age)**—वृद्धावस्था में कुछ एक अङ्गों में विकार विशेष रूप से उत्पन्न होते हैं इसलिए उन स्थानों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए, जैसे हृदय, रक्तवह-संस्थान, श्वासवह-संस्थान तथा मूत्रवह-संस्थान । इनमें विशेषकर प्रोस्टेट (Prostate) से मूत्राघात, स्थूल रोगी में मधुमेह, हृदयरोग से पीड़ित रोगियों में श्वासवह संस्थान, हृदय तथा रक्त भार इत्यादि के रोगों पर विशेष ध्यान देना चाहिए । स्तब्धता या रक्तन्यूनता होने पर रोगी के पैर सिर से $\frac{1}{2}$ से 1 फुट ऊपर कर दें (Trendlenburg's position) । परन्तु हृदय रोग या छिद्रोदर होने पर उसे फाऊलर अर्थात् ऊर्ध्व देहार्ध आसन (Fowler's position) में रखें ।

शल्यकर्म के उपरान्त (Post operative) :

(i) **निद्रा** :—रोगी को यदि रात्रि को निद्रा न आती हो तो उसे अहिफेनासव 10 बूंद या बार बिचूरेट्स (Barbiturates) देकर सुलाना चाहिए ।

(ii) **वेदना** :—रोगी को यदि तीव्र वेदना हो रही हो तो निद्राजनक औषधि अकेली काम नहीं करती, इसके लिए रोगी को गोदन्ती, अश्वगन्धा, जटामान्सी या निद्राजनक तथा वेदनाहर (Analgesics and narcotics) औषधियाँ देनी चाहिएं ।

(iii) **वमन** :—सार्वदैहिक संज्ञानाश के पश्चात् प्रायः वमन होती है । इस पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु यदि 12 घण्टे के पश्चात् भी वमन होती रहे तो पर्युदर्या शोथ (Peritonitis) या तीव्र आमाशय विस्फार (Acute dilatation of stomach) जैसी तीव्र अवस्थाओं को ध्यान में रखना चाहिए ।

(iv) **द्रव तथा लवणों का सन्तुलन** :—अधिक वमन या अतिसार होने पर रोगी में जल तथा लवणों की पूर्ति कर देनी चाहिए ।

(v) **आहार (Diet)** :—शल्य कर्मों के उपरान्त रोगी का सर्वप्रथम आहार द्रव या तरल पदार्थ (Liquid diet) होने चाहियें ।

(vi) **गतिविधि (movements)** :—शल्यकर्मों के उपरान्त रोगी को यथासम्भव शीघ्र गति करने (Early movements) के लिये प्रेरित करना चाहिये (Early mobilization) ।

(vii) **आध्मान (Distention)** :—उदर के शल्यकर्मों के पश्चात् आध्मान उत्पन्न होने पर आन्त्रमघात (Paralytic ileus) तथा आमाशय विस्फार (Dilatation of stomach) की ओर तुरन्त ध्यान देना चाहिये ।

(viii) **हिक्का (Hiccough)** :—हिक्का के कारणों की जाँच करके तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिये ।

(ix) **संक्रमण (Infection)** :—शल्यकर्म के पश्चात् रोगी में संक्रमण होने पर (Wound infection. cellulitis, or stich abscess) उसकी तुरन्त आवश्यक चिकित्सा करनी चाहिये ।

(x) **निकास नलिका (Drainage tube) तथा सीवन कर्म** :—निकास नलिका को 48 घन्टे के पश्चात् निकाल देना चाहिये । सीवनकर्म (Stiches) के धागों को 6 से 8 दिन के पश्चात् काट देना चाहिये ।

रोगी गृह के गुण (Qualities of hospital ward or patient's room) :—

(1) **स्थान (Site)**—रोगी का घर प्रशस्त प्रदेश में एवं समतल भूमि (जो ऊंची-नीची न हो) पर होना चाहिए । घर के आस-पास निर्गुण्डी, बिल्वादि के वृक्ष होने चाहियें ताकि गृह में शुद्ध, ताजी एवं अच्छी गन्ध युक्त हवा आ सके ।

(2) **गृह व्यवस्था (House Condition)** :—घर पवित्र, स्वच्छ और देखने में सुन्दर तथा खुला होना चाहिये । इसमें धूप तथा वायु सीधी (Direct sun light or direct strong wind) नहीं आनी चाहिये । संतावन का प्रबन्ध उचित रूप में होना चाहिये (Ventilation should be perfect) ।

(3) **शय्या (Bed)** :—शय्या समतल, पीड़ारहित तथा असंकुचित होनी चाहिये अर्थात् पर्याप्त विस्तृत हो जिस पर रोगी अच्छी प्रकार से करवट ले सके । शय्या के कोमल गद्दे एवं चादर रमणीय (देखने में सुन्दर) तथा आरामदायक (Comfortable) होने चाहियें । शय्या का मुख (शिर) पूर्व दिशा की ओर रखें, इससे प्रातः की धूप आंखों पर नहीं पड़ती तथा देवताओं का वास भी इसी दिशा में माना जाता है ।

(4) **अन्य** :—रोगी के गृह में प्रिय वाणी वाले मित्रों को रहना चाहिये जो कि रोगी को सांत्वना देकर उसके कष्ट को कम करते रहें। रोगी को स्वास्थ्यप्रद गृह में यथेष्ठ समय (Required period) तक रखना चाहिये।

रोगी की आचार विधि (Do's and dont's for patients)

रोगी को शीघ्र स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने के लिये निम्न आचार विधि का पालन करना चाहिये—

(1) **निद्रा सम्बन्धी** (Sleeping habits)—रोगी को दिन में नहीं सोना चाहिये, दिन में सोने से कफ प्रकुपित होता है। इससे अङ्गों में गौरवता, व्रण में कण्डु एवं शोथ तथा अति स्रावादि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(2) **निषिद्ध कर्म** (Prohibited actions)—रोगी को विषम आसन, विषम शय्या (Unnatural and uncomfortable posture of sleep), वाणी का श्रम (अधिक एवं ऊँचा बोलना) इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना चाहिये। रोगी शीत जल का स्पर्श भी न करे। उसे ऊष्ण जल से स्नान करना चाहिये तथा उसे मानसिक एवं मल मूत्रादि वेगों को रोकना नहीं चाहिए।

(3) **अतिक्रिया का त्याग** (Prohibition of excessive actions)—रोगी को कोई भी क्रिया अति मात्रा में नहीं करनी चाहिए, जैसे अधिक देर खड़े रहना या बैठे रहना अथवा बिस्तर पर एक ही स्थिति में लेटे रहना, इससे शय्या व्रण (Bed sore) हो सकते हैं। इन कारणों से वायु प्रकुपित होकर वह शूल उत्पन्न करती है तथा एक ही अंग में थकावट (Fatigue) हो जाती है।

(4) **वायुमण्डलीय स्थिति** (Atmospheric conditions)—रोगी के शरीर को कम से कम कष्ट हो इसके लिये रोगी को वायु (उत्तर तथा दक्षिण की वायु हितकारी तथा पूर्व एवं पश्चिम की अहितकारी होती है), धूल, धूप, धुंआ एवं ओस का अधिक सेवन त्याग देना चाहिये।

भारतीय जलवायु के अनुसार वायु के गुण निम्न हैं।

हितकारी :—

(i) **उत्तर की वायु के गुण** :—यह मधुर, कोमल, कषाय, शीतल, क्लेद

वर्धक होती है तथा यह क्षीण, क्षय व विष के रोगियों के लिये हितकारी तथा दोषों को प्रकुपित न करने वाली होती है।

(ii) **दक्षिण की वायु के गुण**—यह मधुर, कषाय, अविदाही एवं लघु होती है। यह नेत्रों के लिये, वात प्रकृति तथा क्षीण पुरुषों के लिये हितकारी एवं बलवर्धक होती है।

अहितकारी :—

(i) **पूर्व की वायु के गुण**—यह वायु मधुर, स्निग्ध एवं लवण रस युक्त, गुरु, विदाही, रक्त पित्त कारक, कफवर्धक तथा व्रण, क्षत् एवं विष रोगियों के लिये हानिकारक होती है।

(ii) **पश्चिम की वायु के गुण**–यह विषद, रूक्ष, खर, तीक्ष्ण, स्नेह कर एवं बल नाशक तथा कफ एवं मेद शोषक तथा रक्त पित्त हर एवं वात का प्रकोप करने वाली होती है।

(5) **ब्रह्मचर्य** (To preserve semen)—ग्राम्यधर्म (Sex) के विचारों को मन से दूर रखने के लिये स्त्रियों से वार्तालाप तथा उनका दर्शन, स्पर्शनादि का भी त्याग करना चाहिये। ब्रह्मचर्य का पालन न करने पर रात्रि को स्वयमेव शुक्र स्राव (Night discharge) होकर शरीर में स्फूर्ति (Activeness) नहीं रहती एवं रोगी दुर्बलता अनुभव करता है।

(6) **मानसिक स्थिति** (Mental condition)—रोगी का मन प्रसन्न रखने के लिए बुरी बात का सुनना या मन को क्षुब्ध करने वाले दृश्यों को देखना, ईर्ष्या, भय, शोक, चिन्ता एवं क्रोधादि का त्याग करना चाहिये। ऐसा न करने से रोगी दुःखी होता है तथा उसे अजीर्ण रोग होने का भय रहता है (In such conditions secretions are less secreted)। इससे वात, पित्त, कफ अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थानों में चले जाते हैं। आमरस आमाशय में रहता है, इससे कफ बनता है, इससे अनेक विकार (जैसे व्रण में सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव, विदाह एवं पाकादि उपद्रव) उत्पन्न हो जाते हैं।

मानसिक सन्तुलन बनाये रखने के लिये ब्राह्मणों (विद्वानों) तथा गुरुओं की सेवा करनी चाहिये, इससे मनोवैज्ञानिक ढंग से (Psychologically) मन में शान्ति बनी रहती है तथा रोगी प्रसन्नचित्त होकर शीघ्र आरोग्य को प्राप्त होता है।

व्रण में निषेध क्रियाओं के सेवन करने से होने वाले दुष्प्रभाव (Bad effects of prohibited actions on the wound)

रात्रि जागरण से—व्रण में सूजन एवं लालिमा होती है।
दिवास्वपन—व्रण में सूजन, लालिमा एवं वेदना होती है।
मैथुन करने से—उपरोक्त तीनों उपद्रव एवं मृत्यु हो सकती है।
श्रम करने से—सूजन (Oedema) होती है।

निषेध कर्मों को त्याग देने से व्रणित शीघ्र स्वस्थ होता है अर्थात् उसका व्रण जल्दी भरता है।

आहार विधि तथा पथ्यापथ्य (Indicated & Contra indicated diet)

(1) **जल**—(Drinking water)—पहले जल को गर्म करें फिर उसे ठंडा करके पीना चाहिए। उबालने से पानी विशुद्ध (Sterilize) हो जाता है तथा इससे कफ गुण का नाश होने से जल लघु (Soft water) बन जाता है।

(2) **प्रोटीन का आहार** (Proteinous diet)—जाँगल माँस रस का सेवन पुराने चावलों के साथ करना चाहिए। यह भोजन पौष्टिक (Full of Proteins) तथा हल्का (Easily digestible) होता है।

(3) **द्रवबहुल भोजन** (Liquid or semi solid diet)—व्रणित को द्रव पदार्थ ही अधिक लेने चाहिएं।

(4) **भोज्य पदार्थ**—ये स्निग्ध, अल्प उष्ण, लघु, दीपनीय एवं पाचक होने चाहिएं। चौलाई, जीवन्ती, बथुआ, परवल (पटोल), बैंगन, करेला, इत्यादि पदार्थों को घृत में भूनकर तथा आंवला, अनारदाना, सेंधा नमक से संस्कृत किए भात खाने चाहिएं।

अथवा मूंग + मांस रस + सत्तू या इन द्रवों से निर्मित विलेपी का सेवन करना चाहिए।

पथ्य द्रव्य :—निम्न भोज्य पदार्थ पथ्य द्रव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

घृत, दूध—

शूक धान्य—चावल, जौ, गेहूं, लाल चावल, श्वेत साठी, कज्जली, काले साठी, पाण्डुक (पीले धान्य), सुगन्धक (देवदाली), कालक, पीतक, प्रमोदक, आसनक, कमल, कौदों, श्यामक इत्यादि शूक धान्य हैं।

जांगल मांस—एण हरिण, (काला हरिण), कुरंङ्ग, कस्तूरी, मृग, कर्कटक, कबूतर, बटेर, तीतर एवं कपिञ्जल का मांस जांगल मांस कहलाता है।

दाल एवं शाक—मूंग, वनमूंग, मोठ, कलाय, मसूर, चना, अरहर, बथुआ, चौपतिया, जीवन्ती, चौलाई एवं मण्डूकपर्णी पथ्य है।

घृत—गो घृत।
नमक—सेंधा नमक।
फल—आँवला, अनार।

सात्म्य—रोग, देश, काल एवं देह अग्नि, इनके सात्म्य होने पर विष भी (उचित रूप से एवं अल्प मात्रा में) औषध का काम करता है।

अपथ्य द्रव्य—

जो द्रव्य रोगी एवं स्वस्थ पुरुष दोनों के लिए अहितकारी होते हैं वे अपथ्य द्रव्य कहलाते हैं। निम्नावस्थाओं में अपथ्य द्रव्यों का भी सेवन किया जा सकता है—

(i) स्निग्ध द्रव्य सेवन करने वाला एवं बलवान पुरुष।
(ii) युवा तथा व्यायाम करने वाला पुरुष, तीव्र पाचकाग्नि वाला तथा स्निग्ध द्रव्यों को सेवन करने वाला पुरुष।
(iii) अपथ्य द्रव्यों की अल्प मात्रा।
(iv) अपथ्य द्रव्यों का किसी की प्रकृति के अनुकूल होना।

अपथ्य द्रव्य निम्न हैं—

(क) अतिशीत जल एवं नव धान्य।
(ख) **पिच्छिल द्रव्य:**— अधिक दूध, दधि व तक्र, उड़द, तिल, कुलत्थी, गुड़, पिष्ट, खीर, कृशरा तथा अम्ल, लवण एवं कटु रस युक्त द्रव्य।

व्रण को दूषित करने वाले पदार्थ—

शुष्क पदार्थ:—शुष्क मांस एवं शाक, भेड़ या बकरी का मांस, आनूप एवं औदक मांस तथा वसा।

उपरोक्त द्रव्य व्रण में पूय उत्पन्न करते हैं इसलिए ये दूषित कहलाते हैं।

व्रण रोगी मद्य (सुरा, सीधु आसव, अरिष्ट, मैरेय अर्थात् सुरा + आसव) का त्याग करे। यह पदार्थ ओज नाशक हैं तथा अम्ल, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण होने से शरीर में शीघ्र व्याप्त होकर व्रण को दूषित करते हैं। अति भोजन, गरिष्ट भोजन, विरुद्ध भोजन, उपवास, अति उष्ण, अतिशीत, अति रूक्ष, अतिस्निग्ध, अग्नि, क्षार तथा विष (इनका प्रयोग केवल दाह, पाक या मारने के लिए करना चाहिए) का त्याग करना चाहिए।

अल्प संयोग से अहितकर द्रव्य :—

वल्लीफल (लौकी, तौरई इत्यादि), कवक (छतरक), करीर, आम्रफल,

लवण, कुलत्थी, दधि, तिलपिष्ट, तैल, आनूप मांस, औदक मांस, शुष्क शाक, बकरी या भेड़ का मांस, महाजम्बुक, चिलचिम मत्स्य, गोधा एवं वराह ।

उपरोक्त द्रव्यों को दूध के साथ सेवन करने पर इनका विष के समान प्रभाव होता है ।

संयोग से अहितकर द्रव्यः—

(1) केलाफल + तालफल, दूध, दधि एवं छाछ ।

(2) दूध के थोड़ी देर पहले या पश्चात् में लकुच (बड़हल) का प्रयोग । दूध, दधि एवं उड़द की दाल को एक साथ लेना ।

(3) दूध + मूली, आम, जामुन, शूकर, गोह एवं सब सब्जियाँ ।
(4) रोहिणी शाक, पुष्कर शाक + दूध एवं घृत ।
(5) नाड़ी एवं पल्व शाक, कुक्कुट + दधि ।
(6) सुरा + कृशरा (तिल, तण्डुल एवं मांस से निर्मित यवागु) खीर ।
(7) शहद + गर्म अनुपान (जैसे दूधादि) ।
(8) मूली + मधु ।
(9) विरुद्ध आहार + मधु ।
(10) वराह + गुड़ ।
(11) मकोय + गुड़ ।
(12) मत्स्य सेवन + ईक्षुरस से निर्मित वस्तुएँ ।
(13) तिल की पूड़ी + कांजी ।
(14) मदिरा, अर्ध स्विन्न गेहूं + बलाका पक्षी (काला बक) ।
(15) कच्चा मांस + पित्त ।
(16) अंकुरित धान्य या उड़द, दूध, गुड़, शहद, वसा + ग्राम्य, आनूप एवं जलचरों का मांस ।

संस्कार-कर्म से अहितकर द्रव्यः—

(1) सरसों के तेल में भूना (पक्व) कबूतर माँस ।
(2) एरण्ड की लकड़ी या एरण्ड के तेल में भूना (पक्व) कपञ्जिल, मोर, बटेर, तीतर या गोधा का माँस ।
इसी प्रकार वराह की वसा में पकाए बलाका पक्षी को नारियल के साथ खाना ।
(3) कांसे के पात्र में 10 दिन तक रखा घृत ।
(4) उष्ण काल तथा उष्णवीर्य द्रव्यों के साथ मधु ।
(5) काकमाची या मछलियों के पकाये पात्र में सोंठ (शुण्ठी) ।

(6) उपोदिका शाक के तिल कल्क में सिद्ध होने पर ।
(7) भास पक्षी को शूल में बींधकर पकाकर खाना ।

मान विरुद्ध द्रव्य—निम्न द्रव्य समान मात्रा में लेने पर अहितकारी होते हैं ।

शहद + जल
शहद + घृत
मधु + स्नेह
स्नेह + जल

रस, वीर्य एवं विपाक विरुद्ध द्रव्य—इन द्रव्यों का सेवन करने से विभिन्न व्याधियां, इन्द्रिय दौर्बल्य तथा मृत्यु भी सम्भव है ।

वीर्य विरुद्ध—	मधुर + अम्ल रस
रस वीर्य एवं विपाक में विरुद्ध	मधुर + लवण
	मधुर + कटु
रस एवं विपाक में विरुद्ध	मधुर + तिक्त
रस में विरुद्ध	मधुर + लवण
	अम्ल + लवण
	अम्ल + कटु
	लवण + कटु
रस, वीर्य एवं विपाक में विरुद्ध	अम्ल + तिक्त
	अम्ल + कषाय
रस एवं वीर्य तथा विपाक में विरुद्ध	लवण + तिक्त
	लवण + कषाय
रस एवं वीर्य में विरुद्ध	कटु + तिक्त
रस में विरुद्ध	कटु + कषाय
	तिक्त + कषाय

अत्यधिक मात्रा में इनका प्रयोग अहितकर होता है ।

मधुर + कषाय
गुड़ + हरड़
अम्ल लवण
अनार चटनी

उपरोक्त विरुद्ध द्रव्यों से उत्पन्न रोग विरेचन से नष्ट होते हैं ।

बलवान् रोगी को वमन एवं विरेचन करायें तथा निर्बल में पूर्व ही शमन चिकित्सा कर देनी चाहिए । स्वर्णादि धातुओं का पहले से ही सेवन करने से पुरुष रोग से ग्रस्त नहीं होता ।

"रक्षा कर्म"

शल्यतन्त्र में अनेक प्रकार के व्रणों की चिकित्सा की जाती है। रोगी में व्रणों की उत्पत्ति मुख्यतः राक्षसों (जीवाणु संक्रमण) से होती है। राक्षसों (जीवाणु) तथा अन्य दोषों (Contaminations) से व्रण की रक्षा करने के लिए निम्न विधियों का पालन करें।

राक्षस जो कि महेश, कुबेर, कार्तिकेय की आज्ञा का पालन करते हैं, रक्त और मांस जिनको प्रिय है (भोज्य हैं), वे व्रणित के पास रक्त भक्षणार्थ आते हैं। महेश, कुबेरादि राक्षसों को, रोगी से अपनी पूजा करवाने के लिये या उसे उसके कर्मानुसार कष्ट देने के लिए, रोगी के पास भेजते हैं या फिर उसकी आयु समाप्त होने के कारण उसे मारने के लिये भेजते हैं।

जीवाणु निवारण (Prevention & cure)—

(i) राक्षसों अर्थात् जीवाणुओं से बचने के लिये सदा नख एवं बाल कटवाकर रखने चाहियें।

(ii) शरीर की सफाई (Cleanliness) रखनी चाहिए।

(iii) छत्र, अतिछत्र (द्रोण पुष्पी), लाङ्गली, जटामांसी, सरसों, ब्रह्मचारिणी (चंदनादि), शालपर्णी, पृश्निपर्णी तथा श्वेत दूर्वा औषधियों को शिर पर धारण करना चाहिए ताकि इनकी गंध से मक्खी, मच्छर इत्यादि रोगी से दूर रहें।

(iv) चमर से व्रणित को हवा करते रहें, इससे मक्खियाँ रोगी से दूर रहती है (अन्यथा वे व्रण पर बैठकर अण्डे देकर तथा अपने पैरों पर लगी गन्दी वस्तुओं को व्रण पर छोड़ देती हैं और इससे कृमि उत्पन्न होते हैं)।

(v) रोगी को सूची या हाथ से खुजलाना नहीं चाहिए। इससे व्रण पर आघात होता है तथा व्रण में नखादि की या खुजलाने वाली वस्तु की गन्दगी प्रवेश हो जाती है।

(vi) सुश्रुत में औपसर्गिक रोगों के प्रसार (Spread) की निम्न विधियाँ बताई हैं। इनके निषेध से सब प्रकार के संक्रमणों से रोगी की रक्षा हो सकती है। जैसे व्रणित रोगी को किसी अन्य औपसर्ग ग्रस्त रोगी के साथ भोजन नहीं करना चाहिए, उसके श्वांस से दूर रहना चाहिए तथा उसके स्पर्श (Physical contact) में भी नहीं जाना चाहिए। साथ सोने से, उसकी मालादि पहनने से तथा मैथुन करने से रोगी में उपसर्ग होता है)।

प्रसङ्गाद् गात्रसस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० 5

Cure—जो रोगी निम्न कर्मों का पालन करता है उसके पास राक्षस (जीवाणु) नहीं आते।

(vii) राक्षसों से मुक्ति के लिये धूप, होम व पूजनादि करना चाहिए। इससे महेश, कुबेरादि प्रसन्न होकर राक्षसों को वापस बुला लेते हैं [होमादि के धूम से बहुत से जीवाणुओं का नाश होता है तथा रोगी के गृह की वायु शुद्ध होती है।]

(viii) गुग्गुलु, अगर, देवदारु जैसे द्रव्यों के धूम से पट्ट, कवलिका एवं रोगी के बिस्तर एवं व्रणादि को शुद्ध कर लेना चाहिए। (It was one of the aseptic procedure during accient times)। सरसों, निम्ब पत्र, घृत एवं सेन्धा नमक से व्रणित को 10 दिन तक लगातार प्रातः एवं सायं धूप देनी चाहिए [दस दिन तक व्रण पर कणाकुंर (Granulation tissues) ऊपर तक आ जाने से, उससे निकले Proteolytic enzyme जो जीवाणु नाशक होते हैं, इनके कारण व्रण शुद्ध (Auto-sterilized) रहता है (अर्थात् उसमें संक्रमण नहीं होता)]। सरसों तथा निम्ब का धूम थोड़ा विक्षोभक (Irritant) होता है। इससे रोगी गृह के जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं तथा अन्य जीव (Insects) भी गृह में नहीं आते।

(ix) **संदूषण निषेध** (Avoid contaminations)—वायु, धूप, धूलि, तिनके तथा नखादि वस्तुओं से व्रण की रक्षा करने के लिए व्रण स्थान पर बन्धन (Bandage) बांधकर रखना चाहिए।

27

प्रयोगशालीय परीक्षण

रोगियों में विविध प्रकार के शल्य कर्मों के पूर्व शरीर के निस्रावों एवं रक्त से घटकों की अनेक प्रकार से प्रयोगशालीय परीक्षायें की जाती हैं। इन परीक्षाओं से रोग विनिश्चय के अतिरिक्त रोगी के शल्य कर्म के योग्य एवं अयोग्य होने की जानकारी भी प्राप्त होती है। यदि रोगी शल्य कर्म के अयोग्य हो तो उसे शल्य कर्म के या सार्वदैहिक संज्ञानाश के योग्य बनाने के लिए उचित चिकित्सा की जाती है जैसे—रोगी में हिमोग्लोबिन (Haemoglobin) का स्तर (मूल्य) सामान्य से न्यून होने पर उसे रक्ताधान (Blood transfusion) करना, मूत्र में शर्करा की उपस्थिति रहने पर मधुमेह की चिकित्सा करना इत्यादि। ये परीक्षायें निम्नलिखित हैं—

I पुरीष परीक्षा—पुरीष की अनेकविद् परीक्षायें होती हैं, परन्तु मुख्य परीक्षायें निम्न हैं—

1. वर्ण (Colour)
2. श्लेष्मा पुरीष (Faecal mucous)
3. पूय पुरीष (Faecal pus)
4. वसा पुरीष (Faecal fat)
5. कृमि पुरीष (Helmenthiasis)

II मूत्र परीक्षा—शस्त्र कर्म के पूर्व मूत्र की निम्न परीक्षायें करनी चाहियें—

1. मूत्र का वर्ण (Colour of urine)
2. मूत्र की प्रतिक्रिया (Reaction of urine)
3. मूत्र का आपेक्षिक घनत्व (Sp. gravity of urine)
4. मूत्र में प्रोटीन (Proteins in urine)
5. मूत्र में शर्करा (Sugar in urine)
6. मूत्र में ऐसिटोन (Acetone in urine)

III रक्त परीक्षा—रक्त में शस्त्र कर्म के पूर्व किये जाने वाली परीक्षायें—

1. रक्त के घटकों का सामान्य स्तर (Values of blood constituents)
2. रक्त घटकों के विकार (Disorders of blood constituents)
3. श्वेत रुधिर कोशिका परीक्षा (Test for white blood corpuscles)

IV जठर रस परीक्षा—आमाशय स्राव की निम्न 2 परीक्षायें ही मुख्य हैं—

1. जठर रस के स्राव की परीक्षा (Tests for gastric juice)
2. हिस्टामिन परीक्षा (Histamin test)

V यकृत क्रिया परीक्षा

VI अग्न्याशय क्रिया परीक्षा

VII प्रमस्तिष्क-मेरु-द्रव परीक्षा

VIII शुक्र परीक्षा

I पुरीष परीक्षा :

1. वर्ण—अनेक रोगों में रोगी के पुरीष का वर्ण विकृत हो जाता है।

(i) पीताभ (Pale)—सामान्यतः निरागावस्था में रोगी के पुरीष का वर्ण पीताभ होता है।

(ii) लाल (Red)—अधः आन्त्र (Lower gut) से रक्तस्राव होने पर तथा कुछ वस्तुओं के खाने से [जैसे चुकुन्दर, कुछ औषधियाँ (Brom sulphalcinect)] पुरीष का वर्ण लाल हो जाता है।

(iii) काला मल (Malena)—अन्नवह-स्रोत के ऊर्ध्व भाग (Upper gut) में स्थित व्रण, अंगुली अर्बुद (Papilloma), रक्त अंकुर (polypus), आन्त्रान्त्र-प्रवेश (Intussusception) तथा घातकार्बुद (Malignant growth) के कारण या कुछ पदार्थों के भक्षण करने (खाने) से जैसे—लौहयुक्त पदार्थ, बिस्मिथयुक्त पदार्थ तथा कोयला इत्यादि से पुरीष का वर्ण काला (Tarry stool) हो जाता है। इसके लिए बैन्जिडीन परीक्षा की जाती है (Benzedine test for occult blood)

(iv) मिट्टी के समान वर्ण (Clay colour)—अवरोध कामला (Obstructive Jaundice) में, पुरीष में पित्त की अनुपस्थिति (Absence of bile, in a healthy persons 100 grams of faeces contains 75-350 mg. of urobilinogen) से एवं बेरियम सल्फेट के खाने से पुरीष का वर्ण मिट्टी के समान हो जाता है।

(v) हरा (Green)—पारद युक्त औषधियाँ (Calomel) खाने से तथा हरी सब्जियों (पालक) के ठीक से पाचन न होने से पुरीष का वर्ण हरा हो जाता है।

2. श्लेष्मा पुरीष—आन्त्र का अंगुली-ग्रन्थि-अर्बुद (Villous adenoma) एवं मलाशय में अर्बुद या शोथ होने से पुरीष के साथ अत्यधिक श्लेष्मा (3–4 लीटर 24 घन्टे में) आने लगता है। इससे निर्जलीकरण (dehydration) एवं कैल्सियम ह्रास (Hypo kalamia) की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

पुरीष में श्लेष्मा एवं रक्त पूय के साथ मिलकर अनेक अवस्थाओं में आ सकता है जैसे—व्रण जन्य वृहदान्त्र शोथ (ulcerative colitis), बेसिलरी प्रवाहिका (Bacillary dysentary), आन्त्रक्षय (Tuberculosis of intestine) तथा तीव्र आन्त्र-विपुटी-शोथ (Acute diverticulitis)।

3. **पूय पुरीष**—वृहदान्त्र शोथ (Chronic ulcerative colitis), जीर्ण प्रवाहिका (Bacillary dysentary), अमीबा जन्य बृहदान्त्र शोथ (Amoebic colitis) तथा भगन्दर रोगी, इनकी पुरीष में पूय की उपस्थिति रहती है।

4. **वसा पुरीष**—पित्त (Bile) या पाचक स्रावों में कमी आ जाने से पुरीष में वसा की मात्रा अधिक हो जाती है, क्योंकि वसा का ठीक से पाचन न होने के कारण उसका शोषण नहीं हो पाता।

सामान्य (निरोग) अवस्था में 24 घण्टे में पुरीष में वसा की कुल मात्रा—आहार रूप में लिए गये वसा का 2·1% भाग = 4 ग्राम वसा।

पुरीष में सामान्य से अधिक मात्रा में वसा की उपस्थिति—अग्न्याशय की शोथ या घातक अर्बुद, कामला, यकृत की व्याधियां, आन्त्र गत व्याधियाँ (Spru, Glutten's disease) तथा आन्त्र के अधिक भाग का छेदन (Resection) कर देने से पुरीष में वसा अत्यधिक मात्रा में आने लगती है। इस कारण वसा में घुलनशील विटामिन (Vit. A, D, E, K) भी पुरीष के साथ बाहर निकल जाते हैं। इससे इन विटामिनों की न्यूनता से अनेक लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

5. **कृमि पुरीष**—

(i) **जियार्डिया** (Giardia)—यह कृमि प्रायः कोई विकार उत्पन्न नहीं करता, परन्तु कभी-कभी अतिसार उत्पन्न कर देता है।

(ii) **पिन कृमि** (Pin worm i. e. Oxyuris or enterobius vermicularis)—इन कृमियों के कारण गुदा में कण्डू (Pruritis ani), उदर में ऐंठन (Cramps), अतिसार तथा तन्त्रिका जन्य विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

(iii) **विप कृमि** (Wip worm or Tichuris)—इस कृमि से प्रायः कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, परन्तु कभी-कभी उदर में मन्द वेदना, रक्त अल्पता, पुरीष रक्त युक्त, गुद भ्रंश, (Prolapse rectum) इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

(iv) **गोल कृमि** (Round worm i.e. ascaris lumbricoid)—इस कृमि के कारण उदर में वेदना, आन्त्र में कृमियों द्वारा अवरोध, फुफ्फुस शोथ (Pneumonitis), प्रत्यूर्जा (Allergic) जन्य विकार एवं तन्त्रिका जन्य विकार (Nervous disorders) उत्पन्न हो सकते हैं।

(v) **फीता कृमि** (Tape worm i. e. cestodes)—यह कृमि प्रायः लक्षण रहित आन्त्र में पड़ा रहता है, परन्तु कभी-कभी अतिसार, क्षुधा नाश, विषमयता (Toxaemia) एवं आन्त्रावरोध के लक्षणों को उत्पन्न कर देता है। गाय का मांस खाने से प्रायः Taenia saginata का संक्रमण होता है। सूअर का मांस खाने वाले व्यक्तियों में Taenia Solium कृमि का संक्रमण होता है।

(vi) **अंकुश कृमि** (Hook worm, ankylostoma duodenale)—यह

कृमि आन्त्र में लक्षण रहित भी रह सकता है। कभी-कभी इससे न्युमोनिया (Pneumonia), रक्ताल्पता (Anaemia), अन्नवह स्रोत के विकार एवं शरीर की वृद्धि में ह्रास इत्यादि लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

II मूत्र परीक्षा :

एक स्वस्थ व्यक्ति में 24 घन्टे में मूत्र की कुल मात्रा 600 से 1600 मिली० लीटर होती है। रञ्जक द्रव (Phenol sulphonophthelein dye in 6 mg dose) को सूची द्वारा सिरा में देने पर यदि एक घण्ट की अवधि में उस घोल का 40-60 प्रतिशत भाग मूत्र द्वारा निस्रावित न होने लगे तो वृक्क को व्याधि ग्रस्त समझें। मूत्र में सामान्यतः निम्नलिखित परीक्षाएं की जाती हैं—

1. मूत्र वर्ण—मूत्र में अनेक प्रकार के विकृत वर्ण मिल सकते हैं जैसे—

(i) **लाल वर्ण**—मूत्रवह-स्रोत से स्पष्ट रूप में रक्तस्राव (Frank bleeding) होने पर मूत्र का रंग लाल हो जाता है।

(ii) **धूसरा (भूरा) वर्ण**—अम्ल प्रतिक्रिया वाले मूत्र में उपस्थित रक्त से लाल कणों का संलय (Destruction) होकर मूत्र धूसर वर्ण का (Brown) हो जाता है।

(iii) **दुधिया वर्ण**—मूत्र में पूय या काईल (Chyle) की उपस्थिति रहने पर मूत्र दूध के समान श्वेताभ वर्ण का हो जाता है।

(iv) **स्वच्छ** (Watery clean)—बहुमूत्र (Diabetes insipidus) होने पर मूत्र पानी के सदृश स्वच्छ हो जाता है।

(v) **गम्भीर धूसर वर्ण** (Dark brown)—मूत्र में पित्त कणों (Bile particles) के कारण मूत्र सान्द्र (गाढ़ा) होने से मूत्र गम्भीर पिघल अर्थात् धूसर वर्ण का हो जाता है।

(2) मूत्र की प्रतिक्रिया—सामान्यतः मूत्र की प्रतिक्रिया तनिक अम्लीय या तनिक क्षारीय होती है परन्तु विकृत अवस्थाओं में मूत्र की प्रतिक्रिया अत्यधिक अम्लीय या अत्यधिक क्षारीय हो सकती है।

(i) **अत्यधिक अम्लीय** (4 or less than 4 pH)—मूत्र में अधिक अम्लता (Acidity), अतिसार, मधुमेह एवं क्षय रोग के कारण होती है।

(ii) **अधिक क्षारीय** (8 or more than 8 pH)—अधिक वमन होने से या मूत्रवह संस्थान के प्रोटिअस वल्गेरस (Proteous vulgaris) द्वारा संक्रमित होने से मूत्र की प्रतिक्रिया अत्यधिक क्षारीय हो जाती है।

(3) मूत्र का आपेक्षिक घनत्व (Specific gravity)—एक स्वस्थ व्यक्ति में मूत्र का आपेक्षिक घनत्व 1010 रहता है। परन्तु मूत्र के आपेक्षिक घनत्व में ह्रास (अर्थात 1004 या इससे न्यून) बहुमूत्रता अर्थात् उदक मेह (Diabetes

insipidus) के कारण होता है। यह अवस्था वृक्क नलिकाओं (Renal tubules) की विकृति (Due to less reabsorption) के कारण उत्पन्न होती है।

(4) मूत्र में प्रोटीन—मूत्र में सामान्यतः प्रोटीन की अनुपस्थिति रहती है परन्तु कुछ कारणों से मूत्र में प्रोटीन अस्थाई या स्थाई रूप में उपस्थित हो सकती है जैसे—

(i) अस्थाई (Temporary)—व्यायाम करने से, उत्तेजना से एवं शीत से मूत्र में अस्थाई रूप से प्रोटीन (Albumin) आने लगती है।

(ii) स्थाई (Permanent)—वृक्क में ग्लोमेरूलस शोथ (Glomerulitis) होने से मूत्र में प्रोटीन स्थाई रूप से आने लगती है। मूत्र की प्रोटीन में Albumin ही अधिक होती है, कभी-कभी ग्लोब्युलिन (Globulin) भी आने लगती है।

(5) मूत्र में शर्करा—मूत्र में निरोगावस्था में शर्करा की अनुपस्थिति रहती है, परन्तु कुछ अवस्थाओं में शर्करा मूत्र में स्थाई या अस्थाई रूप से आने लगती है।

(i) अस्थाई—अधिक शर्करा खाने से मूत्र में अस्थाई रूप से शर्करा निकलने लगती है।

(ii) स्थाई—मधुमेह एवं अग्न्याशय में विकार होने से (Insulin के कम मात्रा में निर्माण होने पर), मूत्र में स्थाई रूप से शर्करा आने लगती है।

(6) मूत्र में एसिटोन—वसा का अपूर्ण चयापचय (Incomplete metabolism) होने से मूत्र में एसिटोन (Acetone = Acetoacetic acid + Hydroxibuteric acid) निकलने लगती है। इससे मूत्र की प्रतिक्रिया अम्लीय होती है तथा मूत्र से फलों के समान सुगन्ध आने लगती है। मूत्र में एसिटोन अनेक अवस्थाओं में आ सकता है; जैसे—उपवास काल में, जीर्ण मधुमेह में अम्लरक्तता में तथा निर्जलीकरण की अवस्था में।

(7) रक्त परीक्षा—

(i) रक्त के घटक—रक्त के घटकों (Blood constituents) का स्तर (मूल्य) विभिन्न व्याधियों के कारण बढ़ता या घटता रहता है। इन घटकों के सामान्य स्तर (मूल्य) की जानकारी प्राप्त करने के लिए अग्रांकित तालिका दी गई है। इनका मूल्य (स्तर) बढ़ने या घटने पर तदनुसार ही व्याधि का ज्ञान करना चाहिए जैसा अग्रिम तालिका में दिखाया गया है।

रक्त के घटकों के सामान्य स्तर (मूल्य) की तालिका

रक्त के घटक	सामान्य स्तर (मूल्य)	परीक्षण के लिए रक्त की आवश्यक मात्रा मिलीलीटर में	विधि एवं यूनिट
Amylase	60·0—150/100 ml of Blood	2·0	Somogi method
Bilirubin direct + ve	0·4 mg/100 ml "	2·0	
Bilirubin indirect + ve	0·4 mg—8 mg/100 ml "	2·0	
Calcium	9·02 mg—10·5 mg/100 ml "	2·0	
Chlorides	0·5 mEq–1·3 mEq/1,000 ml "	0·5	
Cholesterol	115 mg—250 mg/100 ml "	0·5	
Non Protein nitrogen	15 mg—35 mg/100 ml "	0·5	
Acid phosphatase	0·5 units—2·0 units/100ml "	1·0	Bodenski method
Alkaline phosphatase adult	1·5 units–4·5 units/100 ml "	0·5	
Alkaline phosphatase child	5·0 units–14·0 units/100 ml "		
Phosphorus	3 mg—5 mg/100 ml "	2·0	

रक्त के घटक	सामान्य स्तर (मूल्य)	परीक्षण के लिए रक्त की आवश्यक मात्रा मिलीलीटर में	विधि एवं यूनिट
Potassium	3·5m.Eq–5·0 mEq/1,000 ml"	3·4	Suba Rao
Proteins	6·0 gms–7·8 gms/100 ml "	0·5	
Albumin	3·2 gms—4·5 gms/100 ml "	0·5	
Globulin	2·3 gms—3·5 gms/100 "	0·5	
Sodium	136 mEq–145mEq/1,000 ml"	0·5	
Urea	20 mg—40 mg/100 ml "	1·0	
Uric acid male	2·1 mg—7·8 mg/100 ml "	1·0	
Uric acid female	2·0 mg—6·4 mg/100 ml "		
Glucose	65 mg—100 mg/100 ml "	1·0	Somogi
Glucose oral G.T.T.	70 mg—110 mg/100 ml "	0·1	
Creatinine (Serum)	0·5 mg—1·5 mg/100 ml "	0·1	

रक्त घटकों के विकार (Disorders of blood Constituents) की तालिका

विकृति	लक्षण एवं सामान्य स्तर	हेतु एवं चिकित्सा
जल का ह्रास (निर्जलीकरण)	इससे रोगी के भार में ह्रास, मूत्राघात, मूत्र में अधिक सान्द्रता (Concentration) तथा रक्त में इलेक्ट्रोलाईट (विद्युत अपघटन) का मूल्य (Value) बढ़ जाता है [रक्त की मात्रा 5 लीटर (सामान्य) से कम हो जाती हैं]। निर्जलीकरण की अवस्था जब रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होती है तब निर्जलीकरण कोषीय स्तर (Intracellular dehydration) तक रहता है। इस कारण रोगी को असह्य तृषा लगती है।	यह अवस्था अधिक अतिसार, बमन या स्वेद आने से उत्पन्न होती है। इसकी चिकित्सार्थ रोगी को जल एवं ग्लूकोस सिरा मार्ग से या मुख मार्ग से (अवस्थानुसार) देना चाहिए। यह अवस्था रक्त स्राव के कारण उत्पन्न होने पर रोगी को रक्ताधान (Blood transfusion) करना चाहिए।
इलैक्ट्रोलाइट्स विद्युत अपघटन) (Loss of electrolytes)	इससे स्तब्धता (Shock), दौर्बल्य (Weakness), शीतता (Coldness), नाड़ी में तीव्रता (Rapid pulse) तथा त्वचा धूसर वर्ण की हो जाती है।	रोगी को लवणोदक (Salt i. e., Electrolyte solution) दें।
अम्ल रक्तता (Acidosis)	रक्त में अम्लता बढ़ने पर मूत्र में भी अधिक अम्लता हो जाती है।	यह अवस्था प्रायः सोडियम (Sodium) के ह्रास होने से (जैसे अधिक स्वेद आने से) उत्पन्न होती है। इस के चिकित्सार्थ रोगी को सोडियम लैक्टेट 1/6 मोलर का घोल (1/6 Molar solution) देना चाहिए।

विकृति	लक्षण एवं सामान्य स्तर	हेतु एवं चिकित्सा
क्षार रक्तता (Alkalosis)	रक्त में क्षारता बढ़ने से रोगी का मूत्र भी अधिक क्षारीय हो जाता है।	अधिक वमन आने पर आमाशय से लवण अम्ल (HCl) के अधिक निकल जाने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। इसके लिए रोगी को Ammonium chloride देना चाहिए।
पोटैशियम (Potassium)	रक्त में पोटैशियम का ह्रास होने पर पेशी दौर्बल्य या पेशीघात, हृदय की गति में विषमता या हृदयपात (Cardiac failure) हो सकता है। परन्तु यदि रक्त में पोटैशियम का मूल्य (स्तर) बढ़ जाये तो इससे हृदय की गति में ह्रास (Bradycardia) हो जाता है।	ये लक्षण तुरन्त उत्पन्न नहीं होते क्योंकि पोटैशियम कोषों से निकल कर रक्त में आकर इसकी पूर्ति करता रहता है।
रक्त स्कन्दन की अवधि (Coagulation time)	रक्त स्कन्दन (Coagulation time) की अवधि सामान्यतः 3 से 5 मिनट होती है तथा Prothrombin time की अवधि 10 मिनट होती है।	हिमोफीलिया तथा Hypofibrinogemia में रक्त स्कन्दन (C.T.) की अवधि अधिक हो जाती है। प्रोथाम्बिन की अवधि स्कन्दन विरोधी चिकित्सा (Anti coagulants) से रक्त के V, VII एवं X घटकों (Factors) की कमी से एवं विटामिन K की कमी से बढ़ जाती है।
रक्त स्राव की अवधि (Bleeding time)	यह अवधि सामान्यतः 1 से 6·5 मिनट (डियूक के अनुसार 1 से 6 मिनट) होती है।	रक्त स्रावी व्याधियों (Purpura i.e. thrombocytopaenia) में यह अवधि बढ़ जाती है।

विकृति	लक्षण एवं सामान्य स्तर	हेतु एवं चिकित्सा
लोहित कोशिका मापी (Haematocrit)	रक्त में लोहित कोशिका मापी का मूल्य (Value) सामान्यावस्था में पुरुषों में 47% तथा स्त्रियों में 42% होता है।	अरक्तता एवं बहुलोहितकोशिका रक्तता (Polycythemia) में यह अवधि बढ़ जाती है।
रक्त बिम्बाणुओं (Blood platelets) की गणना	इनका मूल्य सामान्यावस्था (निरोगावस्था) में 3 से 5 लाख/c. m. m. होता है। इनका ह्रास होने पर इनकी मात्रा 1 लाख से भी कम हो जाती है।	इनकी गणना में ह्रास रक्त स्रावी व्याधियों में होता है।
लोहित कोशिका तलछट गति (E. S. R.)	पुरुषों में इसकी सामान्य गति 1-3 mm. तथा स्त्रियों में 4-7 mm. होती है।	जीर्ण व्याधियों (क्षय रोग, जीर्ण ज्वर, आमवातादि व्याधियां) में यह अवधि बढ़ जाती है।
हीमोग्लोबिन (Haemoglobin)	पुरुषों में इसका सामान्य मूल्य 14–17 gms./100 ml, स्त्रियों में 12 से 16 gms./100 ml, तथा बच्चों में 12-15 gms. per 100 ml. होता है।	रक्ताल्पता के रोगियों में (All types of anaemias) हिमोग्लोबिन का मूल्य सामान्य से कम हो जाता है।
लोहित रुधिर कोषिका (R. B. C.) की गणना	स्वस्थ व्यक्ति में इनकी गणना 50 से 55 लाख तक रहती है।	Myeloid leukemia में R. B. C. की गणना एक लाख से भी कम हो जाती है। रक्त में सान्द्रता बढ़ने (Haemo concentration) से हिमोग्लोबिन तथा लोहित रुधिर कोशिका (R. B. C.) दोनों का मूल्य बढ़ जाता है।

विकृति	लक्षण एवं सामान्य स्तर	वृद्धि एवं विकलता
श्वेत रुधिर कोशिका गणना Total leucocyte count, (T. L. C.)	इसकी निरोगावस्था में कुल गणना 7,000 से 10,000 c.m.m. रहती है। परन्तु कुछ शारीर क्रियात्मक स्थितियों (physiological conditions) में इन की संख्या बढ़कर 35,000 तक पहुँच जाती है। जैसे— व्यायाम, वमन, आंक्षेप (Convulsions), वेदना, भय, चिन्ता, मन में अवसादता (Depression), नर्म बाल, ईथर संज्ञाहरण एवं विकिरण चिकित्सा (Radiation therapy) में। इन अवस्थाओं के समाप्त हो या जाने पर श्वेत रुधिर कोशिका गणनायें पुनः वापस सामान्य आ जाती हैं।	श्वेत रुधिर कोशिका की वृद्धि या ह्रास इसके विभिन्न भेदों की वृद्धि या ह्रास पर निर्भर करती है। इनके 5 भेद होते हैं। (i) Neutrophil (ii) Lymphocyte (iii) Eosinophil (iv) Basophil (v) Monocyte इन भेदों की वृद्धि ह्रास एवं इससे सम्बन्धित विकार निम्न तालिका में देखें।

विभिन्न श्वेत रुधिर कोशिका की वृद्धि एवं ह्रास से सम्बन्धित विकार (Disorders in relation to D. L. C.) तालिका।

श्वेत रुधिर कोशिका वृद्धि/ह्रास (Variation in D. L. C.)	विकार (Disorders)
Leukemia	In acute Myeloid leukemia total leucocyte count (T. L. C) increases in number, ranging from 20,000 to 59,000 with 90% Myloblasts (Immature cells) and reducing R. B. C. count to one
श्वेत रुधिर कोशिका वृद्धि/ह्रास (Variation in D.L.C)	विकार (Disorders)
Leucopenia (Reduced T L.C.)	lack. Platelets count is also reduced, causing prolonged clotting time (C.T.) and bleeding time (B.T.). In Acute lymphocytic leukemia T.L C. increases from 50,000 to 1,00,000 with 99% lymphocytes and lymphoblast cells
Neutrophil leucocytosis (more than 75% neutrophils)	Typhoid fever, undulent fever. influenza, Measeles, Malaria, Kalazar, Milliary tuberculosis, Septicaemia, Cachexia, Anaemia, Cirrhosis of liver, splenic diseases, Ionising radiation, Anaphylactic shock and on taking various drugs for prolonged period, such as Amydopyrine, Sulphonamides and Antihistamins.
Neutropenia or lymphocytosis (More than 35% Lymphocytes) Lymphopaenia	Acute infections, poisoning or Metabolic intoxication, Myelocytic leukemia, Haemolysis, acute haemorrhage, coronary thrombosis, Malignant growth and in post operative perod. Typhoid fever.
Eósinophilia (Eosins 4-20% or my be 80% even)	Acute infection, Mumps, German measels, Tuberculosis, Syphilis, undulent fever, Rickets, and malnutrition.
Basophilic leucocytosis (20-50% Basophils) Basophilic leucopenia	Milliary tuberculosis, Hodgkin's disease, uraemia, Irradiation and cardiac failure.
Monocytosis	Allergic disorders (Bronchial asthma, urticaria, Angioneurotic oedema), Skin diseases (Dermatitis, pemphegus), Trichinosis, Echenococus infection, pulmonary infection. Tropical eosinophilia, Scarlet fever, Hodgkin's disease, pernecious anaemia, After effects of irradiation, ovarian tumour, After spleenectomy etc.
	Chronic inflammations, ulcerative colitis, smallpox, chicken-pox, Hodgkin's diseases, Myxoedema, after effects of spleenectomy. At ovulation period in females and pregnancy, stress, hyper thyroidism, Hodgkin's disease, acute infections and irradiation.
	Malaria, kalazar, Hodgkin's disease, Tuberculosis and subacute bacterial endocarditis.

(IV) जठर रस परीक्षा

(i) **जठर रस स्राव परीक्षा**—निरोगावस्था में जठर रस स्राव की मात्रा 0—6 mEq प्रति घण्टा होती है तथा जठर रस की अम्लता (pH of gastric juice) 2·0 pH. होती है। आमाशय रस के स्राव को दो अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है, (क) आमाशयिक अवस्था (ख) आन्त्रिक अवस्था।

(क) आमाशयिक अवस्था (Gastric phase)—भोजन की सुगन्ध से आमाशय स्राव की मात्रा 50 से 150 मि० लि० तक निकलती है।

प्रोटीन युक्त खाद्य पदार्थ खाने पर आमाशय स्राव की मात्रा 225 से 250 ml. तक निकलती है।

कार्बोहाइड्रेट के खाद्य पदार्थ खाने पर आमाशय स्राव की मात्रा प्रोटीन के खाद्य पदार्थों की अपेक्षा कम होती है (अर्थात् 225 ml. से कम)।

(ख) आन्त्रिक अवस्था (Intestinal phase)—भोजन के आमाशय से निकल कर आन्त्र में प्रवेश होने पर जो आमाशय स्राव निकलता है उसे आन्त्रिक अवस्था का जठर रस कहते हैं। इसकी अधिकतम मात्रा भोजन करने के एक घण्टे से 2½ घंटे तक 35 से 70 यूनिट रहती है, तथा इसके पश्चात् 10 यूनिट कम हो जाती है। निम्नलिखित विकारों में इस अवस्था का स्राव इसकी सामान्य मात्रा (35–70 units) से कम हो जाता है जैसे—

तीव्र आमाशय शोथ (Acute gastritis)
सुदम्य आमाशय व्रण (Benign gastric ulcer)
प्रारम्भिक कैन्सर (Early carcinoma)

(ii) **हिस्टामिन परीक्षा** (Histamin test)—रोगी को हिस्टामिन देने पर, आमाशय (जठर) के उत्तेजित होने से जठर स्राव पुरुषों में 10 से 40 mEq. प्रति घण्टा स्त्रियों में 5 से 30 mEq. प्रति घण्टा की दर से निकलने लगता है। एक घण्टे पश्चात् स्राव की मात्रा सामान्य स्तर पर आ जाती है। परन्तु कैन्सर तथा घातक रक्ताल्पता (Pernecious anaemia) में हिस्टामिन देने पर भी जठर रस के स्राव में वृद्धि नहीं होती।

जब आमाशय के सौम्य व्रण घातक व्रणों में परिवर्तित हो जाते हैं तब जठर रस में अम्लता पूर्ण रूप में लगातार अनुपस्थित (Continuous abscence) मिलती है (It is called achlorhydria)। इस अवस्था में जठर रस में रक्त की उपस्थिति रहती है, तथा इससे तीव्र अप्रिय गन्ध आती है।

जठर रस में अम्लता को अधिकता (Hyper acidity) रहने से हिस्टामिन देने पर (Injection of histamin in a dose of 0·5 mg./kg body weight) या Functional Test meal of 7% alcohol in 50 ml. dose देने से स्वतन्त्र अम्ल (Free HCl) की मात्रा 60 से 90 यूनिट तक पहुंच जाती है। यह स्थर हिस्टामिन सूचीवेध से 2 घण्टे के पश्चात् भी बना रहता है।

विभिन्न विकृतियों में हिस्टामिन के प्रभाव की तालिका

विकृति	अम्ल निस्राव mEq. में प्रति घण्टा की दर से			
	आधार स्तर		अधिकतम स्तर	
	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष
ग्रहणीज व्रण (Duodenal ulcer)	4·2	7·1	25·7	35·2
आमाशय व्रण (Gastric ulcer)	1·6	2·9	19·6	25·7
आमाशय कैंसर (Gastric carcinoma)	0·7	1·5	3·0	6·7
स्वस्थावस्था में (Normal value)	1·0	4·2	15·0	22·6

(V) यकृत क्रिया परीक्षा (Liver function test i. e. L F T)

यकृत शरीर में अनेक आवश्यक कार्य करने वाला अवयव है। इसमें विकृति होने पर इसकी कार्यक्षमता में गम्भीर प्रभाव पड़ता है, इसलिए इसकी विभिन्न विकृतियों की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, इसे अग्र तालिका में देखें।

यकृत क्रिया परीक्षा की तालिका

परीक्षा/परीक्ष्य पदार्थ	सामान्य मूल्य(स्तर)	विकृति
सीरम बिलीरूबिन, वान्डेन वर्ग की प्रतिक्रिया (Vendenburg's reaction)	0·4 mg/100ml	यह प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष सप्रत्य (Direct positive अवरोध जन्य तथा संक्रमण जन्य कामला में मिलती है। यह प्रतिक्रिया अप्रत्यक्ष (Indirect positive) रक्त संलाई कामला (Haemolytic jaundice) में मिलती है।
सीरम एलब्युमिन	3·2-4·5 gms/100 ml	यह 2 ग्राम से कम / यह 4 ग्राम से अधिक — यकृत की जीर्ण व्याधियों में मिलती है।
सीरम ग्लोबुलिन	2·3-3·5 gms/100 ml	
उच्चावचन परीक्षा (Fluctuation test)		कामला रोग में यह परीक्षा सप्रत्य (Positive) मिलती है। यह परीक्षा कामला रोग में ऋणात्मक (Negative) रहने पर इसे (कामला को) अवरोधज प्रकार का कामला जानना चाहिये।
थाईमोलटरबिडिटी (Thymol turbidity)	0-5.0 units	संक्रमण जन्य यकृत शोथ (Infective hepatitis) में इसके मूल्य (स्तर) में वृद्धि हो जाती है,
प्रोथ्रोम्बिन अवधि (Prothrombin time)	12-14 Seconds	संक्रमण जन्य यकृत शोथ (Infective hepatitis) एवं अवरोधज कामला में यह अवधि कम हो जाती है

परीक्षा/परीक्ष्य पदार्थ	सामान्य मूल्य(स्तर)	विकृति
		परन्तु अवरोध कामला में Vit-K को सूचीवेध द्वारा देने पर यह अवधि 6-12 घंटे में सामान्य आ जाती है।
कोलेस्ट्रोल (Cholesterol)	115-250 mg/100 ml.	अवरोधज कामला तथा जीर्ण यकृत शोथ में इसका मूल्य (स्तर) बढ़ जाता है।
सीरम एलकलाईन फस्फेटेज	1·5-4·5 units/100 ml बोडन्स्की	अवरोधज कामला में इसका मूल्य बढ़कर 10 यूनिटस तक पहुंच जाता है। इसके विपरीत संक्रमण जन्य कामला में इसका मूल्य 1·0 यूनिट से भी कम हो जाता है।
रक्त में पीतवर्ण का सूचक अंक (Icterus Index)	3·5	रक्ताल्पता में यह अंक सामान्य से कम हो जाता है। गुप्त कामला (Latent jaundice) में यह अंक 5 से 15 तक बढ़ जाता है।
ग्लूकोजसह्यता परीक्षा (Glucose tolerance test)	40 ग्राम ग्लैक्टोस शर्करा देने पर रक्त में ग्लूकोस का अंक 65 से 160 तक पहुंचता है।	यकृत की व्याधियों में यह अंक (Index) सामान्य से अधिक हो सकता है तथा मूत्र में शर्करा (5 घंटे के मूत्र में 6 ग्राम से अधिक शर्करा) आने लगती है।
हिप्पुरिका अम्ल परीक्षा (6 Gms of sodium benzoate is administered)	इसका निकास एक दिन में 2·7 से 3·5 ग्राम तक होता है।	यदि इसके निकास की मात्रा 2·7 से कम हो जाये तो यकृत पात (Liver failure) समझें, जैसे वृक्कपात होने से होता है।

परीक्षा/ परीक्ष्य पदार्थ	सामान्य मूल्य (स्तर)	विकृति
ब्रोम स्लफेलिन परीक्षा (Brom sulphalein test)	इसे 5 मि०ग्रा० प्रति कि०ग्रा० भार के दर से लेने पर 45 मिनट के पश्चात् रक्त में इसका स्तर (मूल्य) 10% से कम रह जाता है।	यदि 45 मिनट के पश्चात् इसका स्तर 10% से अधिक रहता है तब यकृतपात समझना चाहिये। (यकृत पात में सन्यास, हृदय गति तीव्र, कामला, ज्वर, पेशियों में शिथिलता एवं मुख से दुर्गन्धादि लक्षण उत्पन्न होते हैं) इसके लिये रोगी को प्रोटीन रहित आहार एवं जीव विरोधी औषधियां (Antibiotics) दें।

कामला विभेदक तालिका

कामला भेद	मूत्र में		पुरीष में
	यूरोबिलिनोजन (Urobilinogen)	बिलिरूबिन (Bilirubin)	यूरोबिलीनोजन (Urobilinogen)
संलाईकामला (Haemolytic jaundice)	+ +	±(अत्यल्पमात्रा)	+ +
विषजकामला (Toxic jaundice)	+	+	±(अत्यल्प मात्रा)
अवरोधज कामला (Obstructive jaundice)	±(अत्यल्प मात्रा)	+	अनुपस्थित (Absent)

(vi) अग्नि-आशय क्रिया परीक्षा:—अग्निआशय (Pancreas) से निकलने वाला एमाईलेज इन्जाइम एक स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में 60 से 150 सोमोग्यी यूनिट (इकाई) होता है तथा मूत्र में 35 से 269 यूनिट प्रतिघण्टा की दर से निकलता है। इसकी मात्रा अग्नि-आशय शोथ (Pancreatitis) में तीव्रता से बढ़ने लगती है। इस के अतिरिक्त अनेक अन्य अवस्थाओं में भी रक्त में इसका मूल्य (स्तर) बढ़ने लगता है, जैसे कर्ण मूलिका शोथ (Mumps), आन्त्रावरोध, ग्रहणी व्रण के विदीर्ण होने पर (Ruptured duodenal ulcer), पित्त प्रणाली (Common bile duct) में अश्मरी होने पर तथा आमाशयज व्रण के अग्नि-आशय तक पहुंचने पर (Perforation of peptic ulcer of stomach in pancreas)।

(vii) प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव (C. S. F.) परीक्षा—स्वस्थ पुरुष में इस द्रव की मात्रा 100 से 150 मि० लीटर होती है। इसकी प्रतिक्रिया 7·35 से 7·40 pH तक रहती है तथा आपेक्षिक घनत्व (Specific gravity) 1·003 से 1·009 तक होता है।

प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव के घटकों के सामान्य मूल्य एवं विषमता के हेतुओं की तालिका

घटक (Constituents)	सामान्य मूल्य	विषमता हेतु
प्रमस्तिष्क-मेरु-द्रव दाब	70-180 m.m. H_2O	सिरा में आघात तथा मस्तिष्कावरण में व्रण शोथ या क्षय रोग के दण्डाणुओं का संक्रमण होने से इस द्रव का दाब बढ़ जाता है।
प्रमस्तिष्क-मेरु-द्रव कोशिका गणना (C.S.F. Cell count)	0·10 Cu.mm. (In adult)	जिन व्याधियों में (नीचे बताई गई) प्रोटीन बढ़ जाती है उनमें कोशिका गणना भी 0-500 तक बढ़ जाती है (अर्बुद को छोड़कर)।
लवण (Sodium chlorides)	720-750 mg/100 ml. (118-132 mEq/liter)	मस्तिष्कावरण शोथ में लवण की मात्रा 600 mg. से कम हो जाती है। मूत्र रक्तता (Uraemia) में लवण की मात्रा सामान्य स्तर से अधिक हो जाती है।
ग्लूकोस (Glucose)	45-75 mg./ 100 ml.	मस्तिष्कावरणशोथ में ग्लूकोस का स्तर सामान्य से कम हो जाता है तथा लिम्फोसाईटस की मात्रा बढ़ जाती है (Lymphocytosis)। परन्तु क्षय रोग जन्य मस्तिष्कावरण शोथ में लिम्फोसाईट की मात्रा नहीं बढ़ती।
द्रव में जाले का निर्माण (Web formation)	द्रव निकलने के कई घंटे पश्चात् बनता है।	मस्तिष्क रक्तस्राव में यह जाला शीघ्र बन जाता है।
कुल प्रोटीन (Total Proteins)	15-40 mg/ 100 ml.	मस्तिष्कावरण की तीव्र शोथ या क्षय जन्य शोथ या फिरंगज शोथ, टेबीज डार्सेलिस (Tabes dorsalis), मस्तिष्क के अर्बुद व आघात एवं मस्तिष्क में रक्तस्राव के कारण इनका मूल्य बढ़ जाता है।

घटक (Constituents)	सामान्य मूल्य	विषमता के हेतु
आविलता (Turbidity)	अनुपस्थित	मस्तिष्कावरण शोथ के कारण इस द्रव में आविलता आ जाती है। चिकित्सार्थ इसे 20-30 ml. धीमे-धीमे निकालकर द्रव दाब को सामान्य स्तर से अधिक बढ़े हुये स्तर के ½ मूल्य तक ले जायें।

(viii) **शुक्र परीक्षा** :—शुक्र की परीक्षा शुक्रकीट (Sperms) तथा अम्ल फास्फेटेज के लिये की जाती है।

शुक्र के परीक्ष्य पदार्थ एवं उनके मूल्य की तालिका

परीक्ष्य पदार्थ	सामान्य मूल्य
अम्ल फास्फेटेज (Acid phosphatase)	2500 K.A. units/ml. (very highly positive).
गतिशील शुक्रकीट	70 से 80%
शुक्रकीट गणना	60-150 million/ml. (Less than 20% are abnormal)

परिशिष्ट

सुश्रुत संहिता (अनुवादक—अत्रिदेव, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास)
की वर्णानुक्रमानुसार विषय सूची (Alphabetical Index)

शब्द सूचक :—सू=सूत्रस्थान नि=निदान स्थान
शा=शारीर स्थान चि=चिकित्सा स्थान
क=कल्प स्थान उ=उत्तर तन्त्र

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
अग्निकर्म (वर्णन)	सू	12	3—15
अग्नि दग्ध (सम्यक दग्ध)	सू	11	26
अग्नि दग्ध (प्रकार, लक्षणादि एवं चिकित्सा)	सू	12	16—29
अग्नि दग्ध (आतप दग्ध)	सू	12	38—39
अग्नि दग्ध (उष्ण वात, इन्द्राग्नि दग्ध)	सू	12	38—39
अजीर्ण रोग	सू	46	500—513
अतिसार एवं प्रवाहिका (चिकित्सा)	उ	40	3—136,
,, ,, ,,	उ	40	150—162
अथर्ववेद (आयुर्वेद से सम्बन्ध)	सू	1	6
अध्यायों की संख्या एवं स्थान	सू	3	3—46
अध्ययन के लिये काल एवं स्थान	सू	2	9—10
अध्ययन विधि	सू	3	54—56
अधुंष (तालु रोग)	नि	16	42
अधुंष (चिकित्सा तालु रोग में देखें)	—	—	—
अधिमांस (दन्त मूल रोग)	नि	16	25
अधिमांस (चिकित्सा)	चि	22	21—25
अधिजिह्विका (कण्ठ रोग)	नि	16	52
अन्नपान (विष से रक्षा के उपाय)	क	1	1—85
आनाह	उ	56	20—27
अनुबन्ध दोष	सू	21	38

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
अनुशस्त्र	सू	8	15—18
अपची (रोग वर्णन)	नि	11	10—12
अपची (चिकित्सा)	चि	18	20—28
अपतन्त्रक (रोग वर्णन)	नि	1	64—66
अपतन्त्रक (चिकित्सा)	चि	5	21
अपतानक (आक्षेपक रोग वर्णन)	नि	1	50—59
अपतानक (चिकित्सा)	चि	5	18
अपस्मार (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	61	1—41
अमानुषोपसर्ग (देव, ग्रहादि)	उ	60	1—56
अरिष्ट लक्षण (इन्द्रियों से सम्बन्धित)	सू	28	4—21
,, ,, ,,	सू	30	3—23
अरिष्ट लक्षण (छाया एवं वर्ण सम्बन्धित)	सू	31	3—32
अरिष्ट लक्षण (दूत, शकुन, स्वपन सम्बन्धित)	सू	29	3—81
अरिष्ट लक्षण (अस्वाभाविक परिवर्तन)	सू	32	3—7
अरोचक (अग्निमान्द्य)	उ	57	1—17
अर्दित (रोग वर्णन)	नि	1	68—73
अर्दित (चिकित्सा)	चि	5	22
अर्बुद (रोग वर्णन)	नि	11	13—21
अर्बुद (चिकित्सा)	चि	18	29—40
अर्बुद (तालु रोग)	नि	16	43
अर्श (रोग वर्णन)	नि	2	2—26
अर्श (चिकित्सा)	चि	6	3—22
अर्श (रक्त पित्त समान चिकित्सा)	उ	45	43
अलाबू	सू	13	4—8
अवबाहुक (रोग वर्णन)	नि	1	82
अवबाहुक (चिकित्सा)	चि	5	23
अश्मरी एवं शर्करा	नि	3	1—17, 26
अश्मरी एवं शर्करा (चिकित्सा)	चि	7	3—37
अष्टविध शस्त्र कर्म (विषय)	सू	25	1—29
अष्टविध शस्त्रकर्म (व्यापद्)	सू	25	30—36
अष्ठीला एवं प्रत्याष्ठीला (रोग वर्णन)	नि	1	91—92
अष्ठीला एवं प्रत्याष्ठीला (चिकित्सा)	चि	5	27

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
अस्थियां (प्रकार)	शा	5	20
अस्थियां (आघात का प्रभाव)	नि	15	16
असृग्दर चिकित्सा (रक्त पित्त सदृश)	उ	45	44
आचार (स्वस्थ वृत्त में देखें)	—	—	—
आध्मान एवं प्रत्याध्मान (रोग वर्णन)	नि	1	88, 89
आध्मान एवं प्रत्याध्मान (चिकित्सा)	चि	5	26
आयु परीक्षा	सू	35	29–32, 4–11
आयुर्वेद (प्रयोजन, पुण्य कर्म)	सू	1	14—41
आयुर्वेद (निरुक्ति)	सू	1	15
आयुर्वेद (इतिहास)	सू	1	20
आयुर्वेद (अध्ययन में हेतु)	सू	3	48—53
आलस्य	शा	4	52
आलेप (वर्णन)	सू	18	3—15
आहार (त्वग् रोग)	चि	9	4, 5
आहार (हितकर एवं विरोधी)	सू	20	3—5, 8
,, ,, ,,	सू	20	10—22
आहार (विष से रक्षा)	क	1	1—85
आहार (व्रणी के लिए)	सू	18	21, 37–39
आहार (व्रणी के लिए निषेध)	सू	19	16—22
आहार (भग्न रोगी के लिए)	चि	3	4—5
आक्षेपक (अपतानक रोग वर्णन)	नि	1	50—59
आक्षेपक (चिकित्सा)	चि	5	18
ओष्ठ रोग (दोषज, रक्तज, मांसज एवं अभिघात से)	नि	16	4—12
ओष्ठ रोग (चिकित्सा)	चि	22	3—9
ओष्ठ सन्धान कर्म	सू	16	32
औपसर्ग (संक्रमण प्रकार एवं रोग वर्णन)	नि	5	33—34
औपसर्गिक रोग (प्राक्)	सू	35	18
ओज (वर्णन)	सू	15	21—28
औषधियाँ (प्रकार एवं लक्षण)	सू	1	28—32
औषधियाँ (क्रिया शीलता, काल)	सू	33	7—9, 17
औषधियाँ (क्रिया विहीन होना)	सू	38	81

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
औषधियाँ (कालकृत करना)	सू	1	33
औषधियां (संग्रह काल)	सू	38	5, 6, 9, 10
,, ,, ,,	सू	38	12—17
औषधियां (दोष संशोधनीय)	सू	39	3—6, 10
औषधियां (दोष संशमनीय)	सू	39	7–9, 11–14
औषधियां (पार्थिव)	सू	1	32
औषधियां (जंगम)	सू	1	30
औषधियां (गुण, ज्ञान)	सू	3	10
अंग प्रत्यंग (प्रमाण)	सू	35	12
उत्तर वस्ति (वर्णन)	चि	37	3—127
उत्क्लेश	शा	4	4—53
उदर रोग (रोग वर्णन)	नि	7	4—25
,, ,,	चि	14	1—3
उदर रोग (चिकित्सा)	चि	14	4—19
उदर शूल (चिकित्सा गुल्म में देखें)—		—	—
उदावर्त (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	55	1—53
उन्माद (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	62	1—34
उपतन्त्र (नामकरण में हेतु)	सू	3	43—46
उपकुश (दन्तमूल रोग)	नि	16	21—22
उपकुश (चिकित्सा)	चि	22	19—21
उपदंश (रोग वर्णन)	नि	12	7—9
उपदंश (चिकित्सा)	चि	14	25—51
उपसर्ग (अभानुषोपसर्ग से देखें)	—	—	—
उपसर्ग रोग (औपसर्गिक रोगों में देखें)	—	—	—
कण्ठ गत रोग (रोहिणी, कण्ठ शालूक, अधिजिह्विका, वलय, बलास, एक वृंद, वृंद, शतघ्नी, गिलायु गलविद्रधि, गलौघ, स्वरघ्न, मांसतान, विदाही)	नि	16	45—63
कण्ठ गत रोग (चिकित्साएं)	चि	22	59—69
कण्ठ घोटना (चिकित्सा)	सू	27	22
कण्ठ शालूक (कण्ठ रोग)	नि	16	51
कण्ठ शालूक चिकित्सा (कण्ठ रोग चिकित्सा में देखें)—		—	—
कण्ठ शुण्डिका (तालु रोग)	नि	16	41

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
कपालिका (दन्त रोग)	नि	16	33
कपालिका (चिकित्सा)	चि	22	36—38
कफ (लक्षण, कार्य, स्थान)	सू	21	12—15
कर्ण गत रोग (कर्ण शूल, कर्ण प्रसाद, उ बाधिर्य, क्ष्वेड, कर्ण स्राव, कर्ण कण्डु, कर्ण वर्च, कर्ण कृमि, प्रतिनाह, दो विद्रधियाँ, कर्ण पाक, पूति कर्ण, अर्श, शोफ, अर्बुद)		21	3—6
कर्ण पाली के रोग (परिपोट, उत्पात, चि		25	3—12
उन्मन्थ, दुख वर्धन, परिलेही)	चि	25	13—43
कर्ण बन्ध	सू	16	9—27
कर्ण वेध	सू	16	3—8
कर्ण शूल	नि	1	84
कर्ण क्षत	चि	3	45
कर्म (प्रकार)	सू	5	3
कर्म (पूर्व)	सू	5	6
कर्म (पश्चात्)	सू	5	17
कर्म (प्रधान)	सू	5	7
कर्म (रक्षा)	सू	5	20—32
कर्म (शल्य कर्म)	सू	5	5
कृमिदंत (दंत रोग)	नि	16	29
कृमिदंत (चिकित्सा)	चि	22	23, 38—40
कृमि रोग (रोग वर्णन एव चिकित्सा)	उ	54	1—40
क्रिया काल	सू	21	18, 27, 28, 33
,, ,,	सू	21	34 35
क्रोष्टु शीर्ष (रोग वर्णन)	नि	1	76
क्रोष्टु शीर्ष (चिकित्सा)	चि	5	23
कल्प	शा	4	51
कवल ग्रहण (चिकित्सा)	चि	40	58—71
कवलिका	सू	18	20, 37
काय चिकित्सा (ऋषिगण)	उ	1	6
काल (व्याख्या, भेद, विभाजन एवं ऋतु वर्णन)	सू	6	3—10

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
कार्श्य	सू	15	33, 35
कास (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	52	1—47
कीट दंष्ट (वर्णन एवं चिकित्सा)	क	8	1—143
कुत्ता दंष्ट (पशु दंष्ट में देखें)	—	—	—
कुष्ठ (महा)	नि	5	3—15
कुष्ठमहा (चिकित्सा)	चि	4	24
,, ,, ,,	चि	10	3—15
कुष्ठ (क्षुद्र)	नि	5	16—34
,, ,,	चि	9	6—12
खञ्ज (पंगु रोग वर्णन)	नि	1	77
खञ्ज (चिकित्सा)	चि	5	23
खालित्य, पालित्य (रोग वर्णन)	नि	13	33, 34, 37
खालित्य, पालित्य (चिकित्सा)	चि	25	28—43
,, ,, ,,	चि	20	24—26
गण (37 द्रव्य समूह के गण)	सू	38	3—80
गर्भ उत्पत्ति (शुक्र शोणित वर्णन, रोग चिकित्सा एवं सहवासादि वर्णन)	सू	2	1—58
गर्भ (शुक्र व आर्तव के गुण, गर्भाधान, गर्भ अंग उत्पत्ति क्रम)	शा	3	1—36
गर्भ (कलायें, त्वचायें)	शा	4	1—18
गर्भ (अंग प्रत्यंग निर्माण)	शा	4	24—30
गर्भिणी (मासानुमास आहार व्यवस्था)	शा	10	3—4
गर्भिणी (प्रसव व्यवस्था)	शा	10	5—24
गर्भिणी (स्तन्य पान व्यवस्था)	शा	10	25—33
गर्भिणी (बालक की 25 वर्ष तक क्रमिक अवस्था)	शा	10	34—53
गर्भिणी (गर्भ को बलशाली बनाना)	शा	10	54—70
गलगण्ड (रोग वर्णन)	नि	11	22—29
गलगण्ड (चिकित्सा)	चि	18	41—55
गलविद्रधि (कण्ठ रोग में चिकित्सा देखें)	नि	16	59
गलौघ (कण्ठ रोग में चिकित्सा देखें)	नि	16	60
ग्लानि	शा	4	54
गिलाय (कण्ठ रोग में चिकित्सा देखें)	नि	16	58

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
गुदभ्रंश (हेतु)	नि	13	61
गुल्म (रोग वर्णन)	उ	42	1—15
गुल्म (विद्रधि से भेद)	नि	9	28—32
गुल्म (चिकित्सा)	उ	42	16—145
गुणों के कर्म (20 गुण)	सू	46	514—525
गौरवता	शा	4	55
ग्रन्थि (रोग वर्णन)	नि	11	3—9
ग्रन्थि (चिकित्सा)	चि	1	33
,, ,,	चि	18	3—24
ग्रह (अमानुषोपसर्ग में देखें)	—	—	—
ग्रह (उत्पत्ति)	उ	27	1—22
ग्रह (अन्ध पूतना)	उ	33	1—9
ग्रह (पूतना)	उ	32	1—11
ग्रह (नैगमेष)	उ	36	1—11
ग्रह (मुखमण्डिका)	उ	35	1—9
ग्रह (रेवती)	उ	31	1—11
ग्रह (रोग, बाल ग्रह)	उ	27	3—21
ग्रह (शकुनी)	उ	30	1—11
ग्रह (शीत पूतना)	उ	34	1—9
ग्रह (स्कन्ध)	उ	28	3—14
ग्रह (स्कन्धापस्मार)	उ	29	1—9
ग्रहणी (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	40	166—182
गृध्रसी (रोग वर्णन)	नि	1	75
गृध्रसी (चिकित्सा)	चि	5	23
चर्म कील	नि	2	18—20
चिकित्सक (अच्छे चिकित्सक के गुण)	सू	3	47—53
,, ,, ,,	सू	4	3—8
,, ,, ,,	सू	5	10
,, ,, ,,	सू	17	6
,, ,, ,,	सू	34	8, 12—14
,, ,, ,,	सू	34	17—21
चिकित्सक (कर्तव्य)	सू	25	43—45

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
चिकित्सक (सावधानियां)	सू	25	42
,, ,,	सू	10	9
चिकित्सक (निन्दित)	सू	25	41
चिकित्सा (चिकित्सा कर्म में प्रवेश)	सू	10	1, 2
चिकित्सा (4 पाद)	सू	34	15—24
चिकित्सा (सूत्र)	सू	20	21
,, ,,	सू	15	40
चिकित्सा (योग्य/अयोग्य रोगी)	सू	2	8
चिकित्सा (सीमा)	सू	35	48, 49
चिकित्सा (ऋतु, दोष एवं क्रियाकाल अनुरूप चिकित्सा विधि)	सू	35	19—22
छर्दि (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	49	1—35
छेदन विधि (स्थानानुसार उपयुक्त एवं अनुपयुक्त विधि)	सू	5	13—15
जंगम द्रव्य (प्रकार)	सू	1	30
जनपदोध्वंस (वर्णन एवं चिकित्सा)	सू	6	16—20
जम्भाई	शा	4	50
जलौका (विषद वर्णन)	सू	13	3—30
ज्वर (रोग वर्णन)	उ	39	10—96
ज्वर (चिकित्सा)	उ	39	97—234
जिह्वा गत रोग (कण्टक, उपजिह्विका, अलास)	नि	16	36—40
जिह्वा गत रोग (चिकित्सा)	चि	22	43—48
डूबना (जल में डूबना)	सू	27	20
तन्द्रा	शा	4	49
यन्त्र युक्तियां	उ	65	1—43
तन्त्र (आयुर्वेद के तन्त्र)	सू	1	6
तालू गत रोग (गल शुण्डिका, तुण्डिकेरी, मांस कच्छप, अर्बुद, मांस संघात, तालुपुप्पुट, तालु शोष, तालु पाक)	नि	16	40—45
तालुगत रोग (चिकित्सा)	चि	22	49—58
तूनी/प्रतूनी (रोग वर्णन)	नि	1	86, 87
तूनी/प्रतूनी (चिकित्सा)	चि	4	25
तृषणा (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	48	1—33

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
दग्ध व्रण	सू	12	16—39
दद्रु (रोग वर्णन)	नि	5	8
दद्रु (चिकित्सा)	चि	9	12—14, 40
देश (प्रकार)	सू	35	42
दंष्ट (सर्प दंष्ट, पशु दंष्ट एवं मूषक दंष्ट में देखें)	—	—	—
दन्त मूल रोग (शीताद, दन्त पुप्पुट दंष्ट, शौषिर, महां शौषिर, परिदर उपकुश, दंत वैदर्भ, वर्धन अधिमांस, नाड़ी)	नि	16	13—26
दन्त मूल रोग (चिकित्सा)	चि	22	10—33
दंत रोग (दालन, कृमिदंत, दंत हर्ष, भंजनक, दंत शर्करा, कपालिका, श्याव दंतक, हनुमोक्ष)	नि	16	27—35
दंत रोग (चिकित्सा)	चि	22	34—42
दूत (लक्षणों से साध्यासाध्यता)	सू	29	5—26
देश (प्रकार)	सू	35	42—45
दोष विकल्प (भेद)	उ	66	1—17
दोष (संचय, प्रकोप, प्रसार एवं संशोधन)	सू	6	11—14
दोष (प्रकृत कार्य)	सू	15	4
दोष (ऋतु अनुसार दोष शमन)	सू	6	38
दोष (स्थान)	सू	21	6, 7
दोष (प्रकोप एवं चिकित्सा)	सू	21	19—39
,, ,, ,,	सू	21	35—31
,, ,, ,,	सू	21	6—38
द्रव्य (रस, गुण, वीर्य एवं विपाक की प्रधानता)	सू	40	1—40
द्रव्य (गुणों के अनुरूप कर्म एवं पञ्च भौतिकता)	सू	41	3—12
द्रव्य (रसों का विवेचन एवं कार्य)	सू	42	3—13
द्रव्य (भोजन विधि एवं गुण दोष)	सू	46	446—531
द्रव्य वर्ग (रस पर आधारित)	सू	42	11

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
द्रव्य वर्ग (वामक)	सू	43	3—11
द्रव्य वर्ग (विरेचक)	सू	44	3—91
द्रव्य वर्ग (जल)	सू	45	3—46
द्रव्य वर्ग (दुग्ध)	सू	45	47–83
द्रव्य वर्ग (तक्र, दधि)	सू	45	84–95
द्रव्य वर्ग (घृत)	सू	45	96—111
द्रव्य वर्ग (तैल)	सू	45	112—131
द्रव्य वर्ग (मधु)	सू	45	132—147
द्रव्य वर्ग (इक्षु, गुण)	सू	45	148—169
द्रव्य वर्ग (मद्य)	सू	45	170—216
द्रव्य वर्ग (मूत्र)	सू	45	217—228
द्रव्य वर्ग (धान्य कुधान्य)	सू	46	4—52
द्रव्य वर्ग (मांस)	सू	46	53—138
द्रव्य वर्ग (फल)	सू	46	139—210
द्रव्य वर्ग (शाक, कन्द)	सू	46	211—312
द्रव्य वर्ग (लवण)	सू	46	313—330
द्रव्य वर्ग (सर्व श्रेष्ठ)	सू	46	331—339
द्रव्य वग (कृतान्न वर्ग)	सू	46	340—418
द्रव्य वर्ग (अनुपान)	सू	46	419—445
धन्वन्तरी	सू	1	21
धमनी (वर्णन)	शा	9	1—11
धमनी गत वात (चिकित्सा)	चि	5	23
धातु (कार्य)	सू	15	5
धातु (वृद्धि व क्षय के लक्षण)	सू	15	9, 10, 14
धातु (विकार)	सू	24	9
धूपन कर्म	सू	19	28
धूपन द्रव्य	सू	5	18, 19
धूम दग्ध	सू	12	29—37
धूम्रपान (चिकित्सा)	चि	40	3—20
नस्य कर्म (चिकित्सा)	नि	40	21—57
नाड़ी (रोग वर्णन)	नि	10	9—14
नाड़ी (चिकित्सा)	चि	1	34, 41, 42
	चि	17	17—41

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
नासा गत रोग (अपीनस, पूतिनास, नासापाक, रक्तपित्त, पूयरक्त, क्षवथु, भ्रंशथु, दीप्त, नासानाह, प्रतिस्राव, नासाशोष, नासा अर्श, नासा शोफ, नासा अर्बुद, प्रतिश्याय)	उ	23	3—21
नासा गत रोग (चिकित्सा)	उ	24	3—12
नासा गत रोग (प्रतिश्याय चिकित्सा)	उ	25	3—42
नासा सन्धान	सू	16	27—31
निद्रा एवं चेतना स्थान	शा	4	31—47
निन्दित पुरुष	सू	15	35
नेत्र कृष्ण गत रोग (सव्रण शुक्र, अव्रण शुक्र, पाकात्यय, अजका)	उ	5	3—10
नेत्र छेद्य रोग चिकित्सा (अर्शवर्त्म, शुष्कार्श, अर्बुद, सिरापिडिका, सिराजाल, 5 प्रकार के अर्म एवं पर्वणिका)	उ	15	3—33
नेत्र दृष्टिगत रोग [धूमदर्शी, पित्त विदग्ध दृष्टि, कफ विदग्ध दृष्टि, ह्रस्वजाड्य, नकुलान्ध्य (रात्र्यन्ध, दिनान्ध), गम्भीरिका, अरुण, कांच, तिमिर, लिंगनाश (नीलिका)]	उ	17	3—99
नेत्र पटल गत रोग (तीन पटल तक तिमिर रोग, चौथे में कांच, छटे परिम्लाई रोग, कफ एवं पित्त विदग्ध दृष्टि, धूमदर्शी, ह्रस्व-जाड्य, नकुलान्ध्य, गम्भीरका)	उ	7	3—11
नेत्र पक्ष्म कोप (चिकित्सा)	उ	16	3—5
नेत्र भेद्य रोग चिकित्सा (श्लेष्मोपनाह, लगण, कृमि ग्रन्थि, अञ्जन-नामिका बिस-ग्रन्थि)	उ	14	3—11

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
नेत्र वर्त्मगत रोग (उत्संगिनी, कुम्भीका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अञ्जनिका, बहल वर्त्म, वर्त्म बन्धक, क्लिष्ट वर्त्म, श्यावर्त्म, प्रक्लिन्न वर्त्म, अपरिक्लिन्नवर्तम, वातहत वर्तम, अर्बुद, निमेष, शोणितार्श, लगण, बिसवर्त्म, पक्ष्मकोप)	उ	3	3—30
नेत्र रोग (संख्या)	उ	1	21—45
नेत्र रोग (चिकित्सा सूत्र)	उ	8	3—11
नेत्र चिकित्सा (वाताभिष्यन्द, वाताधिमन्थ अन्यतोवात, एवं वात पर्याय)	उ	9	3—25
नेत्र रोग चिकित्सा (धूमदर्शी, पित्ताभिष्यन्द एवं अधिमन्थ, अम्लाध्युषित, शुक्ति)	उ	10	3—16
नेत्र लेख्य रोग चिकित्सा (उत्संगिनी बहलवर्त्म, कर्दमवर्त्म, श्यावर्त्म, बद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म, पोथकी, कुम्भीका, वर्त्मशर्करा	उ	13	3—18
नेत्र शुक्ल गत रोग (प्रस्तारि अर्म, शुक्ल अर्म, क्षत अर्म, अधिमांस अर्म, स्नायु अर्म, शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, सिराजाल, सिरा पिडिका, बलास ग्रन्थि)	उ	4	3—9
नेत्र (संरचना)	उ	1	10—20
नेत्र सन्धिगत रोग (पूयालस, उपनाह, स्राव, पर्वणिका, अलजी, कृमि ग्रन्थि)	उ	2	3—9
नेत्र, सर्व गत रोग (4 अभिष्यन्द, 4 अधिमन्थ, वातपर्याय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषित, शिरोत्पात, सिराहर्ष)	उ	6	3—30

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
त्र, क्षत (चिकित्सा)	उ	19	3—7
त्र, (कर्कूणक चिकित्सा)	उ	19	8—20
त्र रोग में औषध कल्पना (तर्पण, पुटपाक, वर्ति, सेक, आश्च्योतन, अन्जनादि)	उ	18	3—106
त्र रोग चिकित्सा (श्लेष्माभिष्यन्द एवं अधिमन्थ, बलास, ग्रथित, पिष्टक, प्रक्लिन्नवर्त्म)	उ	11	2—18
त्र रोग चिकित्सा (रक्ताभिष्यन्द एवं अधिमन्थ, शिरोतपात, सिराहर्ष, अर्जुन, शुक्र, सशोफपाक, पूयालस, प्रक्लिन्न वर्त्म)	उ	12	3—18
गु (खञ्ज रोग का वर्णन)	नि	1	77
गु (चिकित्सा)	चि	5	23
रिणारक (गुण)	सू	34	24
गु दंष्ट	क	7	43—64
चात् कर्म	सु	5	17
ाघात (रोग वर्णन)	नि	1	60—63
ाघात (चिकित्सा)	चि	4	19
ण्डु (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	44	1—40
द दाह (रोग वर्णन)	नि	1	80
द दाह (चिकित्सा)	चि	5	23
द हर्ष (रोग वर्णन)	नि	1	81
द हर्ष (चिकित्सा)	नि	5	23
नात्य (मदात्य में देखें)	—	—	—
यना	सू	8	12
ष (निर्हरण विधि)	सू	5	11—12
ण (लक्षण)	सू	1	22
र्वकर्म	सू	5	6
कृति (24 तत्व, पुरुष, लक्षण, सत्वादि गुण, महाभूतों के गुण)	शा	1	1—22
कृति (देह प्रकृति, लक्षण)	शा	4	63—99
च्छान	सू	13	8

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
प्रतिश्याय चिकित्सा	चि	24	3–42
प्रतिश्याय (रोग वर्णन, नासा रोग में देखें)–	—	—	—
प्रधान कर्म	सू	5	7
प्रमाण	सू	1	16
प्रलेप	सू	19	1–15
प्रमेह (रोग वर्णन)	चि	11	3
,, ,,	नि	6	3-13, 22-27
प्रमेह (चिकित्सा)	चि	11	4–13
,, ,,	चि	13	3–35
प्रमेह पिडिका (रोग वर्णन)	नि	6	14–22
,, ,, '	चि	12	3
प्रमेह पिडिका (चिकित्सा)	चि	12	4–20
बन्ध (द्रव्य एवं प्रकार)	सू	5	39
,, ,, ,,	सू	18	16–39, 44, 45
बल	सू	15	19, 29–31
बल परीक्षा	सू	35	33–38
बलास (कण्ठ रोग)	नि	16	54
बाधर्य (कर्ण रोग)	नि	1	83
बाधर्य (चिकित्सा)	चि	5	23
ब्रह्मा	सू	1	6
भञ्जनक	नि	16	31
भगन्दर (रोग वर्णन)	नि	4	3–13
भगन्दर (चिकित्सा)	चि	8	4–54
भग्न एवं सन्धि मोक्ष (चिकित्सा)	नि	15	3–16
,, ,, ,, ,,	चि	3	15
भग्न एवं सन्धि मोक्ष (चिकित्सा)	चि	3	6–70
भग्न एवं सन्धि मोक्ष (आहार)	चि	3	3–5
भूमि (प्रकार)	सू	36	1–4, 12–14
,, ,,	सू	35	42
भेषज (गुण)	सू	34	22–23

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
भोजन (विधि नियम)	सू	46	449—498
,, ,, ,,	सू	46	524—527
भ्रूण (उत्पत्ति, शुक्र एवं आर्तव दोष तथा सहवास वर्णन)	शा	2	1—58
मदात्य (पानात्य के लक्षण, स्त्री सेवन)	उ	47	1—81
मधुमेह (रोग वर्णन, प्रमेह में देखें)	—	—	—
मधुमेह (चिकित्सा)	चि	13	3—35
मन्या स्तम्भ (रोग वर्णन)	नि	1	67
मन्या स्तम्भ (चिकित्सा)	चि	4	20
मर्म (वर्णन एवं आघात के लक्षण)	शा	6	1—43
मर्म विद्ध लक्षण (सिरा स्नायु इत्यादि)	सू	25	36—40
मर्म (चिकित्सा)	चि	7	38
मल (मलों की उत्पत्ति)	सू	46	528—529
मल (मलों के कार्य)	सू	15	4,11,12,15,16
महा रोग (8 कष्ट साध्य रोग)	सू	33	4
मांस कच्छप (तालु रोग)	नि	16	43
मांस तान (कण्ठ रोग)	नि	16	62
मात्रा	चि	39	677
मुख रोग (ओष्ठ, दन्तमूल, दांत, जिह्वा, तालु, कण्ठ, मुख)	नि	16	3—66
मुख रोग (चिकित्सा)	चि	22	3—81
मूक	नि	1	85
मूढ़गर्भ (प्रकार, मृतगर्भ, प्रसव में हेतु)	नि	8	3—14
मूढ़गर्भ	चि	15	3—47
मूर्च्छा (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	46	25
मूषिका विष (लक्षण एवं चिकित्सा)	क	7	1—42
मूत्र निर्माण	नि	3	20—23

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
सूत्राघात (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	58	1–27
यन्त्र (वर्णन)	सू	7	1–22
यन्त्र (अर्शो यन्त्र)	चि	6	11
युक्तियां (तन्त्र युक्तियां)	उ	65	1–43
योनि (व्यापद एवं चिकित्सा)	उ	38	1–32
योग्या (शस्त्र कर्माभ्यास)	सू	9	1–6
रक्त का भण्डार एवं उत्पत्ति	सू	14	4–5
रक्त (गुण)	सू	21	16, 17
,,	सू	14	22
रक्त (दोषों से दूषित रक्त के गुण)	सू	14	21
रक्त (महत्व)	सू	14	44
रक्त (प्रकोपक कारण)	सू	2	26
रक्त (रक्त पान)	चि	2	54
रक्त (रक्तज रोग)	सू	24	9
रक्त (रक्त की निरुक्ति)	सू	14	6
रक्त (पञ्च भौतिक्ता)	सू	14	9
रक्त (चौथा दोष)	सू	21	3, 4
,, ,,	सू	21	16–17
रक्त (चौथा दोष)	सू	21	3, 4
,, ,,	सू	21	16–17
रक्त पित्त (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	45	1–45
रक्त विस्रावण (सिरा वेध में देखें)	सू	13	23
रक्त रोकने के उपाय	सू	14	36–45
रस वर्णन	सू	14	3-4, 12-1
रस विकल्प (भेद)	उ	63	1–17
रसायन (अयोग्य एवं औषधियां)	चि	27	3–12
,, ,, ,,	चि	28	3–28
,, ,, ,,	चि	29	3–32
,, ,, ,,	चि	30	4–40
रक्षा कर्म	सू	5	20–32
राजयक्ष्मा (शोष में देखें)	—	—	—
राजा की विष से रक्षा	सू	34	3—9
राक्षस (व्रणी की रक्षा)	चि	1	133
राक्षस (व्रणी की रक्षा के उपाय)	सू	19	23,24,31

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
रोग (साध्यासाध्यता में दूत, शकुन, स्वपन)	सू	29	3—81
रोग (रोगों की साध्यासाध्यता)	सू	10	6
रोग (व्याधि में देखें)	—	—	—
रोगी (परीक्षा विधि)	सू	10	4—5
रोगी (आयु परीक्षा)	सू	35	3—38
रोगी (गुण)	सू	34	21
रोगी (परीक्षा विधि)	सू	10	4
रोगी (आहार)	चि	39	3—39
रोम नखादि (वृद्धि)	शा	4	60—61
रोहिणी (कण्ठ रोग)	नि	16	47—51
रोहिणी (कण्ठ रोग चिकित्सा में देखें)	—	—	—
वमन विरेचन (व्यापद)	चि	34	3—22
वमन (रोग वर्णन)	उ	49	1—32
वमन (चिकित्सा)	चि	33	3-19, 45, 46
व्याधि (आश्रय)	सु	1	26
व्याधि (उत्पत्ति)	सू	24	10
व्याधि (उपद्रव)	सू	33	4—33
,, ,,	सू	10	6
,, ,,	सू	29	3—81
व्याधि (कारण)	सू	1	25, 36, 37
,, ,,	सू	20	20
व्याधि (निग्रह हेतु)	सू	1	27
व्याधि (परीक्षा)	सू	10	4—5
व्याधि (प्रकार)	सू	1	24
,, ,,	सू	24	4—8
,, ,,	उ	40	163—166
व्याधि (लक्षण)	सू	1	23
व्याधि (साध्यासाध्यता)	सू	10	6—8
,, ,,	सू	33	1,2, 5–26
,, ,,	सू	35	46, 47
,, ,,	नि	15	18
व्याधि (सात धातु की व्याधियां)	सू	24	9

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
वस्ति (शरीर)	नि	3	18—20
वस्ति (उत्तर)	चि	37	3—127
वस्ति (निरुह)	चि	38	3—118
वस्ति नेत्र (वस्ति नेत्र व्यापद् वर्णन एवं चिकित्सा)	चि	36	3—51
वस्ति नेत्र (प्रमाण, निर्माण, वस्तिकर्मादि)	चि	35	3—33
व्रण (अवैद्यकृत व्रण)	सू	22	9, 10
व्रण (अधिष्ठान)	सू	22	3
व्रण (आकृतियाँ)	सू	5	8, 9
व्रण उपद्रव (अरिष्ट लक्षण में भी देखें)	सू	19	21, 22, 36
व्रण (चिकित्सा रोपण)	चि	1	63–73
व्रण (चिकित्सा)	सू	19	3—37
,, ,,	चि	1	8—140
,, ,,	सू	5	35—37
व्रण (दोषानुसार चिकित्सा)	चि	2	86—94
व्रण (दोषों की अन्य चिकित्सा)	चि	1	77—80
व्रण (रोपण बाधक कर्म)	सू	23	21
व्रण (दुष्ट व्रण के लक्षण)	सू	22	7—12
व्रण (दुष्ट व्रण की शोधन चिकित्सा)	चि	3	38—62
व्रण (निरुक्ति)	सू	21	40
व्रण (रक्षा कर्म)	नि	5	33
व्रण (व्याख्या)	चि	1	6
व्रण (वेदना, वर्णन)	सू	22	11, 12
व्रण बन्धन कर्म (बन्ध में भी देखें)	सू	5	39
व्रण (गुण)	चि	1	134
,, ,,	सू	5	9
व्रण (भेदन विधि)	सू	5	11—14
व्रण (शुद्ध व्रण)	सू	23	18—20
,, ,,	सू	3	18, 24
,, ,,	चि	1	7
व्रण (साध्यासाध्यता)	सू	23	18—20
व्रण (सारांश)	चि	1	134

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
व्रण (सद्य व्रण वर्णन)	चि	2	5—22
व्रण सद्यः (शरीर भागानुसार)	चि	2	34—94
व्रण सद्यः (उपद्रव, साध्यासाध्यता)	चि	2	51
व्रण सद्यः (चिकित्सा)	चि	1	130
,, ,, ,,	चि	1	123, 132
व्रणी (आहार व्यवस्था)	सू	19	3—37
व्रणी (उपद्रव)	चि	1	138, 139
व्रणी (वर्जित कर्म)	सू	5	38
,, ,, ,,	सू	19	4—5
वर्ति	सू	18	21, 37, 39
वृंद, एक वृंद (कण्ठ गत रोग)	नि	16	55, 56
वृद्धि रोग (रोग वर्णन)	नि	12	3—6
वृद्धि रोग (चिकित्सा)	चि	19	3—24
वात कण्टक (रोग वर्णन)	नि	1	79
वात कण्टक (चिकित्सा)	चि	5	23
वात रक्त (रोग वर्णन)	नि	1	40—49
वात रक्त (चिकित्सा)	चि	4	3—17
वात व्याधियाँ (चिकित्सा)	चि	4	3—45
वात व्याधियाँ (रोग वर्णन)	नि	1	21—91
वायु कर्म	नि	1	9, 10
वायु गुण	नि	1	5—8
वायु प्रकोप (लक्षण स्थानानुसार)	नि	1	21—30
वायु प्रकोप (चिकित्सा)	चि	4	3—25
वायु (भेद, स्थान, कर्म)	नि	1	12—20
वायु (चिकित्सा)	चि	4	26
वादु (दोष सम्पर्क से लक्षण)	नि	1	31—39
वायु (दोष सम्पर्क चिकित्सा)	चि	5	29—45
वायु गुण (दिशा के अनुसार)	सू	20	23-30
विकेशिका	सू	17	21, 37-39
विदेह	उ	1	5
विदारी (कण्ठ रोग)	नि	16	63
विदारी चिकित्सा (कण्ठ रोग में देखें)	—	—	—
विरेचन, वमन (व्यापद)	चि	34	3—22

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
विरेचन कर्म	चि	33	3, 4, 19—16
,, ,,	चि	36	51
विद्रधि (दोषज, अन्तर विद्रधि, गुल्म से भेद)	नि	9	4-36
,, ,, ,,	चि	16	3
विद्रधी चिकित्सा)	चि	16	4-43
विण्वाची (रोग वर्णन)	नि	1	75
विण्वाची (चिकित्सा)	चि	5	23
विषूचिका (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	56	1-19
विष जंगम (वर्णन एवं दूषीविषचिकित्सा)	क	2	1-55
विष (स्थावर)	क	3	1-34
विसर्ग (रोग वर्णन)	नि	10	3-8
,, ,, ,,	चि	17	3
विसर्प (चिकित्सा)	चि	17	4-16
वैद्य के गुण	सू	34	19, 20
,, ,,	सू	5	10
शकुन के साध्यासाध्यता	सू	29	29-53
शतघ्नी (कण्ठ रोग)	नि	16	53
शतघ्नी (कण्ठ रोग की चिकित्सा में देखें)	—	---	—
शरीर (अंग प्रत्यंग, रचना एवं संख्या)	शा	5	1-46
शल्य तन्त्र (प्रधानता)	सू	1	17, 18
शल्य (उत्पत्ति, भेद, गति)	सू	26	3—23
निःशल्य (लक्षण)	सू	26	16, 17
शल्य निर्हरण (उपाय)	सू	27	4—26
शल्य (उपद्रव)	चि	2	50, 51
शस्त्र (अनु शस्त्रादि)	सू	8	3—19
श्वित्र (किलास)	नि	6	17
,, ,,	चि	9	13—40
श्वास (रोग लक्षण एवं चिकित्सा)	उ	51	1—56
श्वच्छेदन (अंग प्रत्यंग ज्ञानार्थ)	शा	5	47—50
शस्त्र कर्म	सू	5	5, 16
शस्त्र अनु	सू	8	15

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
शस्त्र	सू	8	11–14, 19
श्लीपद (रोग वर्णन, चिकित्सा)	नि	12	10—15
	चि	19	52—69
शिरोरोग (रोग वर्णन)	उ	25	3—18
शिरोरोग (चिकित्सा)	उ	26	3—45
शिष्य (गुण, उपनयन विधि)	सू	2	3—7
शीत दग्ध (चिकित्सा)	सू	12	38
शुक्र (उत्पत्ति)	नि	10	21—22
,, ,,	शा	4	19—23
,, ,,	शा	4	21—23
,, ,,	सू	14	18
शुक्र (रोग एवं वाजीकरण)	चि	26	3—39
शूक दोष (रोग वर्णन)	नि	14	3—18
शूक दोष (चिकित्सा)	चि	21	3—18
शोफ चिकित्सा (व्रण शोफ में भी देखें)	चि	23	4—13
शोष (राज्यक्षमा रोग वर्णन)	उ	41	1—31
शोष (राज्यक्षमा चिकित्सा)	उ	41	32—58
शृंग (वर्णन)	सू	13	4—8
सन्धान कर्म (कर्ण, नासा, ओष्ठ)	सू	16	9—32
सन्धि मोक्ष (भग्न में भी देखें)	नि	15	3—16
सन्धि मोक्ष (हनु)	नि	16	35
संक्रमण	चि	3	69
,,	सू	35	18
संक्रमण (प्रसार एवं रोग)	नि	5	33, 34
संशोधन	सू	1	27
सज्ञान श	सू	17	11—12
सर्वसर रोग (मुख रोग)	नि	16	64—66
सर्वसर रोग (चिकित्सा)	चि	22	67—76
सर्प दंष्ट (सर्प प्रकार एवं दंष्ट के लक्षण)	क	4	1—45
सर्प दंष्ट (चिकित्सा)	क	5	1—32
स्रोत (वर्णन)	शा	9	12—13
स्तन रोग (रोग वर्णन)	नि	10	15—27

विरेचन कर्म
" "
विद्रधि (दे
" "
विद्रधी चि
विश्वाची
विश्वाची
विषूचिका
विष जंग
विष (स्थ
विसर्ग (
"
विसर्प (
वैद्य के
"
शकुन
शतघ्नी
शतघ्नी
शरीर
शल्य
शल्य
निःश
शल्य
शल्य
शस्त्र
शिव
"
श्वा
श्वः
शस
शर

विषय	स्थान	अध्याय	श्लोक
स्तन रोग (चिकित्सा)	चि	17	42—47
स्थूलता	सू	15	32, 35
स्थावर (औषधियां)	सू	1	29
स्नेह (वर्णन, पान विधि, योग्य, निषेध)	चि	31	3—57
स्वपन (साध्यासाध्यता का ज्ञान)	सू	29	55—81
स्वरघ्न (कण्ठ रोग चिकित्सा में देखें)	नि	66	61
स्वर भेद (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	53	1—17
स्वेदन (प्रकार एवं वर्णन)	चि	32	3—30
सद्वृत्त (दैनिक कर्म, निद्रा, ब्रह्मचर्या, मैथुनादि)	उ	64	1—84
स्वस्थ वृत्त (नियम)	चि	24	31—33
स्वस्थ पुरुष (लक्षण)	सू	15	34, 36, 41
स्त्री पुरुष (आर्तव/शुक्र उत्पत्ति)	सू	14	18
सात्म्य	सू	20	9
"	सू	35	39, 40
सार (पुरुषों के सार के लक्षण)	सू	3	16
सिरावेधन (वर्णन एवं वेधन)	शा	8	1—26
सिरा (वर्णन)	शा	7	1—23
सीवन कर्म	सू	25	16—28
सोमपान (जरा नाशक)	चि	29	3—32
हनु मोक्ष (रोग वर्णन)	चि	16	35
हनु मोक्ष (चिकित्सा)	चि	22	41, 42
हृदय रोग (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	43	1—22
हृदय रोग	सू	46	530, 531
हिक्का (रोग वर्णन एवं चिकित्सा)	उ	50	1—30
हितकर, अहितकर (द्रव्य)	सू	20	3-5, 8, 10-30
हितकर, अहितकर (विहार)	सू	20	6, 7
क्षार (वर्णन कर्म)	सू	11	3—31
क्षुद्र रोग (रोग वर्णन)	नि	13	3—61
क्षुद्र रोग (चिकित्सा)	चि	20	3—63
ऋतु (गुण)	सू	6	21—37
ऋतु (वर्णन)	सू	6	6—10

M.T. AYURVED MAHAVIDYALAYA LIBRARY
ACC NO. .. 3706

MODERN BOOKS ARE AVAILABLE WITH US

	Human Anatomy Vol. 1-2-3	—B. D. Chaurasia
	Gray's Anatomy	—Gray's
	Human Anatomy Vol. 1-2-3	—I. B. Singh
	Humam Embryology	,,
	Text Book of Human Neuroanatomy	,,
	Text Book of Human Osteology	,,
	Cunningham's Manual of Practical Anatomy Vol. 1-2-3	
	Sear's Anatomy and Physiology for Nurses	
	Anatomical Atlas of the Human Body	—M.A.H. Siddiqi
	Human Physiology Vol. 1-2	—C. C. Chatterjee
	Human Physiology	—Vidyaratan
	Human Physiology	—Samson Wright
	Human Physiology	—Chaudhary
	Social and Preventive Medicine	—Park
5	Medical Pharmacology	—K. D. Tripathi
6	Pharmacology Vol. 1-2	—Satoskar
7	Medical Jurisprudence	—Modi
8	Hand Book of Medical Jurisprudence	—S C. Basu
9	Medical Jurisprudence	—Parik
0	Forensic Medicine	—Reddy
1	Short Text Book of Microbiology	—Satish Gupta
2	Text Book of Microbiology	—Anantha Narayanan
3	Fundamentals of Biochemistry	—A. C. Deb
4	Text Book of Gynaecology	—Shaw
25	Text Book of Gynaecology	—C. S. Dawn
26	Text Book of Gynaecology	—D. C. Dutta
27	Text Book of Obstetrics	,,
28	Text Book of Obstetrics	—C. S. Dawn
29	Essential Pediatrics	—O. P. Ghai
30	A Short Text of Pediatrics	—Suraj Gupta
31	Medical Fmergencies in Children	—Meharban Singh
32	Hutchison's Clinical Methods	
33	Text Book of Pathology	—Harsh Mohan
34	Notes on Pathology Vol. 1-2	—An Experienced Teacher
35	Basic Pathology	—Robbins
36	Robbins Pathologic Basis of Disease	,,
37	Text Book of Pathology	—N. C. Dey
38	Text Book of Pathology	—Boyd
39	Diseases of the Nose, Throat and Ear	—Hall and Colman

40	Text Book of E. N. T. Diseases	—Mohd. Maqbool
41	Fundamentals of E. N. T. Diseases	—S. K. De
42	Diseases of the E. N. T.	—B. K. Roychaudhuri
43	Diseases of E. N. T.	—P. L. Dhingra
44	Hand Book of E. N. T.	—Basu
45	Text Book of Surgery	—Love & Beilly
46	A Manual on Clinical Surgery	—S. Das
47	A Practical Guide to Operative Surgery	,,
48	Hand Book of Surgery	—S. C. Basu
49	Short Cases in Surgery	—S. K. Bhattacharya
50	Medical Emergencies	—S. P. Gupta
51	Davidson's Practice of Medicine	—Davidson's
52	Text Book of Medicine	—P. C. Das
53	Practical Medicine	—P. J. Mehta
54	Medicine for Students	—A. F. Golwalla
55	E. C. G.	,,
56	Medical Emergencies	,,
57	Practical Prescribers	,,
58	Outline of Orthopaedics	—Adams
59	Outline of Fracture	,,
60	Text Book of Ophthalmology	—H. V. Nema
61	H. B. of Ophthalmology	—B. M. Chatterjee
62	Diseases of the Eye	—Parson
63	Differential Diagnosis	—L. C. Gupta
64	Practical Standard Prescriber	,,
65	A Short Text Book of Psychiatry	—Niraj Ahuja
66	Anaesthesia and Resuscitation for Medical Students	
67	Dermatology Drug Directory	—V. N. Sehgal
68	Manual of Dermatologic Therapeutics	—Kenneth A.
69	Text Book of Dermatoloy	—Behl
70	Manual of Skin Diseases	—V. K. Jain
71	Skin Diseases	—Pasricha
72	Medical Dictionary (English to Hindi)	—Socd.
73	Dorland's Pocket Medical Dictionary	
74	Taber's Medical Dictionary Vol. 1-2	
75	The Pocket Medical Dictionary	—L. M. Harrison
76	C I M S	
77	M I M S	
78	M I M S Companions	
79	Drug Today	
80	I. D. R. (Indian Drug Review)	

All others are also available with us :—

NATH PUSTAK BHANDAR

Railway Road, Rohtak-124001 (Haryana)